MAST-104 (N)

शोध–प्रविधि

खण्ड–1 शोधप्रविधि के प्रमुख आयाम

इकाई–1 शोध अथवा ज्ञानार्जन की योग्यता
इकाई–2 संस्कृत समीक्षाशास्त्र में शोध का स्वरूप
इकाई–3 अनुसन्धान का आधुनिक अभिप्राय
इकाई–4 अनुसन्धान की आवश्यकता
इकाई–5 अनुसन्धान के क्षेत्र
इकाई–6 अनुसन्धान के प्रकार
इकाई–7 शोध प्रविधि की विविध पद्धतियाँ

खण्ड–2 शोधप्रबन्ध–स्वरूप, लेखन एवं उपकरण

इकाई–8 शोधप्रबन्ध एवं शोधपत्र
इकाई–9 शोधविषय
इकाई–10 शोधार्थी एवं शोधनिर्देशक
इकाई–11 शोधविषय का चयन एवं शीर्षक–निर्धारण
इकाई–12 शोधप्रबन्ध का स्वरूप एवं उसकी रूपरेखा

MAST-105 (N)

शोध–प्रविधि एवं पाण्डुलिपि विज्ञान

खण्ड–1 सामग्री –संकलन

इकाई–1 सामग्री–संकलन : मुख्य एवं गौण स्रोत
इकाई–2 शोध–प्रबन्ध के मुख्य घटक–अध्यायों में विभाजन
इकाई–3 पादटिप्पणी एवं उद्धरण
इकाई–4 भूमिका
इकाई–5 निष्कर्ष एवं ग्रंथसूची
इकाई–6 आधुनिक शोधकार्य में संगणक की भूमिका

खण्ड–2 ग्रन्थ सम्पादन–स्वरूप एवं प्रक्रिया

इकाई–7 ग्रन्थ क्या है? सम्पादन का वर्तमान अर्थ।
इकाई–8 पाण्डुलिपियों के स्रोत
इकाई–9 सम्पादन के सहायक अंग–विशिष्ट ग्रंथसम्पादन
इकाई–10 समीक्षात्मक व्याख्या–पद्धति
इकाई–11 मूलग्रंथ अथवा शास्त्र का भाष्य
इकाई–12 ग्रंथ–समीक्षा का स्वरूप
इकाई–13 सम्पादन–प्रक्रिया

1.1 वैचारिकशोध का क्षेत्र – साहित्य वैचारिक शोध का क्षेत्र साहित्य में होता है यह सामाजिक शोध से पूर्णतः पृथक् है योगिराज भर्तृहरि (ई0 पू0 द्वितीय शती) ने नीतिशतक में कहा है–

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः।

साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः ॥

खण्ड–1

शोध प्रविधि के प्रमुख आयाम

इकाई–1

(क) शोध अथवा ज्ञानार्जन की योग्यता

श्रीमद्भगवदगीता के अध्ययन से यह गूढ़ रहस्य स्वयं उद्भासित हो जाता है कि हमारा सम्पूर्ण जीवन बुद्धि, इन्द्रिय (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय तथा पञ्च कर्मेन्द्रिय) तथा हृदय से संचालित, प्रवर्तित एवं सार्थक होता है। बुद्धि से ज्ञान, इन्द्रियों से कर्म तथा हृदय से भक्ति प्राप्त होती है। ज्ञान, कर्म तथा भक्ति से ही हम जीवनसिद्धि से लेकर मोक्षसिद्धि तक के सोपानों पर चढ़ पाते हैं। ये तीनों तत्त्व समान रूप से, प्रत्येक प्राणी के लिए आवश्यक होते हैं। ऐसा नहीं है कि केवल सत्पुरुषों, चरित्रवानों, पण्डितों तथा शलाकापुरुषों को ही ज्ञान, कर्म एवं भक्ति की अपेक्षा होती है। सच तो यह है कि पशुवत् जीवन व्यतीत करने वाला एक दुर्व्यसनी भी अपने लक्ष्य की सिद्धि, अपने व्यसन के ज्ञान, उसके उपाय तथा उसके प्रति निष्ठा से ही, कर पाता है। एक जुआरी को यदि द्यूतविद्या का

गहन ज्ञान नहीं होगा, उसका सतत अभ्यास (कर्म) नहीं होता तथा उसका व्यासंत्र (आसक्ति, लत) न होगा तो वह द्यूत में विजयी नहीं हो पायेगा।

इसलिये जीवन की सफलता का मूलमंत्र है। अपने लक्ष्यभूत विषय का ज्ञान, उसकी प्राप्ति का प्रयास तथा उसमें निष्ठा। आसुरी सम्पद् वालों की ज्ञान, कर्म, भक्ति दैवी सम्पद् वालों से सर्वथा भिन्न होती है, तथापि व्यावहारिक प्रक्रिया दोनों की एक ही होती है।[1]

हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि हम तीनों मार्गों पर एक ही साथ, एक ही कालखण्ड में नहीं चल सकते। राजमार्ग, कर्ममार्ग तथा भक्तिमार्ग परस्पर सहायक तो हैं, परन्तु एक दूसरे से पृथक् भी है। आप एक जीवनावधि में एक ही मार्ग से यात्रा कर सकते हैं। तभी सफलता भी प्राप्त कर सकेगे। ज्ञानी भी हो जायें, व्यापारी भी बन जायें तथा नैष्ठिक गृहत्यागी भक्त भी हो जायें– यह संभव नहीं। गुरु नानकदेव के पिता ने लाख कोशिश की कि उनका पुत्र लाखों का व्यापार सँभाल ले, विवाह कर सदगृहस्थ बने परन्तु ऐसा कहाँ हो पाया?

जहाँ तक ज्ञान एवं उसे अर्जित करने की बात है, वह जीवन का उज्ज्वलतम पक्ष है। ज्ञान का प्रत्येक रूप पवित्र एवं उदात्त होता है।[2]यदि

---

1 तेजः क्षमा धृति शौचमंद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।
दम्भोदर्पोऽभिमानश्च क्रोध पारुष्यमेवच।
अज्ञानंचाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।।
दैवी सम्पद विमोक्षाय निबन्धायासुरीमता।
द्वौ भूतसर्गोलोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।। गीता 16.3.4.5

2 यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसाकुरूते तथा।।
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिहं विद्यते।

मनुष्य, पशु–व्यतिरिक्त जीवन जीता है तो केवल ज्ञान के कारण; वस्तुतः ज्ञान ही उसे समूची सृष्टि में विलक्षण बनाता है। किञ्च, ज्ञान मनुष्य को ही नहीं; प्रत्युत जिसका आश्रय लेता है, उस जीवमात्र को चाहे वह चतुष्पाद पशु, जलचर, खेचर, कृमि, वनस्पति कोई भी हो, उसे आलोकित (ज्ञानाभा–सम्पन्न) बना देता है।[1] ऐसे जातिस्मर, संस्कारसम्पन्न पशुओं–पक्षियों के दृष्टान्तों से हमारा प्राचीन–वाङ्मय भरा पड़ा है। महाराणा प्रताप का अश्व चेतक सामान्य नहीं था, अमरसिंह राठौर का अश्व स्वामी को बचाने के लिये लाल किले की प्राचीर से कूद गया था, वीर चम्पतराय का अश्व रणभूमि में घायल स्वामी की मक्खियाँ पूँछ के चँवर से दूर कर रहा था। ये इतिहास प्रसिद्ध उदाहरण हैं ज्ञानी पशुओं के।

महाकवि कालिदास ने तो समूची जड़ प्रकृति को ही चेतनमयी प्रदर्शित किया है। उनका बकुल (मौलसिरी) वृक्ष भी ज्ञानसम्पन्न चेतन प्राणी सा आचरण करता है। वृक्षों पर चढ़ी लतों अपने प्रिय से आलिङ्गित प्रियतमाओं सी दीखती हैं तथा दीर्घापांग नामक मृगशावक भी एक कुटुम्बी शिशु जैसा व्यवहार करता है। संस्कृत कवियों की दृष्टि में जड़ एवं चेतन एक ही सत्य के दो पक्ष थे, एक ही वस्तु के दो स्वरूप थे। आदिकवि वाल्मीकि एवं कालिदास ने उसका अद्व पल्लवन किया है।[2]

तत्वस्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।। गीता. 4.37

1 आहारनिद्राभयमैथुनानि समानमेतत्पशुमिर्नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिस्समानाः।। यहाँ धर्म का आशय मूलतः विवेक अथवा धर्म से ही है।

2 **दृष्टव्य** :–
(क) एष वातेरित पल्लवाङ्गुलीभिर्मां त्वरयति इव केसर–वृक्षकः। यावत्संभावयाम्येनम्। शाकु अंक–1
(ख) संकल्पितं प्रथममेव ममा तवार्थे भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गतात्वम्।

अनधिगत ज्ञान ही शोध का मूल कारण

वस्तुतः ज्ञान ही मनुष्य को पूर्ण बनाता है। इसीलिये उसे 'परमात्मा' माना गया है– सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म जो कुछ भी सत्तावान् है, अस्तित्त्व में है वह ब्रह्म है। जो भी ज्ञान का विषय है– वह ब्रह्म है जो भी असीम है, अनन्त है, व्यापक है, दृश्य–अदृश्य–दृश्यादृश्य है, वही ब्रह्म है, ईश्वर है। भारतीय चिन्तन के समक्ष सम्पूर्ण विश्व का चिन्तन अपूर्ण एवं बौना प्रतीत होता है।

अथर्ववेद में ज्ञान की प्रशस्ति पढ़ते हुए ऋषि कहता है– इन्द्र ही ऐश्वर्य का प्रतीक है (इन्द् धातु ऐश्वर्ये + 'र' प्रत्ययः)। उसके बिना कोई भी जीव या अजीव ऐश्वर्यसम्पन्न नहीं हो सकता। अतएव ऋषि प्रार्थना करता है कि जिसके कारण सिंह 'सिंह' होता है, व्याघ्र 'व्याघ्र' होता है, हस्ती 'हस्ती' और द्वीपी 'द्वीपी' होता है वह इन्द्रता (ऐश्वर्य) मुझमें आये–

सिंहे व्याघ्र उत वा पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या।

इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न एतु, वर्चसा संविदाना॥

या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु वा पुरुषेषु।

इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न एतु वर्चसा संविदाना॥

–अथर्व., काण्ड–6 सूक्त 38

चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयमस्यामहं त्वयि तु सम्प्रति वीतचिन्तः।।

(ग) यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचि विद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरि वर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकवक पदवीं मृगस्ते।।– शाकुं., अंक–4

वर्चस् तथा ज्ञान एकार्थक हैं। बिना ज्ञान के व्यक्ति वर्चस्वी नहीं हो सकता। आज का युग, आज का विद्यार्थी, आज का ज्ञानार्जन यद्यपि सब कुछ परिवर्तित हो चला है। तथापि थोड़ी और गहरी समीक्षा अपेक्षित है।

वैचारिक शोध का क्षेत्र– साहित्य

वैचारिक शोध का क्षेत्र साहित्य होता है। यह सामाजिक शोध से पूर्णतः पृथक है।योगिराज भतृहरि (ई.पू. द्वितीय शती) ने नीतिशतक में कहा है– **'साहित्य संगीत कला बिहीनः। साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः॥** अर्थात्– साहित्य, संगीत एवं कला से विहीन मानव साक्षात् पशु समान है। और वह पशु भी कैसा? पुच्छ एवं विषाण (सींग) से हीन। यहाँ कविश्रेष्ठ ने साहित्य, संगीत एवं कला की बात कही है। यह कथन अत्यन्त साभिप्राय है। कला का सम्बन्ध मुख्यतः दर्शनेन्द्रिय (नेत्र) से है। कला देखी जाती है तथा दर्शन के माध्यम से ही वह अन्तश्चेतना को प्रभावित एवं समरस करती है। इसी प्रकार संगीत भी मुख्यतः श्रवणेन्द्रिय का विषय है। संगीत की लय–लहरी कर्ण–कुहरों को तृप्त करती हुई ही अन्तश्चेतना तक पहुँचती है। परन्तु साहित्य सीधे मन को प्रभावित करता है जो समस्त इन्द्रियों का सम्प्रेरक है।

कोई भी भाव, क्रिया अथवा प्रत्यय सर्वप्रथम बुद्धिस्थ होता है, बुद्धि में आता है। बुद्धि उसे मन को सम्प्रेषित करती है। मन उसे उन–उन इन्द्रियों के पास भेजता है जिनसे उनका सम्बन्ध है। अन्ततः ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियों को सम्प्रेषित कर उस भाव को कार्य–रूप में परिणत कर देती है।

मन को एकादशेन्द्रिय अथवा मध्यस्थेन्द्रिय भी कहा जाता है। यह पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच ज्ञोन्द्रियों से श्रेष्ठ तथा उनके ऊपर है। इसे 'मध्यस्थ' इसीलिये कहा जाता है कि यह **देहलीदीपकन्यायेन** एक ओर अपने से सूक्ष्म बुद्धि तथा अहंकार को तथा दूसरी ओर अपने से स्थूल ज्ञान एवं कर्मेन्द्रियो को परस्पर जोड़ता है। जैसे– देहरी पर रखा दीप घर के भीतर भी तथा बाहर भी प्रकाश बिखेरता है वैसे ही मन का गुण या स्वभाव है संकल्प–विकल्प से युक्त होना। यदि मन निष्क्रिय है तो बुद्धि में आया भाव भी इन्द्रिय तक नहीं पहुंच पायेगा। इस स्थिति को 'मन का खो जाना' या शून्यमनस्कता (Absentmindedness) कहते हैं।

साहित्य का सम्बन्ध उसी मन से होता है। मन के फलक पर जब साहित्य प्रतिबिम्बित होता है तो हमारी सम्पूर्ण चेतना ही तन्मय हो उठती है। आखिर यह साहित्य है क्या? इसमें कौन ऐसी विशेषता है कि यह चेतना को बलात् व्याप्त कर लेता है?

साहित्य का अर्थ है– शब्द एवं अर्थ का सहभाव। अर्थात्– **शब्दार्थयोः सहितयोः भावः साहित्यम्** (सहित + ष्यञ् प्रत्यय) शब्द तथा अर्थ वाक् तत्त्व के दो रूप हैं। जैसे परब्रह्म परमेश्वर से ही पाञ्चभौतिकी सृष्टि होती है– अण्डज, पिण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज के रूप में, उसी प्रकार शब्दब्रह्म से भी वाङ्मयी सृष्टि होती है। भौतिकी तथा वाङ्मयी सृष्टि में भी वाङ्मयी सृष्टि श्रेष्ठ है। क्योंकि यह अजर–अमर है। आकल्पान्तस्थायिनी है। रामायण की घटना चौबीसवें त्रेता तथा द्वापर युग की सन्धि में घटित हुई थी। तभी राम थे, तभी रावण भी था। आज कोई नहीं है। सब नामशेष हो गए।

परन्तु रामकथा की वाङ्मयी सृष्टि आज भी यथावत् विद्यमान है। हम उसके श्रव्य तथा दृश्य – दोनों ही रूपों का प्रत्यक्ष आनन्द प्राप्त करते हैं। जैसे पाञ्चभौतिकी सृष्टि का कर्त्ता भगवान् ब्रह्मा है, उसी प्रकार वाङ्मयी सृष्टि का कर्त्ता स्वयम्भू कवि है। परन्तु कवि प्रजापति से भी श्रेष्ठ है, अपनी निरंकुशता तथा सर्वतन्त्र–स्वतंत्रता के कारण। भौतिक सृष्टि का स्रष्टा ब्रह्मा स्वतंत्र नहीं है। वह प्रत्येक प्राणी का निर्माण उसके कर्मविपाक, उसके अदृष्टभोग के ही अनुसार करने को बाध्य है। परन्तु वाङ्मयी सृष्टि का कर्त्ता कवि सर्वतंत्र–स्वतंत्र है। वह अपनी रुचि से ही कथापात्रों की सृष्टि करता है। वह कर्तुम्, अकर्तुम् तथा अन्यथाकर्तुम्– तीनों में समर्थ है। आचार्य मम्मट इसी दृष्टि से कविभारती की प्रशस्ति गाते हैं–

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति

साहित्य की उपयोगिता

लंकापतेः सङ्कुचितं यशो यद्

यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।

स सर्व एवाऽदिकवेः प्रभावो,

न वञ्चनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः।।

स्वयं योगिराज भगवान् भर्तृहरि ने कहा–

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।।

साहित्य का स्रष्टा ही साहित्यकार कहा जाता है। वस्तुतः उसकी मूल संज्ञा है कवि! कवृ वर्णने धातु से इ प्रत्यय लगाकर कवि शब्द बनता है। सामान्यतः वर्णयिता अथवा वर्णनकार (Narrattor) को ही कवि कहा जाता है। परन्तु वह वर्णन सामान्य वर्णनों से सर्वथा विलक्षण होता है। वह वर्णन भङ्गीभणिति से ओतप्रोत, चमत्कारातिशय से मण्डित तथा लोकोत्तरकोटिक होता है। कवि के वर्णन में ये सारे वैशिष्ट्य आते हैं मुख्यतः प्रतिभा से जिसे प्रज्ञा अथवा शक्ति भी कहा गया है। यही प्रज्ञा अथवा प्रतिभा कवित्व का बीज है। आचार्य जगन्नाथ इसी को अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा शक्ति मानते हैं। प्रतिभा के बल पर ही कवि भूत, भविष्य तथा वर्तमान को हस्तामलकवत् देख लेता है। वह प्राचीन पात्रों के मन की बात को भी जान लेता है इसी प्रज्ञा के कारण!

शब्द के बिना अर्थ तथा अर्थ के बिना शब्द की कल्पना तक नहीं की जा सकती। गोकि लोक में ढेर सारे निरर्थक शब्द भी होते हैं। परन्तु भाषा में उनका उपयोग नहीं होता। भाषा के अंग तो केवल सार्थक शब्द ही होते हैं। सामान्यतः प्रत्येक शब्द किसी निश्चित अर्थ को ही प्रकट करने में समर्थ होता है। शब्द एवं अर्थ का यह निश्चित सम्बन्ध व्याकरण, कोष एवं वृद्धव्यवहारादि से निश्चित किया गया है। परन्तु अनेक विद्वान् इस सम्बन्ध को ईश्वरेच्छा–रूप भी मानते हैं। ईश्वर ने ही यह व्यवस्था कर दी कि अमुक शब्द से अमुक अर्थ का (ही) बोध हो **(अनेन शब्देन अयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपः)**

वस्तुतः किसी निश्चित शब्द से निश्चित ही अर्थ का प्रकटन संकेत कहा जाता है। उसे संकेतितार्थ भी कहते हैं।

शब्द अपनी जिस शक्ति से इस कोशसम्मत, पारम्परिक, **संकेतित** अर्थ को प्रकट करता है उसी को **अभिधा–शक्ति** कहा गया है। परन्तु कभी–कभी वही शब्द विलक्षण अभिप्रायों को भी प्रकट करता है लक्षणा तथा व्यञ्जना शक्तियों के सहारे। लाक्षणिक अर्थ तो मुख्य अर्थ (संकेतार्थ से यथाकथंचित् सम्बद्ध भी होता है परन्तु व्यञ्जनाशक्ति की सामर्थ्य से प्राप्त व्यङग्यार्थ का तो वाच्यार्थ (कोशसम्मत अर्थ) से दूर–दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह व्यङग्यार्थ तो कविता में प्रतिपादित शब्दों तथा उनके अर्थों से भी सर्वथा परे होता है। इसी को **प्रतीयमानार्थ** भी कहते हैं। क्योंकि इस अर्थ का शब्दशः प्रतिपादन या कथन नहीं होता। इस अर्थ की प्रतीतिमात्र होती है। यही अर्थ **सहृदयश्लाघ्य** भी होता है क्योंकि इसकी सम्प्रेषणीयता आकाश विस्तृत एवं सागर– गम्भीर होती है। इसकी समझ अथवा अवगति वक्ता, बोधव्य, देश, काल आदि के वैशिष्ट्य पर निर्भर होती है। महाकवि भल्लट का एक पद्य देखें–

चन्दने विषधरान् सहामहे वस्तु सुन्दरमगुप्तिमत्कुतः?

रक्षितुं वद किमात्मगौरवं सञ्चिताः खदिर! कण्टकास्त्वया।।

हे चन्दनवृक्ष! तुम्हारी देह में तो विषधरों (नागों) का लिपटे रहना उचित प्रतीत होता है। क्योंकि जो वस्तु विधाता ने सुन्दर बनाई है, वह **अगुप्तिमत् रक्षोपाय** के बिना कैसे सुरक्षित रह सकती है? परन्तु हे खदिर! मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुमने अपनी सारी देह में जो लम्बे काँटे उगा रखे हैं, वह किसलिये! कौन आत्मगौरव (वैयक्तिक गुण) है तुम्हारा, जिसकी रक्षा के लिये ये काँटे

संचित कर रखे हैं?

इस पद्य में पाठक को प्रत्येक शब्द तथा उसके कोशसम्मत (संकेतित) अर्थ का बोध है। तथापि कविता का स्वारस्य उसके वाच्यार्थ से समझ में नहीं आता। खदिर सरीखे अचेतन वृक्ष को यह उलाहना देना **उन्मत्तप्रलाप** मात्र है। बार–बार पढ़ने पर भी इस वाच्यार्थ से पाठक की **चित्तविश्रान्ति** नहीं हो पाती। ऐसा भी नहीं लगता कि यही बेतुका अर्थ बताने के लिये महाकवि भल्लट ने यह पद्य लिखा होगा। प्रत्येक पद्य में कविसंरम्भगोचरता भी तो होनी चाहिए। कवि कुछ विशेष बताने के ही लिये इस प्रकार का काव्य लिखता है।

कविता के जिस अर्थ में कवि के प्रयत्न की सार्थकता दिखे तथा पाठक की चित्तविश्रान्ति भी हो, वस्तुतः वही उसका वास्तविक अर्थ होता है पूर्णता के कारण, जिसे हम काव्यार्थ कहते हैं। यह काव्यार्थ वाच्यार्थ भी हो सकता है, लक्ष्यार्थ भी तथा व्यङ्ग्यार्थ भी। उपर्युक्त कविता में वाच्यार्थ **काव्यार्थ** नहीं है। यहाँ काव्यार्थ है **व्यङ्ग्यार्थ**।

वस्तुतः खदिर शब्द यहाँ किसी ऐसे गुणहीन तथा अहंकारी व्यक्ति का प्रतीक है जो चन्दन–सरीखे महापुरुष की नकल तो कर रहा है अपने ढोंग, पाखण्ड से, परन्तु परमार्थतः वैसा है नहीं।

इस विलक्षण अर्थ का प्रकाशन व्यञ्जना शक्ति से ही सम्भव हो पाता है। इस प्रकार का उत्कृष्ट काव्य ही ध्वनि–काव्य कहा जाता है जिसे आचार्य आनन्दवर्धन परिभाषित करते हैं–

यत्राऽर्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो।

व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

परन्तु साहित्य में केवल पद्य ही नहीं है। साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। **भाषा** की दृष्टि से वह संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में विभक्त है। **लेखनशैली** के आधार पर वह पद्य, गद्य तथा मिश्र (चम्पू) कोटियों में विभक्त है। पद्य भी मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, कलापक, कुलक तथा प्रबन्ध में विभक्त है। प्रबन्धकाव्य भी खण्डकाव्य तथा महाकाव्य में विभक्त है। गद्य–पद्य के मिश्रण से चम्पूकाव्य बनता है।

पद्य की ही तरह गद्य भी कथा एवं आख्यायिका में विभक्त है। रसानन्दग्रहण की दृष्टि से साहित्य श्रव्य एवं दृश्य कोटियों में विभक्त है। श्रव्य में तो मुख्यतः खण्डकाव्य, महाकाव्य आते हैं। दृश्यकाव्य रंगमञ्च पर अभिनेय होते हैं। इन्हें नाट्य, रूप तथा रूपक भी कहा जाता है। यह साहित्य भी दश रूपकों तथा अठारह उपरूपकों में विभक्त है। दशरूपकों में नाटकादि दश भेद आते हैं।

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।

ईहामृगाङ्कवीथ्यौ प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥

साहित्य के इस मे विवरण से ही उसके वैपुल्य का बोध हो जाता है। संगीत एवं कला से हमारा सम्पर्क न भी हो तो कदाचित् जीवनयापन में कोई बाधा नहीं। यदि साहित्य हमारे जीवन में समरस नहीं होता तो सचमुच हम 'मनुष्य' का जीवन नहीं जी सकते। क्योंकि साहित्य ही हमें सहदय बनाता है तभी हम दूसरों के सुःख–दुःख में समरस हो पाते हैं और वह समरसता ही

मनुष्य होने का प्रमाण है।

साहित्य से यह सहृदयता कैसे प्राप्त होती है। इसे आचार्य अभिनवगुप्त बताते हैं कि रामायण–महाभारत तथा अन्यान्य ग्रन्थों के कथानकों को पढ़कर, उन पात्रों के सुख–दुःख से अवगत होकर हमारा व्यक्तिगत अवसाद समाप्त हो जाता है। हमारे वैयक्तिक (अमर्यादित) सुख–दुःख का विरेचन हो जाता है तथा हम सर्वथा योग (समत्वं योग उच्यते) की स्थिति में आ जाते हैं। यही मानवता है। सहदय ही सच्चे अर्थों में मनुष्य है। अभिनव के शब्दो में –

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी भवनयोग्यता ते स्वहृदय– संवादभाजः सहृदयाः। लोचनम्।

खण्ड–1

इकाई–1 (ग)

आचार्य मम्मट भी साहित्य की भूमिका स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि राम, नल, युधिष्ठिरादि के चरितों के माध्यम से साहित्य ही हमें सद्व्यवहार की शिक्षा देता है **(काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे)** साहित्य अथवा काव्य का उद्देश्य ही है–

रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्।

शोध के समानधर्माशब्द : अनुसन्धान, गवेषणा, आलोचना, समीक्षा

अध्ययन के क्षेत्र में यह वाक्य महत्त्वपूर्ण है– आदौ शोधः पुनर्बोधः प्रबोधश्चाऽप्यनन्तरम् ।

अर्थात् सर्वप्रथम जागृत होती है– शोध। शोध अर्थात् कुछ जानने की आकांक्षा, जिज्ञासा। जब तक जिज्ञासा प्रवृत्त नहीं होगी, आप ज्ञान की ओर उन्मुख नहीं हो सकते। ज्ञान की भी एक भूख होती है। अंग्रेजी में ऐसे अध्येता के लिये एक विशिष्ट शब्द प्रचलित है– **भुक्खड** पाठक (Voracious Reader)। वह पाठक जो निरन्तर कुछ–न–**कुछ पढ़ने में लगा रहा।** भारतीय परम्परा में 'वोरेसियस रीडर' को ही आदरपूर्वक स्मरण किया गया है– '**यावज्जीय मधीते विप्रः**' के रूप में। सच्चे अर्थों में विप्र वही है जो जीवन की अन्तिम साँस तक कुछ–न–कुछ पढ़ता रहे।

शोध की इच्छा जागृत होगी तो आप ज्ञान प्राप्त करेंगे। पढ़ते ही पढ़ते

ज्ञान का अभिप्राय आत्मसात् नहीं हो जाता। जैसे पशु प्रारंभिक चरण में चरते जाते हैं बिना चबाये। उस समय उनका बस एकमात्र स्वार्थ होता है उदरम्भरि अर्थात् भर पेट चर लेना। पेट खाली न रह जाय। बाद में जो त्वचा में ग्रहण किये गये उस ऊबड़–खाबड़, अचर्वित शष्य को रोमन्थ–प्रक्रिया द्वारा अर्थात् जुगाली करके अच्छी तरह उसे पचनीय बनाते हैं। बन्दर भी शीघ्रता में भक्ष्य सामग्री गलफड़ों में भर लेता है जो थैली के रूप में उसके कण्ठ से सन्नद्ध होते हैं दायें–बायें। बाद में वह आराम से उसे उगल कर, स्वाद लेते हुए, चबा कर खाता है।

इसी प्रकार गुरुमुख से गृहीत ज्ञान को जब विद्यार्थी फुर्सत के क्षणों में, स्वाध्याय के माध्यम से दुहराता है तब उसे 'प्रबोध' अथवा अनुभव, आत्मानुभूति (Experience) होती है। इस प्रकार ज्ञान की तीन सीढ़ियाँ हैं– शोध (जिज्ञासा), बोध (ज्ञान) और प्रबोध (ज्ञान की सांस्कृतिक अनुभूति)।

संस्कृत में शोध के ही अर्थ में गवेषणा तथा अनुसन्धान शब्द भी प्रयुक्त होता है। वस्तुतः ये दोनों शब्द पारिस्थितिक अथवा दृश्यात्मक हैं और ये वाच्यार्थ (viteral Meaning) से नहीं प्रत्युत लक्ष्यार्थ के माध्यम से शोध का अर्थ प्रदान करते थे।

प्राचीन काल में गुरुकुलों के कुलपति अपने सुयोग्य शिशु को दस–बीस गायें देकर वन की ओर प्रेषित कर देते थे, इस निर्देश से साथ कि जब इनकी संख्या 500 अथवा 1000 हो जाय तब गुरुकुल लौटना। यह गोसेवा ही उनके ज्ञानार्जन का माध्यम बन जाती थी। वे यत्नपूर्वक गायों की सेवा करते

थे तथा उनकी संख्या वृद्धि में लगे रहते थे। प्रतिसायं गायों की गिनती होती थी। यदि एक भी गाय कम हुई तो वे उद्भ्रान्त हो उठते थे तथा उसकी खोज में लग जाते। कन्दराएँ, कच्छ प्रदेश, दुष्प्रवेश्य वनाञ्चल, श्वभ्र तथा पर्वत शिखर! सर्वत्र ढूँढ़ा जाता गाय को पदचिह्नों के सहारे।

गाय की यह दूषणा ही गवेषणा कही जाती है। शोध की प्रक्रिया में भी गवेषणा जैसी ही प्रक्रिया होती है।

दूसरा शब्द है– अनुसन्धान अर्थात् सन्धानित किये गये (चलाए गए) तीर को पुनः प्राप्त करना। तीर की दिशा यद्यपि ज्ञात होती थी तथापि कभी–कभी वह लक्ष्यभ्रष्ट होकर कहीं–से–कहीं और चला जाता था। तब उसे पाने में बड़ी कठिनाई होती थी। ऐसी ही परिस्थिति शोध में भी होती थी। वह भी अनुसन्धान बन जाता है।

आलोचना : आलोच्य एवं आलोच्य बिन्दु में गहन सम्बन्ध है। समीक्षा एवं आलोचना प्रायः एकार्थक हैं। शोध से इनका भी आलोचना एवं आलोच्य मिथस्सम्बद्ध है। दोनों में आधाराधेयभाव है। आलोचना आधार है तो आलोच्य आधेय है। इस नियत सम्बन्ध के ही कारण आलोचना एवं आलोच्य के बीच किसी विवाद की गुंजाइश नहीं दीखती। क्योंकि बिना आलोच्य के आलोचना संभव ही नहीं। यदि आलोच्य वस्तु, व्यक्ति अथवा अन्य कोई प्रमेय नहीं तो फिर आलोचना किसकी कैसी और क्यों?

वस्तुतः विवाद की शुरूआत होती है आलोच्यबिन्दु से। साहित्यिक क्षेत्र में आलोच्यबिन्दु एक होता हुआ भी, दृष्टिभेद से दो प्रतीत होता है। एक

आलोच्यबिन्दु होता है रचनाकार और दूसरा उसकी रचना। रचना और रचनाकार के बीच जीवित–अजीवित, चेतन–अचेतन अथवा प्रत्यक्ष–परोक्ष जैसा भेद होने के ही कारण, आलोच्यबिन्दु तक आते ही आते, आलोचना में विपुल विसंवादी अन्तर दीखने लगते हैं। हम लाख कोशिश करें कि रचना और रचनाकार को हम एक ही चश्मे से देखेंगे। परन्तु व्यवहार में ऐसा हो नहीं पाता। कलम से कलम का विरोध किया जा सकता है, लेखन से लेखन का श्राद्ध–तर्पण तो सम्भव है। वह सब खप जाता है वैचारिक मतभेद अथवा सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता के नाम पर। परन्तु व्यक्ति से व्यक्ति का विरोध उस स्तर पर संभव नहीं हो पाता। आखिर क्यों? सामाजिक अनुशासन, मानवीय सम्प्रदाचार तथा नैसर्गिक विनयशीलता के कारण।

यही कारण है कि 'आलोचना' के नाम पर, प्राचीन भारत में भी कभी मर्यादाहीन आचरण नहीं पनपा। कटु से कटु आलोचना लिखने वाले भी समालोचक विद्वान् का आर्जव, श्रद्धातिरेक, परिहासयेशल व्यंग्य तथा विरोधी की प्रतिभा के प्रति समादर–भाव देखते ही बनता है। बौद्ध तथा जैन दार्शनिक स्पष्टतः निरीश्वरवादी रहे हैं जब कि आस्तिक–धारा के अधिकांश दर्शनसम्प्रदाय ईश्वरवादी हैं। फलतः ईश्वर–बिन्दु पर ही, दोनों धाराओं के बीच किसी भी स्तर का वाचिक–युद्ध होना सम्भव है। परन्तु ऐसा कभी हुआ नहीं। प्रतियोगी दार्शनिकों, आचार्यों का चूड़ान्त विरोध होते हुए भी, एक दूसरे के प्रति समान भाव देखते ही बनता है। महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त अपनी समालोचना–दृष्टि का मानदण्ड स्वयं प्रकाशित करते हैं–

तस्मात्सतामत्र न दूषितानि

मतानि, तान्येव तुशोधितानि।

पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु

मूल प्रतिष्ठाफलमामनन्ति।।

अर्थात् हमने इसीलिये (पूर्वाग्रह–ग्रस्तभाव से) श्रेष्ठ विद्वज्जनों के मतों को दूषित नहीं किया है (अर्थात् जानबूझ कर, स्वार्थसिद्धि मात्र के लिये विरोधियों के मतों का खण्डन नहीं किया है।) बल्कि उन्हीं मतों को पुरस्कृत (स्वीकृत) कर लिया है अपेक्षित के साथ। अकारण किसी स्थापित विद्वान् के मत को दूषित करना न्याय नहीं है।

दुर्भाग्यवश, प्राचीन संस्कृत समालोचकों की वह परमत–सहिष्णुता उत्तरोत्तर लुप्त होती चली गई। आलोचना, समीक्षा कटु से कटुतर होती गई तथा एक बिन्दु पर पहुँच कर वह गाली–गलौज तथा भदेस का पर्याय मात्र बन गई। मेरी व्यक्तिगत लाइब्रेरी में उन्नीसवीं शती ई. के अन्तिमचरण में लिखी एक पुस्तक है जो किसी सनातनी लेखक द्वारा आर्यसमाजियों के विरोध में लिखी गई है। उसमें तर्क, प्रमाण, स्थापनायें तो शुद्धरूप से शास्त्रपुष्ट हैं, परन्तु प्रतिपादन की शैली एवं शब्दावली इतनी भयावह है कि शिष्ट–समाज में उसकी वाचना तक संभव नहीं। ऐसा नहीं है कि आर्यसमाज में इस पुस्तिका की कोई काट न हो।

वाचिक–संग्राम पहले भी होते रहे हैं। परन्तु वे संग्राम यदि सिद्धान्त या प्रस्थान तक ही सीमित रहे हैं तो उनके प्रश्नोत्तर–प्रत्युत्तर में हम मर्यादा को अप्रतिहत पाते हैं। परन्तु यदि कोई समालोचक, विरोधी आचार्य की किसी

दुखती रग पर हाथ रख देता था तब फिर मर्यादा के निर्वाह का प्रश्न ही नहीं रह जाता था। महाकवि भवभूति को मात्र इस बात की पीड़ा थी कि लघुगीत विद्वत् समाज ने उनके (भारी–भरकम, उद्वेजक, नीरस संवादात्मक) नाटकों का समुचित आदर नहीं किया। इस पीड़ा को उन्होंने यह मर्यादित–टिप्पणी व्यक्त करके प्रकट किया– जो (मुट्ठी भर असहृदय) लोग मेरे प्रति असम्मान प्रकट कर रहे हैं, वे जानते भी हैं कुछ? अर्थात् वे अज्ञ (कोरे मूर्ख हैं)। मैंने ऐसे लोगों की परितुष्टि के लिये अपने नाटकों (मालतीमाधवम्, महावीरचरितम् तथा उत्तररामचरितम्) की सर्जना नहीं की है। अरे, पैदा होगा कोई मेरा समानधर्म (मेरे ही समान प्रतिभावाला सहृदय पाठक, जो इन कृतियों को समझेगा, सराहेगा) क्योंकि यह कालप्रवाह तो निरवधि है और धरित्री भी विशाल है।[1]

भवभूति की पाठक–समीक्षा मर्यादित है। परन्तु इसकी तुलना में शहंशाह शाहजहाँ के राजकवि पण्डितराज जगन्नाथ के समीक्षा–स्वर में तल्खी है। उसका कारण है विरोधियों द्वारा उनकी प्रतिभा के अवमूल्यन के मुधाप्रयास में कुछ अवान्तर सन्दर्भों को भी जोड़ लेना जो पण्डितराज की दुखती रग के समान थे। उनमें से एक था – मुगल दरबार की किसी सुन्दरी तुर्क कन्या से उनका विवाह कर लेना।

पण्डितराज जगन्नाथ का पाण्डित्य अकुण्ठ था। उनका कवित्व भी विलक्षणपदबन्ध – समन्वित था। वह सौशब्द्य एवं औदार्य के शिखर पर थे। विरोधियों में इतनी जुर्रत कहाँ कि वे पण्डितराज से प्रत्यक्ष लोहा ले सके।

---

[1] ये केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि, तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते हि मम कोपि समानधर्मा कालाह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।।

फलतः वे बदमाश बैल की तरह 'गरौधी के बल से खूँटा उखाड़ने' का यत्न करते थे। ऐसे समसामयिक ईर्ष्यालु पण्डितों को आचार्य जगन्नाथ ने ऐसी खरी–खोटी सुनाई है कि पढ़ते ही बनता है। वैरियों के नेता थे दाक्षिणात्य आचार्य अप्पय दीक्षित जो पण्डितराज को '**यवनीसंसर्गदूषितः**' कह कर मखौल उड़ाते थे। पण्डितराज ने भी अप्पय दीक्षित का खूँटा उखाड़ रखा था। अप्पय दीक्षित ने '**चित्रमीमांसा**' नामक ग्रंथ लिखा तो जगन्नाथ ने उसका तर्पण '**चित्रमीमांसाखण्डम्**' लिखकर कर डाला। अप्पय ने आचार्य भट्टोजि दीक्षित– प्रणीत '**सिद्धान्त कौमुदी**' की '**मनोरमा टीका**' लिखी तो पण्डितराज ने उसकी भी प्रतिटीका '**मनोरमा कुचमर्दनम्**' लिख डाली। सहृदय पाठकों को संभवतः प्रतिटीका के अनुशीलन से भी उतना आनन्द न मिला होगा जितना कि प्रतिटीका के शीर्षकमात्र से (मनोरमाकुचमर्दन)।

पण्डितराज ने अपनी कविता को पढ़कर सिर हिलाते लोगों को साक्षात् पशु अथवा पशुपति (शिव) कहा। इस कथन में भी अत्यन्त गूढ़ व्यङ्ग्य था जो सहृदय पाठक कविता का मर्म हृदयंगम कर, प्रशस्तिभाव से सिर हिला रहे हों वे तो साक्षात् विद्या निधि शिव हैं, पशुपति हैं। परन्तु जो लोग बिना काव्य–अर्थ समझे अथवा समझकर भी, मात्र उपेक्षाभाव से सिर हिला रहे हों वे कोरे पशु ही हैं।[1] पण्डितराज यह भी कहते हैं बड़े स्वाभिमानजन्म दर्प के साथ कि एक पण्डितराज के कविता करते, ढेर सारे कवि यूँ ही (नाममात्र की) कविता करने लगे हैं, जैसे पिनाकपाणि शिव को ताण्डवनृत्य करता देख सारे भूत–प्रेत

---

[1] गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम् ।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पण्डितपतेरधुन्वन् मूर्धानं नृपशुरथवाऽयं पशुपतिः।।

(शिवगण) भी नाचने लगते हैं।[1] पण्डितराज को इस बात का हार्दिक क्लेश है कि विद्वज्जन ईर्ष्या–द्वेष के विष से सम्मूर्छित हो चले हैं। तो फिर सत्कविता किन कवियों के मुख में निवास करेगी। (जब उसकी समुचित समीक्षा ही नहीं होगी)[2]।

प्राचीन साहित्यिक–समीक्षाओं में वाचिक–प्रहार तो नाममात्र का होता था। परन्तु चतुर उत्तरदाता द्वारा प्रयुक्त शब्दों का मर्म इतना हृदयन्तुद होता था कि लक्ष्यभूत व्यक्ति तिलमिला कर रह जाता था।

जब अभिधावादी आचार्यों ने तर्क दिया कि हम अभिधा शक्ति के ही दूर–दूर तर व्यापार से व्यंग्यार्थ का भी ज्ञान कर लेंगे। जरूरत क्या है **व्यञ्जना** नामक किसी नई शब्दशक्ति को स्वीकार करने की?

तो व्यञ्जनावादी आचार्यप्रवर अभिनवगुप्त ने उनकी मीठी चुटकी लेते हुए कहा– यह तो आपका वैसा ही दुर्हठ है जैसे कोई सैनिक लोहार से हठ करे कि मेरे लिये एक ऐसा लोहे का खड्ग बनाओ जो आतानवितानात्मा (कपड़े की तरह लम्बा–चौड़ा) हो तथा उपयोग के बाद जिसे मोड़ कर जेब में रखा जा सके।

उस सैनिक का यह मूर्खताभरा प्रस्ताव सुन कर लोहार हँसेगा और कहेगा – महोदय यह तो वस्त्र का लक्षण है, खड्ग का नहीं। खड्ग तो ठोस

---

1 कवयति पण्डितराजे कवयन्त्यन्येऽपि विद्वांसः।
नृत्यति पिनाकपाणौ नृत्यन्त्यन्येऽपि भूतवेतालाः।।

2 विद्वांसो वसुधातले परवचः श्लाघासु वाचंयमाः।
भूपालाः कमलविलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णिताः।।
आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालस/स्वर्शमाधरमाधु रीमधस्यन् वाचां विलासो मम।।

लोहे से बनेगा। फिर उसे कपड़े की तरह मोड़ा कैसे जा सकता है? फिर भी सैनिक अपनी मूर्खताभरी जिद पर अड़ा रहे– नहीं, नहीं, मुझे तो बस वैसी ही तलवार चाहिये।

अभिनवगुप्त कहते हैं अभिधावादियों से– कि आप भी उस सैनिक की ही तरह खड्गलक्षणन्यायेन अपनी जिद मनवाना चाहते हैं (जो कथमपि संभव नहीं, क्यों कि अभिधा शक्ति केवल शब्द के कोष सम्मत अर्थ को प्रस्तुत करती है, और वह भी मात्र एक बार शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः, नियम के अनुसार जो व्याकरण–शास्त्र की स्थापना है। केवल श्लेष के प्रसंग में अभिधा एकाधिक बार नया अर्थ देने में प्रवृत्त होती है।)

इस समीक्षा का सौन्दर्य ही कुछ और है। निर्बन्धपरायण आचार्य को एक जिद्दी सैनिक से उपमित कर अभिनव ने साधारण पाठक को भी मानो सबकुछ समझा दिया।

राष्ट्रभाषा हिन्दी आज भारत की शीर्षभाषा है। सारी प्रान्तीय भाषों हिन्दी की भाषाई–प्रवृत्तियों से प्रभावित हो रही हैं। परन्तु स्वस्थ समीक्षा के क्षेत्र में हिन्दी की भूमिका संशयापन्न ही प्रतीत हो रही है। भक्ति, रीति, छाया, रहस्य, प्रगति और प्रयोगवाद तक तो समीक्षा पल्ले पड़ती थी। परन्तु अब जो गुरुडमवाद, खेमावाद, राजनैतिक अधमर्णतावाद स्थापित हो चला है हिन्दी–समीक्षा में, उसने समीक्षा के अस्तित्त्वपर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया है। आज साहित्यकार होने की पहली शक्ति, पहली शर्त यही है कि इस **बारादरी** में आप किस दरवाज़े से घुसे हैं – साम्यवादी, समाजवादी, दक्षिणपन्थी

अथवा किसी अन्य द्वार से? राजनीति साहित्य पर भारी पड़ रही है और राजनेता साहित्यकारों पर। ऐसी दुःस्थिति में गुणाश्रित साहित्यिक समीक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरा विन्दु, जिसकी ओर मैंने प्रारंभ में ही संकेत किया है कि राजनीति से यदि उबर भी गये तो आलोच्य व्यक्ति भारी पड़ने लगता है **आलोच्य कृति** पर। फिर तो आलोचना के नाम पर शेष रह जाता है मात्र व्यक्तिविशेष का झूठा यशोगान, जिसे अगत्या समीक्षा मानना पड़ता है।

इकाई–1 (घ)

प्रतिभा : एक दैवी वरदान (ज्ञानार्जन की योग्यता)

वैदिक देवशास्त्र का विकास होने के बाद प्रायः प्रत्येक देव, किसी–न–किसी प्रमेय, शक्ति अथवा वस्तु का प्रतीक बन गया। सरस्वती को विद्या एवं मेधा का, लक्ष्मी को धन एवं ऐश्वर्य का, पार्वती को शक्ति का, वरुण को ऋत एवं सत्य का, यम को धर्म का एवं इन्द्र को वर्षा का अधीश्वर स्वीकार किया गया। आपाततः यह एक धार्मिक रूढ़ि मात्र प्रतीत होती है। आज यह समझा पाना और समझ पाना दोनों कठिन है कि बृहस्पति ग्रह में, पुखराज रत्न में और केले की जड़ में क्या साम्य है? क्या अन्तः सम्बन्ध है? परन्तु यह एक अमोघ सत्य है कि वृहस्पति की अनुकूलता जैसे मूल्यवान् पुखराज से सम्भव है वैसे ही सर्वसुलभ केले के जड़ से भी। इस वैज्ञानिक सत्य तक पहुँचने के लिये ज्यौतिष एवं ग्रहविद्या का गहन ज्ञान आवश्यक है।

भारतवर्ष में देवाधिदेव शिव, गणपति, सरस्वती एवं देवगुरु वृहस्पति को समन्वित रूप से विद्या, बुद्धि, प्रतिभा का प्रदाता माना गया है। कालान्तर में सूर्य एवं आञ्जनेय हनुमान् को भी ज्ञान का स्रोत स्वीकार किया गया। सूर्य से सम्बद्ध गायत्री मंत्र में स्पष्टतः कहा गया है –

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्

हनुमान् को भी 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्' ज्ञान–गुन–सागर विद्यावान् बुद्धिमतां वरिष्ठतम् आदि पदावलियों से अलंकृत किया गया है। ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है– **'सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्'**। ये सारे के सारे

आगमशास्त्रीय विवरण देवविग्रहों की विलक्षणता के परिचायक हैं।

बुद्धि, मति, स्मृति एवं प्रतिभा (प्रज्ञा अथवा शक्ति) तो पूर्णरूप से भगवती सरस्वती की कृपा से साध्य हैं। आचार्य दण्डी (6वीं शती ई.) ने तो काव्यादर्श में स्पष्टतः लिखा–

श्रुतेन यत्नेन च वागुपाश्रिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ।

अर्थात् निरन्तर स्वाध्याय एवं यत्न (अध्यवसाय) से उपासित की गई शारदा भक्त पर कृपा करती ही है। काव्यरचना के भी जो तीन स्रोत आचार्यों ने माने हैं उनमें **व्युत्पत्ति** तो विविध शास्त्रों के अध्ययन से तथा **अभ्यास** कवियों के साह्चर्य से मिल जाता है। ये दोनों स्वाधीन हैं। परन्तु प्रतिभा अपने अधीन नहीं है। वह चाहने से नहीं मिलती। क्योंकि वह शारदाकृपा–जन्य है, वह जन्मजन्मान्तरानुगत है, सांस्कारिकी है। वस्तुतः वही प्रतिभा त्रिकालाबाधित आलोकसामान्य ज्ञान का कारण है।

20वीं शती ई. में उत्पन्न काव्यकौतुक के लेखक आचार्य भट्टतौत ने चिन्तन की चार कोटियाँ स्वीकार कीं – स्मृति, बुद्धि, मति और प्रज्ञा अथवा प्रतिभा। इसी के आधार पर उन्होंने विद्वान् भी चार प्रकार के बताये– स्मृतिमान्, बुद्धिमान्, मतिमान् तथा प्रज्ञावान् अथवा प्रतिभावान्। संस्कृत–निसक्ति से निरहितों के लिये चारों शब्द समानार्थक प्रतीत हो सकते हैं। परन्तु एक संस्कृतज्ञ ही जानता है कि चारों शब्दों में जमीन आसमान का अन्तर है और वे एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं – व्युत्पत्ति में भी, अभिप्राय में भी।

स्मृति वह चिन्तनशक्ति है जो मात्र अतीत के ज्ञान में सीमित होती है।

आप वर्तमान या भविष्य का ‘स्मरण’ नहीं कर सकते। स्मरण सदैव बीती घटना का होता है (स्मृतिर्ह्यतीतविषया) **मति** का प्रसार आगामी अर्थात् भविष्य की घटनाओं में होता है। इसीलिये भविष्यद्रष्टा दैवज्ञ को मतिमान् कहा गया है (मतिरागामिगोचरा)। तात्कालिक अर्थात् प्रत्यक्ष का ज्ञान कराती है **बुद्धि** (बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता)। बुद्धिमान वह होता है जो उपस्थित विषय को जान ले। इस प्रकार, बुद्धि–स्मृति एवं मति का सीधा सम्बन्ध प्रत्यक्ष, अतीत तथा अनागत काल से है।

परन्तु चौथी चिन्तनशक्ति **प्रतिभा** कालातिश्रान्त होती है, वह लाखों वर्ष आगे तथा पीछे भी देख–जान लेती है। इसी प्रतिभा के बल पर कवि रामायण (त्रेता), महाभारत (द्वापर) जैसे कालजयी ग्रन्थ प्रणीत कर पाते हैं – **प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिमता।**

प्राज्ञ होना, प्रतिभाशाली होना बड़े भाग्य की बात है। अंग्रेजी भाषा में भी ब्रिलियेण्ट, इण्टेलिजेण्ट तथा टैलेण्टेड आदि शब्दों द्वारा चिन्तनशक्ति (Mental Faculty) के विविध धरातलों को रेखांकित करने का यत्न किया गया है। परन्तु संस्कृत काव्यशास्त्र कारों ने तो प्रतिभा का वृहत् व्याख्यान किया है। आज राष्ट्र को ऐसे ही प्रतिभापरिष्ठ छात्र–छात्राओं की आवश्यकता है।

स्मृति, बुद्धि, मति (प्रज्ञा) तथा प्रत्यभिज्ञा की इन्हीं विलक्षण शक्तियों से ओत–प्रोत ज्ञान का एक विशिष्ट धर्म है– शोध!

ज्ञान एवं शोध –

ज्ञान में शोध? सुनने में ही अटपटा प्रतीत होता है। यह शीर्षक ही

'वदतो व्याघात' प्रतीत होता है। यदि ज्ञान है तो उसमें शोध का अवकाश कहाँ? यदि शोध की अपेक्षा अवशिष्ट रह गई तो फिर ज्ञान कैसा? ज्ञान तो संविदा, प्रकाश अथवा चिति (चेतना) की पराकाष्ठा है। वस्तुतः इस गूढ़ प्रश्न को हम **लोकतंत्र जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिये** की शैली में ही निबटा सकते हैं – **शोध ज्ञान की, ज्ञान द्वारा, ज्ञान के लिये!** हम शोध (अज्ञात) ज्ञान की करते हैं, ज्ञान में ही करते हैं तथा ज्ञान को सांगोपांग बनाने के लिये ही करते हैं। खाण्डित ज्ञान अच्छा नहीं माना जाता (A little knowledge is dangerous thing)। यद्यपि ज्ञान प्रकाश स्वरूप होता है। अतः ज्ञान के उदित होते ही सारी वस्तुें स्वतः प्रकाश में आ जाती हैं तथापि अनेक कारणों से **ज्ञात में अज्ञात** की संभावना बनी रहती है। ऐसे कुछ कारणों की समीक्षा की समीक्षा की जा रही है जो ज्ञान में भी शोध की आवश्यकता पैदा कर देते हैं। वे कारण इस प्रकार हैं। इसे हम **शोध का कारण** कह सकते हैं–

1. ज्ञेयतत्त्वकी रहस्यमयता

हम जिस वस्तु को जानना चाहते हैं, खोजना चाहते हैं– यदि वह कोई पाञ्चभौतिक स्थूलवस्तु है, पूर्वज्ञात वस्तु है, भले ही यथास्थान न हो (Misplaced) परन्तु अस्तित्त्व में हो – तब तो उसे गवेषित करने की अपेक्षा नहीं होती! परन्तु यदि हम गन्धर्वनगर खोजने लगें, शश–श्रृंग खोजने लगें, आकाशकुसुम खोजने लगें– तो क्या होगा? परन्तु खोजने वाले मूढ़ जन निष्क्रिय थोड़े न बैठेंगे। वे तो खोजेंगे ही। परन्तु यदि उपर्युक्त वस्तुें यदि अस्तित्त्व में ही नहीं हैं तो मिलेंगी कैसे? यह ज्ञेयतत्त्व के अनस्तित्त्व का

उदाहरण है। ज्ञेयतत्त्व की रहस्यमयता का उदाहरण है – स्वयं ईश्वर!

ईश्वर कोई पाञ्चभौतिक पदार्थ नहीं कि पकड़ में आ जाय। वह अनुभूति का विषय है, निष्ठा एवं भक्ति का विषय है। बस सामर्थ्य होनी चाहिये उसे खोजने, पाने तथा अनुभव करने की। योगेश्वर कृष्ण स्वयं कहते हैं–

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रा रूढ़ानिमायया।।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। गीता।।

2. आत्मोपायहीनता

शोध का दूसरा कारण है अनुसन्धेय वस्तु के अस्तित्त्व में होते हुए भी उसे न खोज पाने की उपायहीनता (Sourcelessness) हम जानते हैं कि (पन्ना जिला म.प्र.) इस भूमि में हीरा है, काला हाण्डी (उड़ीसा) की उस भूमि में पुखराज–माणिक्यादि रत्न हैं – फिर भी हम उन्हें खोज नहीं पाते। क्यों? उपायहीनता के कारण! तथापि भाग्य के भरोसे खोज करते रहते हैं। जमशेदपुर नगर की सुवर्ण रेखा नदी में सवेरे से शाम तक हजारों लोग बालू छानते रहते हैं – सुवर्ण के लोभवश।

3. लक्ष्यभ्रष्टता

जैसे लक्ष्यभ्रष्ट बाण बेकार हो जाता है, यूँ ही अ–स्थान (अनुचित स्थान) में की जाने वाली शोध भी बेकार हो जाती है। सफल नहीं हो पाती। सुई छोड़ी है श्रीमती ने कपड़ों में और अब उसे खोज रही है मसालों के डिब्बों में? कुछेक डॉक्टर तो कमाल के सुने गए हैं कि पेट का आपरेशन किया और कैंची भी उसी अंग में सिल दिया। अब कैंची की खोज हो रही है आपरेशन थियेटर में।

बचपन में एक कविता पढ़ी थी। वह सटीक प्रतीत होती है लक्ष्यभ्रष्ट शोध के लिये –

मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुञ्ज और वन में

तब तू रमा हुआ था उन योगियों के मन में।

बाजे बजा–बजा कर मैं था तुझे रिझाता।।

साहित्यिक–सूचनाओं की खोज यदि आप चरक–सुश्रुत (आयुर्वेद) में करेंगे और शब्द या शब्दपर्याय अमरकोश की बजाय मेघदूत में खोजेंगे तो क्या होगा? शोध यथार्थस्थान में होनी चाहिये।

4. शारीरिक अथवा बौद्धिक अक्षमता

शोध की सफलता निर्भर होती है शारीरिक एवं बौद्धिक क्षमता पर। व्याकरणशास्त्र की अक्षमता के बावजूद यदि आपने कोई द्व्याश्रय ग्रन्थ ले लिया शोध के लिये, शास्त्रों में अप्रवेश के बावजूद ले लिया कठिन शास्त्रीय ग्रंथ तो

उसमें क्या अनुसन्धान कर पायेंगे? शास्त्रीय शोध के लिये व्यौत्पत्तिक प्रखरता अपेक्षित है। भाषा की जटिलता ही आगे नहीं बढ़ने देती। यदि तंत्रदीक्षा नहीं है, तंत्रसाधना नहीं है तो तान्त्रिक ग्रन्थ पर शोध नहीं ही कर पोंगे।

इस प्रकार 'ज्ञान में शोध' वदतो व्याघात नहीं है। जैसे नदी, कूप, सरोवर, घट – सर्वत्र जल रहने पर भी, अपने उदर में जल के न रहने पर प्यास लगती है, ठीक उसी प्रकार ज्ञान होने पर भी, उस ज्ञान के शोध की आकांक्षा होती है जो आपके प्राप्त–ज्ञान में नहीं है। वस्तुतः आपके पास जो है वह प्राप्त–ज्ञान अथवा ज्ञान–ज्ञान है और जिसे आप खोजना चाहते हैं वह अप्राप्त–ज्ञान है, अज्ञात–ज्ञान है। अज्ञात–ज्ञान को ही अनुसन्धान, गवेषणा या शोध (Research Guest) कहते हैं। मनुष्य का स्वभाव है जो वह अज्ञात को जानना चाहता है। क्योंकि खोजने से ही आकांक्षित वस्तु मिलती है–

जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठि।

मैं बौरी बूड़न डरी रही किनारे बैठि।। – कबीर

इकाई–1(ङ)

शोध एवं शिक्षा के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है जो ईसा पूर्व सातवीं सहस्राब्दी में विकसित हुई। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद एवं स्वतंत्रता संग्राम सेनानी स्व. बालगंगाधर तिलक ने इसे **अदितियुग** का नाम दिया है। इसी युग में वेदमंत्रों की रचना हुई।

वेदों में जहाँ इन्द्र, वरुण, रुद्र तथा विष्णु आदि देवों की भावभीनी स्तुतियाँ हैं वहीं अन्याय सामाजिक विषयों की भी धीर–गम्भीर व्याख्या की गई है। विद्या, बुद्धि एवं कला की देवी सरस्वती की भी चर्चा ऋग्वेद में मिलती है। ऋषि **सरस्वती** की प्रार्थना करते हुए कहता है– **सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्** अर्थात् ममतामयी देवी सरस्वती हमें ज्ञान (का सुख) प्रदान करें।

अथर्ववेद में विद्या एवं संस्कृति से जुड़े पक्षों का अत्यन्त सारगर्भित विवेचन उपलब्ध है। पृथ्वीसूक्त में पहली बार पृथ्वी को माँ कह कर सम्बोधित किया गया है – माता भूमि पुत्रोंः अहं पृथिव्याः।

वैदिकवाङ्मय के चार अंग हैं – मंत्र, ब्राह्मण (कर्म–काण्ड), आरण्यक तथा उपनिषद् (ज्ञानकाण्ड), उपनिषद्–वाङ्मय सम्पूर्ण विश्ववाङ्मय का शृंगार है क्योंकि इसी वाङ्मय में **अध्यात्म विद्या** (Spritual Knowledge) का प्रतिपादन हुआ है। आत्मा का रहस्य, जन्म एवं मृत्यु का कारण, शरीर–संरचना, धर्म एवं ईश्वर, इन्द्रियों का स्वरूप एवं कार्य, मन–बुद्धि–अंहकार का स्वरूप, पञ्चमहाभूत, सृष्टि की रचना तथा संहार – इस प्रकार के सैकड़ों

अनदेखे तथा अननुभूत विषयों का सांगोपांग विवेचन उपनिषदों में मिलता है। मुगल शहज़ादा **दाराशिकोह** तो उपनिषदों के आध्यात्मिक ज्ञान पर निछावर हो उठा था। उसने पचास उपनिषदों का फारसी भाषा में स्वयं अनुवाद किया– सिर्रे अक़बर के नाम से। फ्रांस का प्रसिद्ध दार्शनिक **शापेनहॉवर** भी आजीवन उपनिषदों के अध्ययन में तल्लीन रहा।

इन्हीं उपनिषदों में हम **भारतीय शिक्षा पद्धति** का प्राचीनतम रूप भी पाते हैं। वस्तुतः उपनिषद् शब्द का अर्थ ही है – ज्ञान प्राप्त करने के लिये गुरु के समीप उप, बैठना निसद्। **उप** का अर्थ है समीप तथा निसद् क्रिया का अर्थ है निष्ठापूर्वक बैठना। 'नि' उपसर्ग (Preposition) यहाँ अत्यन्त साभिप्राय है, जिसका अर्थ है समर्पणभाव से (Devotedly) बैठना। क्योंकि श्रद्धापूर्वक गुरु के चरणों में बैठने से ही ज्ञान प्राप्त होता है। **मनुस्मृति** में भी स्पष्टतः कहा गया है – **श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्** अर्थात् श्रद्धावान् व्यक्ति को ही विद्या प्राप्त होती है, अश्रद्धालु को नहीं।

उपनिषदों में जिस शिक्षणपद्धति का चित्रण है, वह अद्भुत है। उससे सिद्ध होता है कि विद्या अथवा शिक्षा का उस युग में, एकमात्र उद्देश्य होता था मनुष्य को विनम्र बनाना तथा उसकी आध्यत्मिक चेतना को जागृत करना। क्योंकि आध्यात्मिक चेतना की जागृति के अभाव में, शिक्षित व्यक्ति भी, पशुवत् व्यवहार करता है। आत्मिक चेतना के उदित होते ही उसे समूचा विश्व अपना कुटुम्ब प्रतीत होने लगता है– **उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।**

करुणा, ममता, परोपकार, मैत्री, सहिष्णुता, बन्धुता, जनानुराग,

सर्वसमभाव तथा राष्ट्रप्रेम सरीखे सैकड़ों जीवनमूल्य (Values of life) तभी पल्लवित होते हैं जब मनुष्य में आध्यात्मिक चेतना प्राञ्जल हो। इसीलिये, उपनिषदों में शिक्षक यह प्रार्थना करता है–

ओम् सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु

सह वीर्यं करवावहै।

तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै!!

अर्थात् हमारा (एक साथ किया गया) अध्ययन तेजः सम्पन्न हो। हमारे (अर्थात् गुरु–शिष्य के) बीच कोई विद्वेष न हो। प्राचीन भारतीय शिक्षा का उद्देश्य था– शिष्य अथवा अध्येता को एक प्रशस्त जीवन–दृष्टि प्रदान करना। विद्या की समाप्ति पर छात्रों की जैसी परीक्षायें होती थीं, वे भी अद्भुत थीं। शिक्षक उनसे ऐसी दक्षिणा माँगता था जिसमें उसकी **योग्यता** की सांगोपांग परीक्षा हो जाती थी।

इस आध्यात्मिक शिक्षा का ही परिणाम था कि राष्ट्र में सर्वत्र सुख–शान्ति एवं समानता का भाव व्याप्त हो उठा था। ऋग्वेद के **साम्मनस्य सूक्त** के यंत्रों से वह शिक्षा उजागर होती है–

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।

अर्थात् हम सभी कदम–से–कदम मिला कर चलें, एक ही वाणी बोलें तथा एक ही तरह से मन में सोचे।

समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।

समानं मंत्रमभिमंत्रये वा समानेन वो हविषा जुहोमि॥

अर्थात् हम सबकी सोच एक जैसी हो। हमारी समिति बैठक (Assembly), में कोई मतभेद न हो। हमारे मन एक दूसरे के साथ जुड़े हों!

कितने उदात्त एवं लोकतांत्रिक विचार थे प्राचीन भारत में! आज की शिक्षा इन विचारों/भावनाओं की सृष्टि नहीं कर पा रही है। हम अलग–अलग दिशाओं में चल रहे हैं, हमारे विचार परस्पर मेल नहीं खाते। हमारे मन परस्पर मिलते नहीं। हमारी विधानसभा तथा संसद में कम एकमत्य नहीं। आखिर क्यों? मात्र इसलिये कि आज की शिक्षा **अध्यात्ममूलक** नहीं, मात्र **व्यवसायात्मक** रह गई है।

ई.पू. दूसरी शताब्दी में उत्पन्न महाकवि कालिदास के युग में भी शिक्षकों का अपार सम्मान था समाज में। शिक्षक की गुणवत्ता निहित थी उसके गहन ज्ञान तथा उस ज्ञान को वितरित करने की कला में। महाकवि कालिदास कहते हैं कि कुछ प्राध्यापक ज्ञान के धनी तो होते हैं परन्तु वे उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाते, वितरित नहीं कर पाते। दूसरे ऐसे हैं जो प्रस्तुति की कला में तो दक्ष हैं परन्तु उनकी ज्ञानराशि ही सीमित होती है। ये दोनों ही प्रकार के शिक्षक छात्रों को परितुष्ट नहीं कर पाते।

सर्वोत्तम शिक्षक तो वह है जिसका ज्ञान भी **अथाह** हो तथा अध्यापन की कला भी अत्यन्त उत्कृष्ट हो।

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था

संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्तां

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां

धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।। – मालविकाग्निमित्र नाटक, प्रथम अंक।

महान् दार्शनिक तथा कवि श्रीहर्ष (12वीं शती ई.) ने शिक्षा (विद्या) की चार अवस्थाओं (stages) का वर्णन किया है– **अधीतिबोधाचरणप्रचारणानि** अधीति (hearning) **बोध** (Experience) **आचरण** (application) तथा **प्रचारण** (teaching) इन चारों अवस्थाओं से निष्ठापूर्वक अग्रेसर हुई शिक्षा ही सार्थक एवं सफल होती है। यदि आज की शिक्षा–पद्धति अपना उद्देश्य पूर्ण नहीं कर पा रही है तो निश्चय ही कहीं–न–कहीं खोट है। संभव है कि हमें गृहीत विद्या का बोध न हो अथवा वह हमारे आचरण में ही समरस न हो। हमें आत्मावलोकन–आत्ममूल्यांकन करने की आवश्यकता है।

वैचारिक शोध का सम्बन्ध भी मात्र शिक्षाजगत् से है जिसमें मुख्यतः छात्र, शिक्षक तथा विद्वान् आते हैं।

इकाई–1 (च)

आज का विद्यार्थी : एक समीक्षा

विद्याध्ययन करने वाले के लिये प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में अनेक शब्द प्रचलित थे– वटु, माणवक, ब्रह्मचारी, अन्तेवासी, छात्र, विद्यार्थी आदि। ये संज्ञायें ही उसका स्वरूप–लक्षण भी होती थीं। प्रथम तीन संज्ञाएँ तो उसके शैशव तथा ब्रह्मचर्य–व्रत से जुड़ी थीं। 'अन्तेवासी' शब्द गुरु के साथ उसके नित्य साह्चर्य को द्योतित करता था। गुरु के दोषों का छादन करने के कारण उसे 'छात्र' तथा विद्यामात्र के अर्जनार्थ दत्तचित्त रहने के कारण उसे 'विद्यार्थी' कहते थे। आज उपर्युक्त अनेक संज्ञों संशयित हो चली हैं। न आज का विद्यार्थी 'अन्तेवासी' रहा, न ही 'छात्र'। वह कुछ घण्टों के ही लिये गुरु के सान्निध्य में आता है, वह भी बारी–बारी से अनेक गुरुओं के सान्निध्य में। फलतः गुरुजनों के वात्सल्य की ऊष्मा से वह अ–प्रभावित ही रह जाता है।

आज का विद्यार्थी गुरु का दोषच्छादक नहीं, प्रत्युत उसका कटु समालोचक भी है। गुरु के साथ उसका सम्बन्ध व्यावसायिक हो चला है। सच्चे अर्थों में वह 'विद्यार्थी' भी नहीं, क्योंकि वह विद्या से अतिरिक्त भी अनेक व्यसनों से प्रभावित एवं सम्पृक्त है। विद्यार्थी की ही तरह आज के अध्यापक–व्यक्तित्व में भी अनेक कमियाँ आ गई हैं। गुरु एवं शिष्य की व्यक्तित्व–गरिमा का क्षरण होने के ही कारण प्राचीन वैदिक विद्या का आदर्श आज सार्थक सिद्ध नहीं हो पा रहा है। वह आदर्श था –

तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।

विद्यार्थी को हमारे आचार्यों ने 'खेत' माना था। विद्या अथवा ज्ञान है बीज तथा गुरु है इस ज्ञानबीज का वप्ता। यदि खेत की मिट्टी अच्छी होगी तो सामान्य बीज भी अच्छी फसल देंगे। मूर्ख बोने वाला भी उत्तम कृषि प्राप्त करेगा। परन्तु चाहे कितना ही उत्तमकोटिक बीज हो, राष्ट्रपति ही क्यों न वप्ता हो – यदि खेत अच्छा नहीं है तो निश्चय ही बीज अंकुरित तक नहीं होंगे। अच्छी फसल का होना निर्भर है अच्छे खेत पर – जो बार–बार जोता गया हो, खर–पतवार–विहीन हो तथा उर्वरक–मण्डित हो।

तो क्या आज का विद्या–क्षेत्र अर्थात् ज्ञानबीजों का खेत– हमारा विद्यार्थी उस प्रकार का है? कत्तई नहीं। जिस छात्र के मस्तिष्क में, हृदय में विद्या का आधान है वह सर्वथा संस्कारविहीन है। तो उसमें प्रतिष्ठित विद्या फलवती कैसे होगी? यह गहन चिन्ता का विषय है।

आज, जब माँ–बाप ही संस्कारविहीन हैं तो बच्चा संस्कारवान् कहाँ से होगा। माँ–बाप धकेल देते हैं बच्चों को विद्यालय में, इस धौंस के साथ कि हम हजारों रूपये महीने फीस दे रहे हैं। अतः यह विद्यालय का दायित्व है कि वह मेरे बच्चे को योग्य बनायें। दूसरी ओर, विद्यालय तथा अध्यापक यह सोचते हैं कि बच्चा जब तक मेरी कक्षा में है तभी तक से सँभालना मेरा काम है। उसके बाद, वह चाहे जो भी करे, हमारी जिम्मेदारी नहीं।

गुरु एवं माता–पिता के बीच आज का विद्यार्थी फुटबाल की तरह मारा–मारा फिर रहा है। अच्छे संस्कार न उसे घर में माँ–बाप से और न ही विद्यालय में प्राप्त हो पा रहे हैं। ऐसे में, आज के छात्र में सत्कान्त विद्या फलवती कैसे

हो? नाटककार विशाखदत्त (मुद्राराक्षसम्) ने ठीक ही लिखा है–

चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः।

न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते।।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में संस्कृत–हृदय में प्रतिष्ठित विद्या के अद्भुत उदाहरण मिलते हैं। सुसंस्कृत बच्चे तो (जन्म से पूर्व) गर्भावस्था में ही वैदुष्य ग्रहण करने लगते थे। महामुनि कहोड के गर्भस्थ शिशु अष्टावक्र ने तो अपने पिता को ही गलत मंत्रोच्चारण से रोक दिया था। अभिमन्यु ने चक्रव्यूह – भेदरहस्य गर्भ में ही जान लिया था। यह सब संभव होता था क्रान्त प्रतिभा से! आखिर यह प्रतिभा क्या है?

इकाई–2

संस्कृत समीक्षाशास्त्र में शोध का स्वरूप

एक बच्चा अपनी बढ़ती वय मे बड़ों का व्यवहार देखते हुए भी सब कुछ करने लगता है। जो कि सिद्धान्ततः उन्हीं व्यवहारों को सीखने के लिए उसे विद्यालय में बीसों वर्ष अध्ययन करना पड़ता है।

वस्तुतः जीवन के आरंभ में ही उत्पन्न शोधप्रवृत्ति सहज होती है तथा स्वाध्याय के बल पर, अन्य विषयों में भी वह पल्लवित होती रहती है। वस्तुतः यही शोधात्मक–प्रवृत्ति आगे चल कर, किसी प्राध्यापक को चतुरस्त्र प्रतिभा से सम्पन्न प्राध्यापक बना देती है। मूलतः व्याकरण के अधीती होते हुए भी लोग साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् होते थे। मूलतः दर्शन के छात्र होते हुए भी लोग प्रकाण्ड वय्याकरण होते थे। मुझे स्वयं ऐसे देवोपम गुरुजनों से अध्ययन का अवसर मिला है जो अनेक विषयों के पारंगत विद्वान् रहे हैं। यह सब संभव होता है – स्वाध्याय से। इसीलिये उपनिषदों में बार–बार घोषित किया गया है – **स्वाध्यायो हि तपः, स्वाध्यायो हि तपः।**

शोधविषय के साथ शोधार्थी का अन्योऽन्याश्रय सम्बन्ध होना चाहिये। यदि शोधविषय शोधार्थी की अभिरुचि एवं सामर्थ्य का नहीं तो उसके साथ कभी भी न्याय (Justice) नहीं हो पायेगा और यदि शोधार्थी शोधविषय में अनुरक्त न हुआ तो वह शोध कर लेने के बाद भी उससे अप्रभावित, असम्पृक्त तथा अननुकम्पित ही रहेगा।

इकाई 2 (क)

शोध एवं शोधार्थी का अन्तःसम्बन्ध

प्रश्न यह है कि शोधविषय एवं शोधार्थी का सामञ्जस्य कैसे बैठाया जाय? इस सन्दर्भ में कुछ विन्दु विचारणीय हैं।

1. शोधार्थी की सांस्कारिक प्रतिभा,
2. शोधार्थी का विशेषाध्ययन,
3. शोधार्थी की पारिवारिक शैक्षिक पृष्ठभूमि,
4. शोधार्थी की अध्यवसाय – क्षमता।

सांस्कारिक प्रतिभा का अर्थ है – पूर्वजन्मार्जित विद्या का संस्कार। भारतीय दर्शन का विश्वमानवता को सबसे बड़ा योगदान है – पुनर्जन्म का सिद्धान्त तथा कर्मविषयक की अवधारणा। प्रत्येक जीव अपने वर्तमान जीवन में **बहुत कुछ** अपने पूर्व जन्मों से ही उपार्जित किया हुआ ले आता है। ऐसे बहुत कुछ में विद्या एवं प्रतिभा का संस्कार प्रमुखतम है। सामान्य घरों में भी, जहाँ विद्यापरम्परा का लेश भी नहीं, कभी–कभी महाप्रतिभाशाली बच्चे पैदा होते हैं। महाकवियों, साहित्यकारों तथा लोकवन्द्य कलाकारों को प्रायः हम सामान्य घरों में ही उत्पन्न देखते हैं। इसीलिये उन्हें **गुदड़ी का लाल** कहा जाता है।

जैसे धरागर्भ में प्रसुप्त बीज, वर्षाऋतु के आते ही, वायु एवं जल के संयोग से अंकुरित हो उठता है, उसी प्रकार पूर्वजन्म के संस्कारों से प्राप्त यह प्रतिभा भी शिशु में, पहले तो प्रसुप्त (निष्क्रिय) रहती है परन्तु प्रबुद्ध अवस्था

प्राप्त होते ही, ग्रंथों एवं गुरुजनों का संसर्ग प्राप्त करते ही सक्रिय हो उठती है। ऐसा संस्कार–प्रवण छात्र प्रायः अन्य सतीर्थ्यों की तुलना में आगे ही रहता है।

इस प्रकार के प्रतिभासम्पन्न छात्रों के लिये कोई भी शोधविषय कठिन, उद्वेजक अथवा अरुचिकर नहीं होता। उन्हें जो भी विषय दे दिया जाय (बिना उनकी इच्छा जाने भी) वे उसी में लग जाते हैं तथा उसके साथ पूर्ण न्याय करते हैं। यह सब मात्र प्रतिभा (Talent) के कारण संभव हो पाता है जो विद्युल्लता की तरह नित्य स्फुरित होती रहती है, साथ–ही–साथ त्रैकालिक होती है – जैसा कि आचार्य भट्टतौत ने काव्यकौतुक में लिखा है–**प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।** राम, कृष्ण, आदिशंकर सबके सब इसी सांस्कारिक प्रतिभा से ओतप्रोत थे। भगवान् राम के विषय में गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं –

गुरुगृह गये पढ़न रघुराई।

अल्पकाल विद्या सब आई।

आदि शंकराचार्य ने तो मात्र सोलह वर्ष की अवस्था में ही समस्त विद्याज्ञान प्राप्त कर अपना शारीरक भाष्य तक प्रणीत कर डाला था।

शोधविषय के साथ शोधार्थी के सामञ्जस्य का दूसरा विन्दु है उसका विशेषाध्ययन। इस सन्दर्भ की विस्तृत व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। इस सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्व है – अभिरुचि (Interest) का। विशेषाध्ययन से छात्र की विद्याभिरुचि परिष्कृत एवं एककोटिक बन जाती है। फिर तो उसे कुछ और अच्छा ही नहीं लगता। जिसका मन साहित्य में रम गया, वह व्याकरण में और

जिसका मन व्याकरण में रम गया वह साहित्य में प्रायः रुचि नहीं रखेगा। किसी कवि ने ठीक ही कहा है– **सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाइ!**

महाकवि विल्हण ने अपने विक्रमांकदेवचरितम् में इसी अभिरुचि को लक्ष्य करते हुए कहा है कि ऊँट को चाहे केलिवन में ही प्रविष्ट करा दो, परन्तु वह वहाँ पहुँच कर भी कँटीली झाडियाँ ही खोजेगा (कोमल लतावितान नहीं) क्योंकि उसकी रुचि ही होती है बबूल आदि के भक्षण में–

निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य

कमेलकः कंटकजालमेव!!

शोधविषय के चयन में तीसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु है, शोधार्थी के परिवार की शैक्षिक पृष्ठभूमि! यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष है। संस्कृतभाषा के सन्दर्भ में इस पक्ष की सार्थकता भी अधिक है। अनेक पण्डित–परिवार ऐसे हैं जहाँ अनेक पीढ़ियों से ज्योतिष, तंत्र, वास्तुसारणी, हस्तरेखाविज्ञान, धर्मशास्त्र एवं व्याकरण आदि का अध्ययन होता चला आ रहा है। लोकप्रख्यात ज्योतिर्विद् अपने बेटे को भी अपने जैसा ज्योतिर्विद् ही बनाना चाहता है। वय्याकरण अपनी सन्तान को वय्याकरण ही बनाना चाहता है ताकि उसका जीवनभर का किया गया श्रम सुरक्षित रह सके। उसके पुस्तकालय की रक्षा हो सके। यदि सन्तानें पिता की विद्यापरम्परा से अलग–थलग हैं तो विद्यापरम्परा का नाश ही समझिये।

इस दृष्टि से, यदि कोई शोधच्छात्र ज्योतिर्विद् परिवार से आता है तो उसे शोधकार्य भी ज्योतिष में ही करना चाहिये ताकि वह अपनी पैत्रिक विद्यापरम्परा को और अधिक परिपुष्ट, परिष्कृत एवं समुन्नत बना सके।

आनुवंशिक विद्या में शोध करने से शोधच्छात्र की अभिरुचि का पोषण तो होगा ही, उसकी प्रतिभा भी पल्लवित होगी।

भारतीय दर्शन–परम्परा में पुत्र को पिता का ही विग्रहान्तर माना गया है। हरिश्चन्द्रोपाख्यान में स्मृतिकार कहता है– **'तज्जाया जाया भवति यदस्माज्जायते पुनः'** अर्थात् जाया (पत्नी) को मात्र इसीलिये जाया कहा गया है क्योंकि पति स्वयं उसके उदर से पुत्ररूप में पुनः जन्म लेता है। इस प्रकार जाया पति एवं पुत्र की आत्मिक एकता का माध्यमभूत है। महाकवि कालिदास ने भी रघु एवं अज को **एकदीप से प्रदीप्त दूसरे दीप** के रूप में कल्पित किया है जिनमें मात्र दीपपात्र एवं उपादान का भेद है, परन्तु ज्योति एक ही है दोनों में –

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।

न कारणात्स्वाद् बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीपइव प्रदीपात्।।

शोधकार्य के सन्दर्भ में भी इस पैत्रिक परम्परा का अत्यन्त महत्त्व है। इसलिये पारिवारिक पृष्ठभूमि को देखते हुए ही शोधार्थी के शोधविषय का निर्धारण किया जाना चाहिये।

इस सन्दर्भ में अन्तिम विचारणीय बिन्दु है– शोधार्थी की अध्यवसायक्षमता। यह शोधार्थी का वैयक्तिक गुण है। शोधार्थी में सांस्कारिक प्रतिभा का होना एक संयोगमात्र है। परन्तु सभी लोग पूर्वजन्मोपार्जित प्रतिभा के धनी तो नहीं होते। संभव है कि छात्र, जिस विषय में शोध करना चाहता है, उसका विशेषाध्ययन न कर सका हो। अनेक विश्वविद्यालयों में विशेषाध्ययन

(Special Groups) की सुविधा नहीं भी होती। संभव है कि छात्र की पारिवारिक पृष्ठभूमि भी शोधकार्य के अनुकूल न हो। बहुतेरे छात्र तो ऐसे परिवार से आते हैं जिनमें कोई पढ़ा–लिखा है ही नहीं। लड़का पहली बार पढ़ रहा है, और वह भी संस्कृत! तब उसके शोधविषय का निश्चय कैसे किया जाय?

इसका उत्तर है – शोधच्छात्र की अध्यवसायक्षमता का आकलन कर! यदि छात्र प्रतिभा का धनी (Talented) नहीं है परन्तु अध्यवसायी (Diligent) है तो भी उसके सफल होने की पूर्ण आशा है। परिश्रमी एवं अध्यवसायी व्यक्ति क्या नहीं कर सकता? अतएव यदि शोधच्छात्र परिश्रमी, उत्साही, लगनवाला, आलस्यविहीन तथा अध्यवसाय–सम्पन्न है तो वह जिस किसी भी विषय को लेकर, सरलतापूर्वक शोधकार्य सम्पन्न कर सकता है। यदि उसमें अध्यवसाय की क्षमता नहीं तो उसकी प्रतिभा, पारिवारिक पृष्ठभूमि तथा विशेषाध्ययन – सब अपार्थक सिद्ध हो जाता है।

इकाई 2, (ख)

शोधक्षमता ही शोधार्थी का सर्वोत्तम गुण

इस प्रकार शोध कर पाने की क्षमता ही शोधार्थी का सर्वोत्तम गुण है। यही उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति है। अन्य वस्तुएँ (पारिवारिक पृष्ठभूमि, विशेषाध्ययन, श्रेष्ठ गुरु का सान्निध्य, उत्कृष्ट पुस्तकालय) तो बाह्य उपादान मात्र हैं, वस्तुनिष्ठ हैं। परन्तु शोधक्षमता छात्र का आत्मनिष्ठ गुण है।

प्रायः सभी प्राचीन भारतीय मनीषियों ने इस तथ्य का समर्थन किया है कि 'पात्रक्षमता' ही सर्वोपरि है। बीज बोने वाला किसान चाहे विद्वान् हो, चाहे मूर्ख! कोई फर्क नहीं पड़ता! परन्तु यदि खेत अच्छा है तो (बीजों की) फसल तो अच्छी होगी ही!

चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः।

न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते।। –मुद्राराक्षसम्

सूर्य तो समान रूप से प्रकाश वितरित करता है। परन्तु जिस प्रकाश (धूप) से मिट्टी का ढेला गर्म तक नहीं हो पाता उसी प्रकाश को प्राप्त कर **सूर्यकान्त मणि** (Sun Stone) आग उगलने लगता है। तो यह गुण किसका है? सूर्य का अथवा मणि का? निश्चय ही यह मणि का अपना व्यक्तिगत गुण है, उसकी पात्रता है –

वमद्भिारुष्णांशुकरावमर्शात्कार्ष्णाणवं धाम पतंगकान्तैः।

शशंस यः पात्रगुणाद् गुणानां सङ्क्रान्तिराक्रान्तगुणान्तरेति।। –

शिशुपालवधम् 4।16

और अन्ततः महाकवि कालिदास भी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं यह कहते हुए कि पात्रविशेष में स्थापित शिल्प ही विलक्षणता को प्राप्त करता है। बादल पानी तो सर्वत्र बरसाते हैं, परन्तु हर कहीं तो मेघजल मोती नहीं बन जाता? मोती बनता है तो केवल समुद्र की सीपियों में गिर कर ही!

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।

जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य॥ – मालतीमाधव 2।6

शोधछात्र एवं शोधविषय का सामञ्जस्य बैठ जाने के बाद भी शोध प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष और शेष रह जाता है और वह है – शोध निर्देशक! इस सन्दर्भ में यह श्लोक अत्यन्त महत्वपूर्ण है –

वत्सलो वित्तमो वाग्मी सर्वविद्याविशारदः।

मृदुवाक् प्रीतिमान् विज्ञो देशिकोऽसौ प्रशस्यते॥

निर्लोभो निरहङ्कारस्समदर्शी समञ्जसः।

नित्यस्वाध्यायसम्पन्नो गुरुरेको महीयते॥

जो छात्रों के प्रति वात्सल्यभाव रखता हो, विद्वानों में अग्रगण्य हो, वाग्मी हो, समस्त विद्याओं/शास्त्रों में निष्णात हो, मीठा बोलने वाला हो, मीठे स्वभाव वाला हो, उच्चकोटिक ज्ञान वाला हो ऐसा देशिक (आचार्य) प्रशस्त होता है।

जो लोभरहित हो (उत्कोचजीवी न हो) अहंकारी न हो, समस्त छात्रों पर समान दृष्टि रखता हो (उनमें भेद–भाव न बरतता हो), साधु स्वभाव का हो (टेढ़ा न हो) और निरन्तर शास्त्रानुशीलन में दत्तचित्त हो वही गुरु श्रेष्ठ होता है।

आचार्य के उपर्युक्त गुण ही शोधनिर्देशक के भी गुण होने चाहिये। आज समूचे राष्ट्र में इन प्राध्यापकीय गुणों का अकाल-सा पड़ गया है। यदि आचार्य वत्सल नहीं है, विद्वान् नहीं है, समस्त शास्त्रों में पारंगत नहीं है, उत्कोचजीवी, अर्थपिशाच है, छात्रों में (उनकी पारिवारिक अर्थ–स्थिति को दृष्टि में रख कर) भेद दृष्टि रखता है, लोभी है, टेढ़े स्वभाव वाला है, नित्याध्ययनशील नहीं है तथा अहंकारी है तो निश्चय ही शोधच्छात्र का दुर्भाग्य है। फिर तो शोधकार्य सम्पन्न हो पाना सर्वथा असंभव है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी ऐसे तथाकथित गुरुओं की घोर निन्दा की है –

हरद् शिष्यधन शोक न हरई।

सो गुरु घोर नरक मह परई।।

इस प्रकार, शोधविषय – शोधार्थी तथा शोधनिर्देशक – तीनों के अनुकूल सामञ्जस्य से ही शोधकार्य उत्तमकोटिक हो पाता है। यदि इन तीनो घटक अंगों में कोई भी एक सदोष हुआ, अ–समञ्जस हुआ तो शोधकार्य या तो अपूर्ण रह जाता है अथवा पूर्ण होने पर भी सदोष रह जाता है। शोधनिर्देशकों के असहिष्णु स्वभाव के ही कारण कभी–कभी शोधच्छात्र संकटापन्न हो उठता है। कभी–कभी शोधविषय निर्देशक द्वारा, अपनी किसी स्वार्थपूर्ति के लिये, शोधच्छात्र पर जबरन लाद दिया जाता है और वह बेचारा उपाधि पाने के लोभ में उसे अगत्या ढोता रहता है।

इकाई –2 (ग)

शोधप्रबन्ध का स्वरूप : लेखनपूर्व कार्य

सम्पूर्ण शोधप्रबन्ध–प्रक्रिया को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है – लेखनपूर्व कार्य तथा लेखनोत्तर कार्य के रूप में।

लेखनपूर्व कार्य के भी दो प्रमुख विन्दु हैं।

1. प्रारूप (Synopsis) का निर्माण

2. शोध–सामग्री का संकलन।

प्रारूप–निर्माण के बिना शोधप्रबन्ध के बारे में कुछ सोचा ही नहीं जा सकता। जैसे चतुर वास्तुनिर्माता (इञ्जीनियर) भवन–निर्माण से पूर्व उसका नक्शा (Map) बनवाता है किसी स्थापित–विशेषज्ञ (Architect), से ठीक उसी प्रकार शोधप्रबन्ध तैयार करने से पूर्व उसका प्रारूप बनाना भी अनिवार्य होता है। प्रारूप को ही रूपरेखा (Outlines) भी कहा जाता है।

शोधप्रबन्ध का प्रारूप–निर्माण मुख्यतः शोधप्रबन्ध के निर्देशक का ही दायित्व होना चाहिये। मैंने सदैव इसी परम्परा का पालन किया। कुछ व्यथित शोधच्छात्र यह बताते रहे कि डेढ़ वर्ष बीत जाने के बाद भी अभी तक उनके शोधप्रबन्ध का प्रारूप नहीं बना। पूछने पर ज्ञात हुआ कि शोधनिर्देशक का कहना है प्रारूप बनाना मेरा काम नहीं है। यह कार्य छात्र को स्वयं करना चाहिये।

यहाँ मेरा स्पष्ट मतभेद है। क्योंकि प्रारूप बनाना निर्देशक का ही

दायित्व है, क्योंकि प्रारूप वही बना सकता है। वस्तुतः शोधच्छात्र एवं निर्देशक में, ज्ञान एवं अनुभव की दृष्टि से, जमीन–आसमान का अन्तर होता है। शोधच्छात्र, जो अभी पाठ्यग्रंथों में सीमित रहा, परीक्षा की विभीषिका से सन्त्रस्त रहा–विद्वान् प्राध्यापक की तुलना में अत्यन्त अनुभवशून्य होता है। वह पूर्णजानकारी वाला (Well informed) भी नहीं होता। अभी–अभी वह शोधकार्य करने में प्रवृत्त हुआ है। भला वह 'शोधप्रबन्ध' के समूचे विस्तार के बारे में क्या जाने? शोधप्रबन्ध का स्वरूप तो छात्र को, उत्तरोत्तर अध्ययन करने के अनन्तर ही समझ में आ पाता है।

शोधछात्र की तुलना में विद्वान् प्राध्यापक (निर्देशक) शोधविषय से पूर्णतः भिज्ञ, अनुभवी तथा समर्थ होता है। उसके लिये, शोधप्रबन्ध की रूपरेखा का निर्माण अत्यन्त सरल कार्य है।

शोधप्रविधि को अंग्रेजी में (Research Methodology) कहा जाता है। इसके अन्तर्गत, आधुनिक भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रचलित, शोध–प्रबन्ध लिखने की सम्पूर्ण प्रक्रिया आती है। शोध क्या है? शोध का उद्देश्य क्या है? शोध कितने प्रकार की होती है? शोध का क्षेत्र क्या है? शोधप्रबन्ध का स्वरूप एवं उसकी प्रक्रिया क्या है? शोधप्रबन्ध के परिप्रेक्ष्य में विषयचयन, रूपरेखा–निर्माण, सामग्री–संकलन, उद्धरण, अवतरण, पादटिप्पणी, प्रस्तावना, निष्कर्ष, शोधसार, ग्रंथसूची–निर्माण आदि का क्या महत्त्व है? और अन्ततः ग्रन्थ–सम्पादन का स्वरूप एवं उसकी प्रक्रिया क्या है? ये सारे-के-सारे प्रश्न एवं उनके समुचित समाधान–व्याख्यान शोधप्रविधि के ही अन्तर्गत आते हैं। शोधार्थियों के लाभ की दृष्टि से इन समस्त विषयों को तीन पृथक् अध्यायों अथवा पाठों में व्यवस्थित कर विवेचित किया जा रहा है।

इकाई 2 (घ)

शोध की पृष्ठभूमि

शोध मानव की सहज प्रवृत्ति है। मनुष्य विवेकशील है। वह पशुओं की तरह मात्र शारीरिक अपेक्षाओं–आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन – का ही अनुभव नहीं करता। उसकी शारीरिक भूख से अधिक मन की भूख होती है। आचार्य भर्तृहरि ने बड़ी स्पष्टता से कहा है –

आहारनिद्राभयमैथुनश्च समानमेतत्पशुभिर्नराणाम्।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानः।।

अर्थात् मुनष्य एवं पशु में शरीरधर्म तो एक ही जैसे हैं। परन्तु दोनों में सबसे बड़ा भेद यही है कि मनुष्य में धर्म है, पशु में नहीं।

यहाँ धर्म शब्द उपलक्षण (प्रतीक है विवेक (Rationality) का, मानसिक विचारप्रक्रिया का (Mental faculty)। मन संकल्प एवं विकल्प से ओत–प्रोत होता है। वह **देहलीदीपकन्याय** से एक ओर तो बुद्धि एवं अहंकार को प्रकाशित करता है, दूसरी ओर उनका संकेत ग्रहण कर प्रसुप्त ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को भी प्रेरित करता है उनके विषयों में। इसीलिये, भारतीय दर्शन में मन को **उभयेन्द्रिय** अथवा **मध्यस्थेन्द्रिय** भी कहा गया है।

यही मन मनुष्य की सबसे बड़ी निधि है। संकल्पधर्मा होने के कारण यही मनुष्य को दार्शनिक, कवि, राजनेता, संन्यासी, नर्तक, गायक, वादक, धावक तथा अन्यविध कलाकार बनाता है। मध्यकालीन सन्त कबीरदास ने तो स्पष्टतः कहा है–

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।

पारब्रह्म को पाइये मन की ही परतीत।।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी तथ्य को उजागर किया गया है–**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः** अर्थात् मनुष्य के बन्ध एवं मोक्ष का कारण मन ही होता है। वह सांसारिक प्राणी बनकर, माया–मोह के बन्धन में भी सुखी है तो मात्र मन रमने के कारण! यदि मन संसार में न रमे, उचट जाय तो वही मनुष्य संसार को त्याग, ईश्वर की खोज में निकल पड़ता है।

यही मन मनुष्य को शोध की ओर भी प्रवृत्त करता है। वस्तुतः शोध का सम्बन्ध विद्या एवं ज्ञान से है। विद्यासम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न मनुष्य ही अनुसन्धान की ओर उन्मुख होता है। इस प्रकार, शोध का अर्थ है ज्ञान की पिपासा! हम जो नहीं जानते उसको भी जानने की दुर्वार आकांक्षा! शोध के द्वारा ही मनुष्य ने पारलौकिक जगत् की सच्चाइयों को जाना, ग्रहों–नक्षत्रों की गतिविधियों का पता लगाया तथा प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को हस्तामलकवत् देखा।

परन्तु जिस शोध का सन्दर्भ हम ज्ञान के क्षेत्र में निरूपित कर रहे हैं वह प्रकृति, संसार अथवा ब्रह्माण्ड से नहीं जुड़ा है। उस प्रकार का शोध तो विज्ञान का विषय हो सकता है। मानविकी (Humanity) के क्षेत्र में शोध सीमित है ज्ञान के ही क्षेत्र में। अतः यहाँ शोध का अर्थ है विद्या अथवा ज्ञान के रहस्यमय अथवा अज्ञात आवरणों का उन्मीलन (Opening of the new horizons of knowledge) ।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने ज्ञान की सम्पूर्ण प्रक्रिया को तीन स्तरों पर

व्यवस्थित किया है– शोध, बोध तथा प्रबोध।

आदौ शोधस्ततो बोधः प्रबोधश्चाप्यनन्तरम् अर्थात् सर्वप्रथम होता है ज्ञान का अथवा प्रमेय का शोध, तदनन्तर श्रेष्ठ गुरु के प्रवचन से उसका बोध होता है और अन्त में होती है उसकी अनुभूति !

इस प्रकार 'शोध' को हम ज्ञान की पिपासा (Thirst of knowledge) भी कह सकते हैं। बिना इस पिपासा के कोई पढ़ेगा–लिखेगा क्यों? और बिना पढ़े–लिखे वह ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित अन्तःकरण वाला भी क्यों बनेगा?

12वीं शती ई0 में उत्पन्न कान्यकुब्ज–नरेश जयचन्द्र के राजकवि तथा **नैषधीयचरितम्** महाकाव्य के प्रणेता महापण्डित श्रीहर्ष ने भी विद्या (ज्ञान) की चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्त्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।

चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं न वेदिम विद्यासु चतुर्दशस्वयम्।।

और अन्ततः महाकवि भवभूति भी विद्यापात्रता का ही समर्थन करते हुए कहते हैं कि मणि ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ होता है मिट्टी का ढेला नहीं।

प्रभवति शुचिर्विम्बग्राहे मणिर्न मृदां चयः।

इन विवरणों से स्पष्ट है कि अनुसन्धानात्मक ज्ञान की सफलता निर्भर होती है अनुसन्धाता की पात्रता पर और उसकी पात्रता है– उसकी सांस्कारिक प्रतिभा, बहुश्रुतता तथा उसका परिश्रम, अध्यवसाय।

खण्ड–1, इकाई– 2 (ङ)

संस्कृत समीक्षाशास्त्र में शोध का स्वरूप अन्य तत्वों की तुलना में

संस्कृत का समीक्षाशास्त्र नाट्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्ररूपी दो प्रमुख धाराओं में विभक्त है। ये दोनों ही धारायें अत्यन्त प्राचीन काल में प्रतिष्ठित हो गई थीं। आचार्य भरत (ई.पू. चौथी शती) कोहल, नन्दिकेश्वर, सागरनन्दी, धनिक–धनञ्जय, रामचन्द्र–गुणचन्द्र, भानुदत्तमिश्र, शारदातनय, सिंहभूपाल तथा विश्वनाथ आदि यदि **नाट्यशास्त्रीय** समीक्षा के कर्णधार हैं तो भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, मम्मट भोजदेव, रुय्यक, मंखक, राजशेखर, विश्वनाथ, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, अप्पय दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ एवं विश्वेश्वरपण्डित आदि **काव्यशास्त्रीय** समीक्षा के ज्योति–स्तम्भ हैं। दोनों ही वर्गों की समीक्षायें भाष्य, टीका, उपटीका आदि के माध्यम से विकसित हुई हैं तथा दोनों ही समीक्षाओं का विकास उत्तरोत्तर अनुसन्धान की प्रवृत्ति पर आधारित रहा है।

इन सैद्धान्तिक गवेषणाओं ने ही आचार्य भरत के चार अलंकारों (उपमा, रूपक, दीपक, यमक) को आचार्य अप्पय के कुवलयानन्द में 125 की संख्या तक पहुँचा दिया। वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली रीतियाँ विकसित होकर चार (लाटी को भी मिलाकर) तथा भोजदेव कृत सरस्वतीकण्ठाभरण में **छः** (आवन्ती तथा प्राच्या को जोड़ कर) हो गई। काव्यात्मसमीक्षा में भी रस, अलंकार तथा रीति के अनन्तर ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य के सम्प्रदाय विकसित हुए।

संस्कृत में शोध के लिये अनुसन्धान (अनु + सम् + धाल्युट् प्रत्यय) तथा गवेषणा (गवेष् + युच् + टाप् प्रत्यय) शब्द भी प्रचलित हैं। अनुसन्धान का अर्थ है **'पश्चाद्वर्ती खोज'**। किसी भी पूर्वस्थापित अथवा पहले से ही विद्यमान वस्तु के विषय में, पुनः प्रतिष्ठापना को दृष्टि में रखकर जो खोजबीन की जाती है उसे अनुसन्धान कहते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन भी कहते हैं कि वय्याकरणों द्वारा प्रतिष्ठापित ध्वनि का ही स्वरूप, जो **अनुन्मीलितपूर्व** था, **विस्मृतप्राय** हो चला था, हम सहृदयों की मनः प्रीति के लिये पुनः उन्मीलित कर रहे हैं।

संस्कृत समीक्षाशास्त्र में शोध की यह प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन काल में वैशद्य को प्राप्त हो चुकी थी। महर्षि यास्क (ई.पू.7वीं शती) ने अपने निरुक्त में उन्हीं प्रवृत्तियों का परिचय दिया है। वैदिक इन्द्रादि देवताओं के स्वरूप के विषय में, महर्षि यास्क के युग में भी, विद्वानों द्वारा अनुसन्धान किया जा रहा था। कुछ लोग इन्द्रादि देवताओं को मनुष्यों के ही समान व्यक्तित्व वाला मानते थे। कुछ विद्वान् उन्हें प्राकृतिक शक्ति के रूप में स्वीकार करते थे तथा कुछ लोग उन्हें प्रतीकात्मक मानते थे। इस प्रकार आचार्य यास्क अपने युग में प्रचलित, वैदिक देवताविषयक अनेक अनुसन्धान–पद्धतियों की व्याख्या करते हैं–

(1) ऐतिहासिक पद्धति,

(2) पौराणिक पद्धति,

(3) नैरुक्त पद्धति आदि।

इस पद्य में राजा नल की चौदह विद्याओं का उल्लेख करते हुए उसकी चार क्रमिक स्थितियों का वर्णन किया गया है– अधीति (Perusal or study), बोध (Digestion or experience) आचरण (Application) तथा प्रचारण (Teaching or deliverance)।

शोध की प्रक्रिया में भी प्रायः ये चार ही स्थितियाँ आती हैं। पहले हम ज्ञान प्राप्त करते हैं तदनन्तर उस ज्ञान को हम अनुभूति के स्तर पर अनुभव करते हैं। तीसरी स्थिति है– ज्ञान को अपने आचरण में उतारने की अथवा ज्ञान से तादात्म्य स्थापित करने की और अन्तिम स्थिति है उस ज्ञान के वितरण की।

इकाई 3 (क)

अनुसंधान का आधुनिक अभिप्राय

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने ज्ञान से भी अधिक जोर दिया है ज्ञानार्जन करने वाले छात्र की क्षमता अथवा पात्रता पर।

महाकवि कालिदास (ई.पू. दूसरी शती) **मालविकाग्निमित्र** नाटक में कहते हैं कि पात्र–विशेष में न्यस्त किया शिल्प ही गुणवत्ता को प्राप्त कर पाता है। जैसे कि समुद्र की सीपी में ही डाला गया मेघजल 'मुक्ता' के रूप में परिणत हो जाता है।

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।

जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य।। –माल0 1–6

महाकवि भारवि (छठीं शती ई0) भी कहते हैं कि विशिष्टकोटिक आश्रय को प्राप्त करके ही गुणवानों का गुण वैशिष्ट्य को प्राप्त होता है-

प्राप्यते गुणवतापि गुणानां व्यक्तमाश्रयवशेन विशेषः।।

महाकवि **माघ** कहते हैं कि सूर्य की किरणों का संस्पर्श प्राप्त करके ही सूर्यकान्तमणि आग उगलने लगता है। परन्तु अन्य पदार्थ ऐसा नहीं कर पाते, गो कि सूर्य की किरणें उन पर भी पड़ती हैं

शशंस यः पात्रगुणाद् गुणानां संक्रान्तिराक्रान्तगुणान्तरेति।

वमद्भिरुष्णांशुकरावमर्शात् कार्ष्णाणवं धाम पतंगकान्तैः।।

मुद्राराक्षस नाटक के लेखक **विशाखदत्त** भी कहते हैं कि यदि खेत अच्छा है तो चाहे मूर्ख व्यक्ति बीज बोये अथवा बुद्धिमान्, फसल अच्छी होती है –

चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः।

न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते।।

समीक्षा के अगले चरण में हम खण्डन–मण्डन की प्रक्रिया का विकास पाते हैं। इस प्रक्रिया में अलंकारशास्त्री आचार्यगण अपने सिद्धान्त की स्थापना से पूर्व, अपने सिद्धान्त के विषय में उठी आशंकाओं, आपत्तियों एवं भ्रान्तियों का निवारण करते थे। तदनन्तर अपने विरोधियों (पूर्वपक्षियों) के तर्कों को पूरी ईमानदारी के साथ उपन्यस्त कर उसका समूल खण्डन करते थे और अन्तिम चरण में अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना करते थे।

पूर्वपक्षियों का मत उपस्थित करने से पूर्व आचार्यगण उनके सिद्धान्तों का सांगोपांग अध्ययन करते थे ताकि उन्हें यथार्थरूप में प्रस्तुत किया जा सके। इस प्रकार की खण्डन–मण्डन पद्धति हमें आचार्य आनन्दवर्धन–प्रणीत **ध्वन्यालोक** में देखने को मिलती है।

मूलग्रंथों के भाष्य, टीका, उपटीका, टिप्पणी एवं क्रोडपत्र आदि में भी इसी पद्धति का आश्रय लिया जाता था। आचार्य मल्लिनाथ ने तो अपनी टीकाओं में एक विशिष्ट आदर्श का पालन किया जो उन्होंने स्वयं निश्चित किया था–

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया।

नाऽमूलं लिख्यते किञ्चिन्नाऽनपेक्षितमुच्यते॥

अर्थात् मूलपाठ के अन्वयानुसार ही मैं सारी व्याख्या कर रहा हूँ। न मैं ऐसा कुछ लिख रहा हूँ अपनी टीका में जो कि मूलाभिप्राय के विरुद्ध हो अथवा उससे समञ्जस न हो और न ही 'अनपेक्षित' वक्तव्य प्रस्तुत कर रहा हूँ।

प्राचीन आचार्यों की शोधदृष्टि का प्रमाण हमें आचार्य शंकर के शारीरकभाष्य, पतञ्जलि के महाभाष्य तथा अभिनवगुप्त, माल्लिनाथ, वीरराघव, जगद्धर, वल्लभदेव तथा समुद्रबन्ध आदि की टीकाओं में उपलब्ध होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने तो नाट्यशास्त्र की टीका 'अभिनवभारती' में लिखा

तस्मात्सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।

पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति॥

अर्थात् हमने अपनी टीका में श्रेष्ठ विद्वज्जनों के मतों को दूषित नहीं किया है बल्कि उन्हें संशोधित भर किया है। पूर्वप्रतिष्ठापित मतों के समादर से मौलिक प्रतिष्ठा का ही फल मिलता है।

आचार्य अभिनव के कथन का संकेत अत्यन्त गम्भीर है जिससे निम्न अभिप्राय प्रकट होते हैं

(1) यदि पूर्वाचार्यों का मत सुचिन्तित एवं निर्दोष है तो अकारण उनमें कमी नहीं दिखानी चाहिये, उनका खण्डन नहीं करना चाहिए।

(2) मात्र अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिये दूसरे के सिद्धान्त का खण्डन करने से पूर्व, दूसरे के सिद्धान्त की युक्तियुक्तता पर भी विचार करना

चाहिये।

(3) यदि पूर्वपक्षी के मत में परिष्कार मात्र करने से अपना काम चल जाय तो परिष्कार मात्र ही करना चाहिये,खण्डन नहीं।

(4) शोध अथवा सिद्धान्त के सन्दर्भ में राग अथवा द्वेषभाव का बद्धमूल होना ठीक नहीं है।

आचार्य अभिनवगुप्त खण्डनात्मक, मण्डनात्मक तथा परिष्कारात्मक– तीनों ही शैलियों का प्रयोग करते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन के मतों के अनुमोदन में वह पूर्णतः मण्डनात्मक पद्धति अपनाते हैं तो अभिधावादियों द्वारा अभिधाशक्ति से ही व्यङ्ग्यार्थ का बोध कर लेने का जोरदार खण्डन करते हैं और कहते हैं कि आप तो अपनी जिद **खड्गलक्षणन्याय** से मनवाना चाहते हैं। भला संकेत सम्बन्ध से वाच्यार्थमात्र प्रदान करने वाली तथा वाच्यार्थ प्रदान कर (विश्रम्य व्यापाराभावः) विश्रान्त (अन्य अर्थ प्रदान करने में असमर्थ) हो उठने वाली **अभिधा** चतुर्थकक्ष्यागत व्यङ्ग्यार्थ को कैसे देगी? जैसे कोई सैनिक लौहकार से कहे कि हमें आतान–वितानात्मा, काटने में अक्षम, स्वयं कट जाने वाला, कोमल धागों से बना एक खड्ग चाहिये। तो लौहकार विस्मित होकर कहेगा कि यह तो वस्त्र का लक्षण है। खड्ग का नहीं। परन्तु सैनिक जिद पर अड़ा रहे कि नहीं नहीं, मुझे तो बस ऐसा ही खड्ग चाहिये (जो असम्भव है। ठीक उसी प्रकार, अभिधावादी आचार्य अभिधाशक्ति से व्यंग्यार्थ प्राप्त करने की बात कहते हैं, जो कि सर्वथा असंभव है।

आचार्य भट्टनायक के मत में अभिनवगुप्त मात्र परिष्कार करते हैं। वह

कहते हैं कि आपने ध्वनि को काव्य का अंगमात्र माना अंगी नहीं, तो आपका यह कथन यदि वस्तु एवं अलंकार–ध्वनि के सन्दर्भ में है तो ठीक है। परन्तु रसध्वनि को तो आपने स्वयं काव्य की आत्मा मान रखा है–

यदूचे भट्टनायकेन–काव्येंऽशत्वं न रूपिताइति।

तद्वस्त्वलंकारध्वन्योरेव यदिनामोपालम्भः,

रसध्वनिस्तु तेनैवात्मतयाङ्गीकृतः।

यह एक प्रकार से **भट्टनायक** के मत में परिष्कार करना हुआ।

पूर्वपक्षी का **स्वमतविरोध** अथवा **वदतोव्याघात** प्रदर्शित कर देने से भी अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो जाती है। अभिनवगुप्त आचार्य भट्टनायक के ही मन्तव्य से उनका ध्वनिविरोध समाप्त कर देते हैं–

यथोक्तम्–योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।

शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना।।

तेन यदुक्तम्–ध्वनिर्नामाऽपरो योऽसौ व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।

तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्याङ्गत्वं न रूपिता।।

इति तदपहस्तितं भवति। तथाह्यभिधाभावनारसचर्वणात्मा कोऽपि त्र्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवितभूतेति भवतोऽप्यविवादोऽस्ति। यथोक्तं त्वयैवकाव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्। इति।

तद्वस्त्वलंकारध्वन्यभिप्रायेणाङ्गमात्रत्वमिति सिद्धसाधनम्।

रसध्वन्यभिप्रायेण तु स्वाभ्युपगमप्रसिद्धिसंवेदनविरुद्धमिति।।

–ध्वन्यालोकलोचन, प्रथमोद्योत

इकाई 3 (ख)

अनुसन्धान का आधुनिक अभिप्राय : वैश्विक स्तर पर

परन्तु आज जिस अर्थ में अनुसन्धान का प्रयोग हो रहा है वह एक सीमित, संकुचित दायरे में किया जाने वाला ऐसा अध्ययन है जिससे नये तथ्यों का उन्मीलन हो सके। अतः इस प्रकार का शोधकार्य विश्वविद्यालयीय शैक्षिक पाठ्यक्रमों की ही भाँति एक सुनिश्चित पाठ्यक्रम है जिसे प्रत्येक छात्र को सम्पन्न करना होता है। उसे शोधप्रबन्ध के माध्यम से अपने अध्ययन के परिणामों तथा उपलब्धियों को प्रस्तुत करना होता है।

इस प्रकार, आधुनिक सन्दर्भ में शोध का अर्थ है नवीनतथ्यों की खोज अथवा प्राप्त तथ्यों की नये आलोक में समीक्षा, उसका खण्डन–मण्डन। इसीलिये आधुनिक शोध को परीक्षण (Examination) अथवा मूल्यांकन (Assessment) भी कहते हैं। प्रायः सभी विश्वविद्यालय अनुसन्धान को परिभाषित करने के लिये एक विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग करते हैं जो इस प्रकार की होती है–

(i) It is an original contribution to knowledge characterised by discovery of facts and their significance or by a new inter– pretations of facts or theories.

(ii) It evinces the candidate's capacity for critical examination and sound judgement.

(iii) The literary presentation is in a form suitable for

publication.

शोधकार्य का प्राणतत्त्व है– नये तथ्यों की खोज! इस कार्य में शोधकर्त्ता की आलोचनात्मक प्रतिभा तथा उसके ठोस निष्कर्षों का सर्वाधिक महत्त्व होता है। साहित्यिक प्रस्तुति भी शोधकार्य की विशेषता मानी जाती है।

जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर के युवा प्राध्यापक डॉ. गोविन्द दत्तात्रेय गन्धे ने अत्यन्त श्रमपूर्वक अनुसन्धान की कतिपय आधुनिक परिभाषाओं को संकलित किया है। पाठकों के लाभार्थ वह अंश अविकलरूप से उद्धृत किया जा रहा है।

किसी भी ज्ञान की शाखा में नवीन तथ्यों की खोज के लिये सावधानीपूर्वक किये गये अन्वेषण या जाँच–पड़ताल को अनुसन्धान की संज्ञा दी जाती है। **–एडवांस्ड लर्नर डिक्शनरी ऑफ करेण्ट इंगलिश**

तथ्यों या सिद्धान्तों की खोज के लिये, सावधानीपूर्वक किया गया एक अन्वेषण अथवा किसी एक विषय में की गई निरन्तर सावधानीपूर्वक जाँच अथवा अन्वेषण अनुसन्धान कहलाता है।**–दि न्यू सेञ्चुरी डिक्शनरी**

अनुसन्धान वह है जो अवलोकित तथ्यों का संभावित वर्गीकरण, सामान्यीकरण और सत्यापन करते हुए, पर्याप्त रूप से वस्तुविषयक और व्यवस्थित हो। **–लुण्डवर्ग**

अनुसन्धान वस्तुओं, प्रत्ययों और संकेतों आदि को कुशलतापूर्वक व्यवस्थित करता है जिसका उद्देश्य सामान्यीकरण द्वारा विज्ञान का विकास, परिमार्जन अथवा सत्यापन होता है, चाहे वह ज्ञान व्यवहार में सहायक हो अथवा

कला में।**—इन्साक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज़**

अनुसन्धान की परिभाषा, ज्ञान की खोज में प्रमाणीकृत कार्य–रीतियों के प्रयोग के रूप में की जा सकती है।**—सोशल रिसर्च वर्क : ए डिकेड ऑफ रिअप्राइज़ल ऑफ सोशल सर्विसेज़ (अर्नेस्ट ग्रीनबुड)**

अनुसंधान एक बौद्धिक प्रक्रिया है जिसमें किसी समस्या का निर्धारण कर उस समस्या को यत्नपूर्वक, वैज्ञानिक पद्धति से निष्पक्ष रूप से, तटस्थभाव से हल करने का प्रयत्न किया जाता है तथा प्राप्त निष्कर्षों, परिणामों की समीक्षा करना तथा प्रमाणों एवं तर्कों के आधार पर नवीन परिणामों, सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करना अनुसंधानकार्य के अन्तर्गत आता है। तुलनात्मक अध्ययन का क्षेत्र यद्यपि भिन्न है तथापि उसके उद्देश्य को देखते हुए उसे अनुसन्धान के अंतर्गत सम्मिलित किया जा सकता है।

इकाई –4 (क)

अनुसन्धान की आवश्यकता (Need of Research)

मानव सभ्यता के क्रमिक विकास के फलस्वरूप जब मानव एक संगठित जीवन, एक समाज एवं समुदाय के रूप में व्यतीत करने लगा तो यह आवश्यकता महसूस हुई कि मानव निरन्तर सुखमय जीवन व्यतीत कर सके। इस प्रकार की जिज्ञासा जो आवश्यकता पर आधारित है को अनुसन्धान की जननी कहा गया है। यहाँ पर इस कथन का प्रतिपादन हो जाता है कि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। निम्न तीन प्रकार की आवश्कताओं के कारण अनुसन्धान होते हैं।

(1) प्राचीन मानव के अनुसन्धान करने में जो मान्यता निहित थी वह आश्रय प्राप्त करने, शरीर को ढँकने हेतु वस्त्र प्राप्त करने तथा सुरक्षित जीवन यापन की थी। जिसे हम समस्या–उन्मुख अनुसन्धान की संज्ञा दे सकते हैं।

(2) संसार में स्पष्ट और वास्तविक स्वरूप में जानकारी प्राप्त करने की दृष्टि से भी अनुसन्धान की प्रक्रिया आरंभ होती है जो मानव की निम्न जिज्ञासा पर आधारित होती है–

(क) संसार क्या है? जीवन तथा प्राणी क्या है? पृथ्वी का मुख्य केन्द्र कहाँ है? इसकी जानकारी के लिए मानव सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में बहुत अधिक सक्रिय रहा।

(ख) जल के नीचे क्या घटना घट रही है इसकी जानकारी प्राप्त

करने के परिणाम स्वरूप 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में समुद्र विज्ञान एक विषय के रूप में हमारे सामने आया।

(ग) इसी प्रकार पृथ्वी की सतह के नीचे क्या हो रहा है और क्या चीजें पृथ्वी के गर्भ में छुपी हैं इसको जानने की जिज्ञासा एवं अनुसन्धान के परिणाम स्वरूप भू–गर्भ विज्ञान का जन्म हुआ।

(3) अनुसन्धान की प्रवृत्ति और क्रिया–कलापों को सक्रिय बनाने में मानव–प्रयासों का जो तृतीय चरण रहा है वह है मानव की बौद्धिक क्षमता का प्रयोग करने की जिज्ञासा। इस तथ्य को हम मानव के प्रारंभिक विकास और प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास से पता लगा सकते हैं। अपने उपकरणों को उन्नत करने की प्रबल इच्छा का ही परिणाम है कि आज उपग्रह के माध्यम से सूचना का सम्प्रेषण हो रहा है।

इस प्रकार इन तीन अंकित तथ्यों एवं उपलब्धियों को मानव के अनुसंधान की प्रवृत्ति और जिज्ञासा का परिणाम मान सकते हैं। आज के युग में इन्हें मानव– उपलब्धियों की उच्च पराकाष्ठा कह सकते हैं।

वस्तुतः अनुसन्धान की प्रवृत्ति भी दो प्रकार की परिलक्षित होती है– आत्मनिष्ठ (Subjective) तथा वस्तुनिष्ठ (Objective)। आत्मनिष्ठ अनुसन्धान के बीज हमें ऋग्वेद के नारदीयसूक्त में ही मिलने लगते हैं जहाँ ऋषि यह सोचने लगता है कि – **को अद्धा वेद कुत इयं विसृष्टिः?** अर्थात् सचमुच कौन जानता है (यह रहस्य) कि यह सृष्टि कहाँ से प्रारंभ हुई?

सृष्टिविषयक इन्हीं गूढ, रहस्यात्मक प्रश्नों ने अध्यात्म को जन्म दिया।

भारतीय ऋषि–महर्षि शरीर–संरचना, आत्मा, परमात्मा, मन, बुद्धि, अहंकार, पंच तन्मात्रा, पंचमहाभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय तथा स्थावर–जंगमात्मक सृष्टि के विषय में चिन्तन करने लगे। श्वेतकेतु का उपाख्यान ऐसे आध्यात्मिक अनुसंधान का सर्वोत्तम निदर्शन है। कालान्तर में इन्हीं तत्त्वमीमांसाओं ने षड्दर्शन को जन्म दिया।

आत्मनिष्ठ अनुसन्धान की ही तरह वस्तुनिष्ठ अनुसन्धान भी विकसित हुआ प्रकृति के गूढ रहस्यों को जानने के उद्देश्य से। इस अनुसन्धान ने ही ज्यौतिष, खगोल, समुद्रविज्ञान, भौतिकी, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, खनिजविज्ञान, मौसमविज्ञान एवं उपग्रहविज्ञान को जन्म दिया।

अथर्ववेद ऐसी गूढ़ जिज्ञासाओं का महासागर–सा प्रतीत होता है। पाप्यनाशन (6–26), अरिष्ट क्षयण (6.27), यातुधान-क्षयण (6.32), शापनाशन (6.37), मन्युशयन (6.43), दुःस्वप्न नाश (6.46), अमित्रदम्भन (6.54), सर्परक्षणादि (6.56), सैकड़ों एसे सन्दर्भ हैं जो ऋषि के मन तथा बुद्धि हलचल पैदा कर देते हैं और वह केवल श्रम में उनका समाधान खोजने लगता है।

कहीं–कहीं अभिव्यक्तियाँ प्रहेलिका कल्प प्रतीत होती हैं। प्रश्न भी पूछता है ऋषि, उत्तर भी देता है। तथापि समाधान शोध के ही गर्भ में कहीं विलीन प्रतीत होता है। काण्ड 20 का 132वाँ सूक्त इसका निदर्शन है–

आदलाबुकमेककम् ।।1।।

अलाब्रकं निखातकम् ।।2

कर्करिको निखातकः ॥3॥

तद्वात उन्मथायति ॥4॥

कुलायं कृणयादिति ॥5॥

उग्रं वनिपदाततम् ॥6॥

न वनिपदनाततम् ॥7

क एषां कर्करीं लिखत्॥8॥

क एषां दुन्दुभिंहनत् ॥9

यदीयं हनत्कथं हनत् ॥10॥

देवीहनत्कुहनत् ॥11॥

पर्यागारं पुनः पुनः॥12॥

इकाई –5 (क)

अनुसन्धान–क्षेत्र के प्रति भारतीय दृष्टि

ज्ञान की जड़ें भारतीय–समाज में लाखों–करोड़ों वर्ष पहले गहराई में विद्यमान थीं। उसका प्रमाण वेदों का मंत्रसाहित्य तथा उपनिषदों की ब्रह्मचर्चा–गोष्ठियाँ। परन्तु आश्चर्य है कि ईसा पूर्व चौथी सहस्राब्दी में भी सुमेर, बेबिलोन, मिश्र तथा असुर संस्कृतियों को यह भी नहीं ज्ञात था कि 'मृत्यु' क्या होती है? कुछ और प्रश्न हैं जो भारतीय ज्ञान–स्तर की तुलना में उनके **अधरत्व** के सूचक हैं जैसे –

1. सुमेरियन पुराकथा के अनुसार नपुंसक, वन्ध्यास्त्री, जर्जर वृद्धावस्था तथा असाध्यरोगादि अनभीष्ट सृष्टियाँ देवताओं के झगड़े के कारण हुई। जलदेवता (एनकी) तथा पृथ्वी (निन्याह) का विवाद इसके मूल में था। देवी एनकी ने निम्यम् देवी के शरीर की मिट्टी से पुरुष को बनाना प्रारम्भ ही किया था कि पृथ्वी से विवाद हो गया कि क्या ऐसा भी स्त्री पुरुष बनाया जा सकता है जिसे समाज स्वीकार ही न करे? निन्याह ने नपुंसक और वन्ध्या को बनाया। परन्तु समाज नें उन्हें अपने में शामिल कर लिया। तब एनकी नें वृद्ध व्यक्ति को बनाया। परन्तु उसे समाज में कहीं भी स्थान नहीं मिला। कुपित होकर पृथ्वी नें जलदेवता को शाप दे दिया– तुम सदैव गर्तों में ही रहोगे तुम्हार उत्त्थान नहीं हो सकता।

2. सुमेरियन बहुदेववादी थे। परन्तु उनके देवों का विभाजन शुभाशुभ

अथवा पाप–पुण्य के नियामकों में नहीं हो पाया था। वे मनुष्य की तय इच्छानुसार दोनों कार्य कर सकते थे।

3. वेविलोनियन धर्म भी आध्यात्मिक तथा भौतिक नहीं था भारत की तरह। सारे देवता प्रतिक्रियावादी थे तथा मानव जैसा आचरण करते थे, अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने पर।

4. परलोक के नाम पर सुमेर तथा वेविलोन दोनों ही केवल 'पाताल' को जानते थे जो पृथ्वी के नीचे अन्धकाराछन्न लोककथा जहाँ नदी वैतरणी पार कर जाना पड़ता था। बिना मरे कोई वहाँ नहीं जा सकता था तथा सकृत–गत्वा लौट भी नहीं सकता था।

ऐसी अनेक बातें हैं जो उन संस्कृतियों का आध्यात्मिक स्तर भारत की तुलना में अत्यन्त सामान्य सिद्ध करती हैं। भारतीय उपनिषदों में प्रतिपादित आध्यात्मिक ज्ञान है तो विलक्षण है जो मानव संरचना की राई–रत्ती व्याख्या करता है। शरीर की पाञ्चभौतिकता, आत्मा की अनश्वरता, आत्मा तथा परमात्मा का अन्तःसंबन्ध, चतुर्विध सृष्टि का निर्माण, पञ्चमहाभूत, पञ्चतन्मात्रा, बुद्धि, अहंकार, अन्तःकरण, पुनर्जन्म– सबकुछ भारतीय उपनिषदों से हस्तामलकवत् प्रकाशित है।

इस प्रकार भारतीय ऋषियों–मुनियों की दृष्टि में वास्तविक अनुसंधान तो **आध्यात्मिक** कोटि का ही हो सकता है। परन्तु जिस अनुसंधान की चर्चा यहाँ की जा रही है वह तो विशुद्ध भौतिक अथवा भूलोकीय स्तर का है। उसे भी हम कई वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

(क) मानविकी– मानव जीवन से सम्बद्ध विषयों की खोज

(ख) आधिदैविक– देवताओं के साथ मनुष्यों के अन्तःसम्बद्ध पर आधारित अनुसंधान।

(ग) विश्वरचनात्मक– पुराणों का भुवनकोष जिसमें निर्देश है कि पृथ्वी का इतना भाग पानी से ढँका हुआ है। सामुद्रिक वस्तुओं की जानकारी के लिए तथा उनकी उपलब्ध सामग्री को मानवोपयोगी बनाने की दिशा में भी अनुसन्धान किये जाते हैं।

(घ) यान्त्रिकी– अनेक क्षेत्रों में मशीनों का उपयोग हो रहा है, अतः मानव के कई कार्य मशीनीकरण द्वारा किया जाना अनुसन्धान का ही विषय है।

(ङ) सूचना–संग्रह की खोज– आज के युग में यह भी अनुसन्धान का विषय बन गया है क्योंकि यह आधुनिक युग सूचना का युग कहा जाता है।

(च) इसके अतिरिक्त भाषा, समाज विज्ञान, साहित्य, कला, संस्कृति आदि अनेक क्षेत्र हैं जिनमें अनुसंधान किया जाता है।

परन्तु मेरी दृष्टि में मात्र (च) विन्दु में उल्लिखित क्षेत्र ही मानविकी (Humanities) विषय से जुड़े शोधच्छात्रों के लिये उपयोगी है। वस्तुतः तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो आज साहित्यिक एवं सांस्कृतिक शोधों की आवश्यकता, वैज्ञानिक शोधों की तुलना में अधिक है। वैज्ञानिक शोधों से विश्वमानवता का हित नहीं हो पा रहा है। शक्ति–सन्तुलन की प्रतिस्पर्धा में

उन्मत्त राष्ट्र शक्तिहीन राष्ट्रों को जीने नहीं दे रहे हैं। चारों ओर रक्तपात, नरसंहार, गरीबी, अशिक्षा एवं पशुता बढ़ रही है। विज्ञान की शोधें अब पुरुष के पेट से भी शिशु प्रजनन का स्वप्न देख रही हैं। भ्रूण–परीक्षण के दुष्परिणाम से भी विश्व संत्रस्त हो चुका है। ऐसी स्थिति में धर्म, संस्कृति एवं साहित्य ही विश्व की रक्षा कर सकता है।

इकाई—6

अनुसन्धान के प्रकार

अनुसन्धान के प्रकार अनन्त हो सकते हैं। सच तो यह है कि हर व्यक्ति जीवन में, जाने या अनजाने, कुछ–न–कुछ अनुसन्धान करता ही रहता है। अतः यह मानना कि अनुसन्धान मात्र शिक्षाजगत् से ही जुड़ा विषय है, हमारी कोरी भूल होगी।

जब आज की तरह धर्म–काँटे नहीं थे, विशालकाय क्रेने नहीं थीं तब क्या हाथी तक नहीं तौले जाते थे! तब क्या 27 टन का अकेला एक पाषाण–पिण्ड **बृहदीश्वर मन्दिर** (तंजोर सन् 1006 ई0) के शिखर पर नहीं पहुँचा दिया गया था?

एक बार शेर के आक्रमण से स्वयं को बचाने वाले अपने हाथी के बराबर तौल की स्वर्ण मुद्रों, आलमगीर औरंगजेब ने गरीबों में बाँटने का निश्चय किया। परन्तु समस्या आई हाथी को तौलने की। एक बुद्धिमान मछुआरे ने अपने अनुसन्धान से यह समस्या क्षणभर में हल कर दी। उसने विशाल नाव पर हाथी को चढ़ाया। नाव जहाँ तक पानी में डूबी उसे मछुवारे ने गेरू से रेखांकित कर दिया। फिर उसने उसी रेखा के डूबने तक, यानी रेखा के बराबर नाव में मुद्रायें भरवा दीं और तौल सम्पन्न हो गई।

डॉ. गन्धे ने अपनी लघुपुस्तिका **शोधालोक** में आधुनिक विद्वानों के मतों का संग्रह करते हुए, कुछ और उपयोगी सामग्री एकत्र की है। उन्हें भी जान लेना लाभप्रद होगा। शिक्षा–व्यवस्था एवं आधुनिक शैक्षिक पाठ्यक्रमों के

विशेषज्ञ इन विद्वानों के अनुसार, शैक्षणिक अनुसन्धान के निम्नलिखित प्रकार होते हैं।

1. अवलोकन अनुसन्धान

अवलोकन का तात्पर्य है वास्तविकता, तथ्य, व्याख्या को संग्रहीत करके उनको लिखना। अथवा उन्हें परोक्ष सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में बड़े व्यापक क्षेत्र में प्रयुक्त किया गया है, जिससे अवलोकनकर्त्ताओं को सामाजिक क्रियाकलापों में सम्मिलित होना पड़ता है और उसके आसपास होने वाली क्रियाओं को देखना पड़ता है। अवलोकन अनुसंधान के लिए अवलोकन सर्वे प्रयोग में लिया जाता है। खगोलविज्ञान में बहुत से तथ्य अवलोकन के द्वारा ही ज्ञात किये जाते हैं। यह अनुसन्धान के प्रथम चरण का निर्माण करता है।

2. आनुभविक अनुसन्धान

इस अनुसन्धान के अन्तर्गत अवलोकन के परिणामों को संकलित कर वर्गीकृत किया जाता है और उनके आधार पर सांख्यिकी विधि से निष्कर्ष निकालकर साधारण समीकरण, सहसम्बन्ध तथा निश्चित तथ्यों के सामान्यीकरण सम्बन्धों का प्रयोग किया जाता है। उन्हें पूर्वानुपाती आयाम कहते हैं। जिस मानसिक प्रक्रिया के आधार पर नियमों को निकालते हैं उन्हें अनुमान कहते हैं। अनुमान के लिए आवश्यकतानुसार बुद्धि की अपेक्षा होती है। इसे आनुभविक अनुसन्धान की संज्ञा दी जाती है। यह अनुसन्धान–वास्तविक अनुसन्धान है।

3. मौलिक अनुसन्धान

आनुमानिक नियमों के विपरीत मौलिक नियम बिना किसी बौद्धिक साधना के प्राप्त किये जा सकते हैं। वास्तव में इसमें आन्तरिक ज्ञान का अत्यधिक प्रभाव होता है। आन्तरिक ज्ञान द्वारा बिना किसी बुद्धिव्यायाम के चेतना, बुद्धि, प्रत्यक्ष आदि वस्तुओं की जानकारी स्वतः ही हो जाती है।

एक मनुष्य जिसे यह ज्ञान हो जाता है उसे सिद्ध या सनमहात्मा कहते हैं।

4. पूर्व अनुसन्धान

इसके अन्तर्गत हम जिस प्रक्रिया में कार्य करते हैं वह अनुमान है। अनुसन्धान के अन्तर्गत बुद्धि की एक मुख्य भूमिका होती है। इसके दो भाग होते हैं– (1) विशुद्ध अनुसन्धान, (2) अनुप्रयुक्त अनुसन्धान।

6. विकासात्मक अनुसन्धान

विकासात्मक अनुसन्धान वह शब्द है जो या तो पूर्वगामी अनुसन्धान है या प्रयोगवादी अनुसन्धान से उत्पन्न होता है तथा यह पूर्व प्राप्त परिणाम जो आवश्यक एवं तत्कालीन उपयोगिता को प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं, के मध्य सम्बन्ध तथा सुधार लाता है। इस अनुसन्धान की आवश्यकता सभी उद्योगों में जानी जाती है तथा कई उद्योगों के पार्श्व में इस विकासात्मक अनुसन्धान को देखा जा सकता है।

इकाई –7

शोधप्रविधि की विविध पद्धतियाँ (पारम्परिक)

यदि भारतीय पद्धति से विचार किया जाय तो शोध की दो ही प्रमुख पद्धतियाँ होनी संभव हैं–साहित्यिक एवं शास्त्रीय (Hiterary & Technical) वस्तुतः शास्त्रीय प्रविधि के ही अन्तर्गत वे सारी पद्धतियाँ आ जाती हैं जिन्हें हम **वैज्ञानिक** संज्ञा देते हैं। भौतिकी, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, जीवविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान, कृषिशास्त्र, स्थापत्य, मन्दिरविज्ञान (Iconography), मुद्राशास्त्र (Numismatics) पर्यावरण, भू–भौतिकी तथा आधुनिक उपग्रहविज्ञानादि विषयों से जुड़ी शोध–प्रविधियाँ **शास्त्रीय** शीर्षक के ही अन्तर्गत आ जायेंगी। दूसरी ओर **साहित्यिक प्रविधि** है जिसके अन्तर्गत साहित्य, धर्म, संस्कृति तथा विश्वमानवता आदि समस्त विषय अन्तर्भूत हो सकते हैं।

परन्तु आधुनिक विद्वानों ने, जो कि प्रायः पाश्चात्यलेखकों से अधिक प्रभावित हैं तथा एक सीमा तक **भारतीयशोधदृष्टि** से अपरिचित भी हैं, कुछ और व्याख्या की है। N.P. इन अनुसन्धानकर्त्ताओं के द्वारा प्रमुख रूप से दो आधारों पर शोध प्ररचना को वर्गीकृत किया जाता है–

1. अध्ययन के उद्देश्य के आधार पर वर्गीकरण

उद्देश्य के आधार पर अनुसन्धान–प्ररचना के प्रमुख रूप से पाँच प्रकार देखने को मिलते हैं।

(अ) अन्वेषणात्मक शोध प्ररचना।

(ब) विवरणात्मक शोध प्ररचना।

(स) निदानात्मक शोध प्ररचना।

(द) प्रयोगात्मक शोध प्ररचना।

(य) मूल्यांकनात्मक शोध प्ररचना।

2. अध्ययन के उपागम के आधार पर वर्गीकरण

(अ) सर्वेक्षण से सम्बन्धित शोध प्ररचना।

(ब) क्षेत्र अध्ययन सम्बन्धी अनुसन्धान प्ररचना।

(स) प्रयोग सम्बन्धी अनुसन्धान प्ररचना।

(द) ऐतिहासिक अनुसन्धान प्ररचना।

(य) वैयक्तिक अध्ययन सम्बन्धी प्ररचना।

सेलिज–जहोद ने अपनी पुस्तक ''रिसर्च मेथड्स इन सोशल रिलेशन्स'' में शोध प्ररचना को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है।

(अ) अन्वेषणात्मक अथवा निरूपणात्मक शोध प्ररचना।

(ब) वर्णनात्मक या निदानात्मक शोध प्ररचना।

(स) प्रयोगात्मक या परीक्षणात्मक शोध प्ररचना।

(अ) अन्वेषणात्मक अथवा निरूपणात्मक शोध प्ररचना–

अन्वेषणात्मक अथवा निरूपणात्मक शोध प्ररचना का प्रयोग सीमित ज्ञान

के विषय में अधिक ज्ञान की खोज करने के लिए अथवा अज्ञात तथ्यों के बारे में पता करने के लिए किया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि अन्वेषणात्मक शोध प्रचना का प्रयोग उन अध्ययनों के लिए किया जाता है जिनके विषय में कम जानकारी है।

अन्वेषणात्मक शोध प्रचना को परिभाषित करते हुए जहोद एवं अन्य ने कहा है–''अन्वेषणात्मक अनुसन्धान अनुभव जो कि सम्बन्धित उपकल्पनाओं के निर्माण में सहायक होगा जिनसे सुनिश्चित खोज की जा सकेगी, के लिए आवश्यक है।''

"Exploratory research to obtain the experience which will be helpful informulating relevant hypothesis for more definite investigation."[1]

अन्वेषणात्मक अथवा निरूपणात्मक शोध प्रचना की आवश्यकता प्रमुख रूप से अध्ययन के विषय में आधारभूत ज्ञान प्राप्त करने के लिए होती है। एक तरह के प्राथमिक खोज के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है।

अन्वेषणात्मक शोध प्रचना के उद्देश्य

अन्वेषणात्मक शोध प्रचना के निम्न उद्देश्य हैं। इन उद्देश्यों को भी कार्यों के रूप में देखा जा सकता है।

(1) अनुसन्धान विषय के सम्बन्ध में आधारभूत ज्ञान प्राप्त करना।

---

[1] सविस्तर द्रष्टव्य : शोधालोक, डॉ. गोविन्द दत्तात्रय गन्धे

(2) तत्कालीन स्थितियों के सम्बन्ध में सूचनों प्रदान करना।

(3) अनुसन्धान की सम्भावनाओं को जानना।

(4) नवीन उपकल्पनाओं को प्रदान करना।

(5) अवधारणाओं का स्पष्टीकरण एवं नवीन अवधारणाओं का पता करना।

(6) अनिश्चित समस्याओं को निश्चितता प्रदान करना।

अन्वेषणात्मक शोध प्ररचना की निम्न विधियाँ हैं–

1. सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण–

उपकल्पनाओं को विकसित करने में शोध–समस्या को सही रूप से निर्धारित करने में सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण करना आवश्यक होता है। सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण सबसे आसान एवं उपयुक्त तरीका है जिसमें अनुसन्धान–समस्या के स्पष्टीकरण में सहायता मिलती है। सम्बन्धित साहित्य के सर्वेक्षण में, समस्या से सम्बन्धित साहित्य, शोध–प्रतिवेदन, पुस्तकों सन्दर्भों, पत्रिकाओं तथा लेखों का सहारा लिया जाता है।

2. अनुभव सर्वेक्षण–

जिस समस्या का अध्ययन किया जा रहा है उसके सम्बन्ध में व्यावहारिक ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों का सर्वेक्षण किया जाना, अन्वेषणात्मक शोध प्ररचना के लिए आवश्यक होता है। यह आवश्यक नहीं होता है कि समस्या के सम्बन्ध में समस्त जानकारी प्रकाशित या लिखित रूप में उपलब्ध हो। समस्या के

अनेक पक्षों के सम्बन्ध में व्यावहारिक ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों के अपने अनुभव बहुत लाभकारी होते हैं।

3. अन्तर्दृष्टि प्रेरक घटनाओं का विश्लेषण–

अन्वेषणात्मक शोध प्ररचना के लिए महत्त्वपूर्ण आधार अन्तर्दृष्टिप्रेरक घटनाओं का विश्लेषण है। अन्तर्दृष्टिप्रेरक घटनाओं का विश्लेषण वैयक्तिक अध्ययन पद्धति से किया जाता है। इन अध्ययनों में अनुसन्धानकर्त्ताओं को अनेक तत्त्व प्रेरित करते हैं जो निम्न प्रकार के हैं।

(1) अपरिचितों की प्रतिक्रियाएँ।

(2) सीमान्त व्यक्तियों से आशय है–वे व्यक्ति जो समुदाय से न तो परिपूर्ण रूप से घुलमिल जाते हैं और न ही उनसे पृथक रहते हैं।

(3) संक्रमणकालीन अध्ययन।

(4) विधिशास्त्रीय समस्यायें।

(5) व्यक्तियों की विशेषतों।

(6) सामाजिक संरचना की विभिन्न स्थितियाँ।

(ब) वर्णनात्मक एवं निदानात्मक शोध प्ररचना–

वर्णनात्मक शोध अध्ययन उन अध्ययनों से सम्बन्धित होते हैं जब किसी विशिष्ट व्यक्ति या समूह की विशेषताओं का वर्णन करना समस्या का उद्देश्य रहता है। अर्थात् वर्णनात्मक अध्ययन प्ररचना का सम्बन्ध समस्या के संबंध में

पूर्ण यथार्थ एवं विस्तृत सूचनों प्रदान करना होता है। इस प्रकार के अध्ययनों का सम्बन्ध अध्ययन की समस्या के सम्बन्ध में समस्त विवरणों को प्राप्त करना होता है।

निदानात्मक शोध, अध्ययन समस्या से सम्बन्धित तथ्यों का वर्णन प्रस्तुत करता है। इसके द्वारा उन कारणों को खोजने का प्रयास किया जाता है जो कि समस्या के लिए उत्तरदायी होते हैं। किसी घटना की बारम्बारता क्यों हो रही है इसका पता लगाया जाता है। किसी घटना का सम्बन्ध किन कारणों से है इसको जानने का प्रयास किया जाता है।

समस्या का निदान सुझाते हैं। ये उपकल्पनाओं द्वारा पूर्णतया निर्देशित होते हैं। इस प्रकार के अध्ययनों का प्रमुख उद्देश्य उपचार पर अधिक बल देना है।

इस प्रकार के अध्ययनों में लचीलापन नहीं होता अर्थात् एक निश्चित चरणों से होकर अध्ययन करना पड़ता है। इन अध्ययनों में निम्न बातों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है

1. अध्ययन के उद्देश्यों का निर्धारण किया जाता है। अर्थात् यह तय किया जाता है कि अध्ययन किसके बारे में है तथा यह अध्ययन क्यों किया जा रहा है?

2. तथ्यों के संकलन की पद्धतियों को तय किया जाता है अर्थात् यह निश्चित किया जाता है कि तथ्यों के संकलन के लिए कौन सी तकनीक सबसे ज्यादा उपयुक्त है।

3. निदर्शन का चुनाव किया जाता है। निदर्शन की संख्या में इसको निश्चित किया जाता है।

4. तथ्यों का संकलन करना। इसके अन्तर्गत तथ्यों का संकलन कहाँ से करना है तथा किस समय करना है–इसको तय करना होता है।

5. तथ्यों का विश्लेषण करना।

(स) प्रयोगात्मक या परीक्षणात्मक शोध प्ररचना

परीक्षणात्मक शोध प्ररचना एक तरह से भौतिक विज्ञानों की तरह से होती है। इस प्रकार के अध्ययन में कुछ कारकों को नियंत्रित किया जाता है तथा कुछ कारकों को अनियंत्रित कर अध्ययन किया जाता है। प्रोफेसर फिशर ने परीक्षणात्मक शोध अध्ययनों को तीन सिद्धान्तों के आधार पर समझाने का प्रयास किया है।

(1) पुनरावृत्ति।

(2) दैव निदर्शन का सिद्धान्त।

(3) स्थानीय नियंत्रण का सिद्धान्त।

चेपिन ने परीक्षणात्मक शोध प्ररचना के सम्बन्ध में लिखा है कि **'परीक्षण नियंत्रित परिस्थितियों के अन्तर्गत अवलोकन मात्र है।'** चेपिन ने इसको और स्पष्ट करते हुए लिखा है–**'सामान्य शास्त्रीय अनुसंधान के अन्तर्गत परीक्षणात्मक शोध प्ररचना की अवधारणा नियंत्रित दशाओं के**

अन्तर्गत मानव संबंधों के अवलोकन द्वारा व्यवस्थित स्थित अध्ययन है।'

(The concept of experimental design in sociological research refers to systematic study of human relations by making observation under conditions of control.)

अध्याय- 2

खण्ड-2

शोधप्रबन्ध : स्वरूप, लेखन एवं उपकरण

प्रस्तावना

प्रायः समस्त भारतीय विश्वविद्यालयों में एम्.ए. तथा एम्-एस्.सी. आदि–1 परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के बाद शोधकार्य सम्पन्न करने की व्यवस्था है। इस शोधकार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के बाद शोधच्छात्र को पी–एच्.डी. अथवा डी.फिल्. की उपाधि प्राप्त होती है। इन्हें डॉक्टरेट डिग्री कहते हैं और इस प्रकार की डिग्री प्राप्त करने वाला विद्वान् 'डॉक्टर' कहा जाता है।

संस्कृत, न केवल भारतवर्ष की अपितु समूचे विश्व की प्राचीनतम भाषा है, जिसमें साहित्य–संरचना ई. पूर्व सातवीं सहस्राब्दी (6500 बी.सी.) में ही होने लगी, ऐसा प्रमाणित है स्वर्गीय बालगंगाधर तिलक एवं हर्मन जैकोवी के ज्यौतिषपरक अनुसन्धानों से। इतना प्राचीन वाङ्मय होने के कारण, संस्कृत का वाङ्मय अत्यन्त विविध एवं विशाल है। वैदिक वाङ्मय में यदि मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् का विशाल साहित्य है तो वेदोत्तर अभिजात संस्कृत साहित्य (Classical Sans Literature) में भी साहित्य, दर्शन एवं शास्त्रों का अपरिमित वाङ्मय है। इसके अतिरिक्त भी पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश में प्रणीत अपार बौद्ध, जैन तथा अवान्तर वाङ्मय है।

इकाई- 1

शोधप्रबन्ध एवं शोधपत्र

शोधप्रबन्ध एवं शोधपत्र का अन्तर

अनुसन्धान अथवा शोध को दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है –

(1) शोध प्रबन्ध (Thesis) तथा

(2) शोधपत्र (Research Article)

शोधप्रबन्ध (Thesis or Dissertation) एक ऐसे वृहत् शोधकार्य को मानेंगे जो शोधमानकों की सीमा में, नियमानुपालन के साथ/सम्पन्न किया गया हो। जो सचमुच किसी ऐसे विषय, ग्रंथ, सिद्धान्त अथवा सत्य का उन्मीलन कर रहा हो, जो अभी तक यथा कथञ्चित् निगूहित था। वास्तविक अर्थ में शोधकार्य उसको कहते हैं जो सांगोपांग (Exhaustive) तथा सायाम हो। जब किसी अज्ञात/अल्पज्ञात अथवा संदिग्ध ग्रन्थ अथवा विषय को तद्विषयक सर्वाङ्गीण अध्ययन द्वारा सुज्ञात अथवा पूर्णज्ञात बना दिया जाय, सर्वजनोपयोगी बना दिया जाय अथवा प्रामाणिक सिद्ध कर दिया जाए तो उसे शोधप्रबन्ध कहा जाता है।

एक समय का जबकि **'सुभाषित रत्नकोष'** की एक ही प्रति उपलब्ध थी विद्वानों के पास जिसका प्रारंभिक अंश ही नही था। उन्नीसवीं शती ई. के अन्तिम चरण में उपलब्ध इस ग्रंथ को मूल नाम कि विद्वानों को ज्ञात नहीं था।

अतः विवशता में इसे **'कविवचन समुच्चय'** के नाम से प्रकाशित किया गया। परन्तु बाद में इसी ग्रंथ की सांगोपांग प्रति जब उपलब्ध हो गई तो प्रारंभिक अंश से ज्ञात हुआ कि यह **विद्याधर पण्डित** की कृति **'सुभाषित रत्नकोष'** है। कालान्तर में प्रो. डी.डी. कौशाम्बी के सम्पादन में इस ग्रंथ का प्रामाणिक प्रकाश हार्वर्ड ओरियेण्टल सीरीज़ के अन्तर्गत किया गया।

उपर्युक्त उदाहरण से शोधप्रन्ध की प्रकृति एवं सार्थकता का बोध होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शोध का उद्देश्य होता है अँधेरे में छिपी ज्ञानराशि (= ग्रंथ) को उजाले में लाना। दूसरे शब्दों में **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** ही अनुसन्धान का लक्ष्य है।

अब, अँधेरे से उजाले में, हम किसी ग्रंथ को भी ला सकते हैं अथवा किसी विषय को भी! यदि ग्रंथ को प्रकाश में लाते हैं तो वह शोधप्रबन्ध कहा जायेगा। यदि विषय अथवा तथ्य मात्र को प्रकाश में लाते हैं तो वह शोध–पत्र कहा जायेगा। प्रो. विमलचरण लाहा ने छोटे–छोटे किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों पर शोधकार्य करने की बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। उन्होनें भारत में **दर्पण के प्रयोग** तथा **ताम्बूलभक्षण–परम्परा** जैसे विषयों पर गम्भीर शोध कार्य किया।

वस्तुतः महाकाव्य/खण्डकाव्य अथवा प्रबन्ध/मुक्तक जैसा ही अन्तस्सम्बन्ध शोधप्रबन्ध एवं शोध–पत्र के बीच में भी मान्य होना चाहिये। मेरी दृष्टि में प्रबन्धात्मक शोध के ही एकदेशीय अथवा द्वण्डात्मक स्वरूप को शोध–पत्र (Research Paper, Research Article) कहते हैं। दोनों के बीच अंश

एवं अंशी का सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है।

एक ही शोधप्रबन्ध से जुड़े अनेक शोध–पत्र भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ– **'आचार्यचरत–प्रणीत नाट्यशास्त्र का समीक्षात्मक अध्ययन'**। यह एक सांगोपांग शोधप्रबन्ध का शीर्षक है। परन्तु इसी शोधप्रबन्ध के अंगभूत अनेक उप शोध–विषय अथवा अनेक शोध–पत्र बन सकते हैं।

(1) नाट्यशास्त्रोल्लिखित शास्त्रीय सिद्धान्तों का समीक्षात्मक अध्ययन काव्य। शोधप्रबन्धन।[1]

(2) संस्कृत रंगमञ्च का आनुष्ठानिक–स्वरूप।[2]

(3) नाट्यशास्त्र में आहार्य अभिनय : एक समीक्षात्मक अध्ययन।[3]

(4) नाट्यशास्त्र के वर्णित चारी विद्यान : एक समीक्षात्मक अध्ययन।[4]

(5) नाट्यशास्त्र का लक्षण–सिद्धान्त : एक समीक्षात्मक अध्ययन।[5]

शोधप्रबन्ध तथा शोध–पत्र (शोधालेख) में एक तात्विक अन्तर यह भी है कि शोधप्रबन्ध एक तकनीकी शैक्षिक प्रक्रिया है। शोधप्रबन्ध प्रायः डी. फिल्/ पी.एच.डी./डी.लिट् अथवा एम.फिल. उपाधि प्राप्ति के लिये किसी विशेषज्ञ के निर्देशन में लिखा जाता है जबकि शोधपत्र स्वान्तःसुखाय लिखे जाते है। शोधप्रबन्ध लिखने को बाध्य अथवा विवश होता है। शोधार्थी, क्योंकि

---

[1] प्रो. राजेन्द्र मिश्र के निर्देशन में डॉ. जनार्दन प्रसाद पाण्डेय द्वारा सम्पन्न शोकार्य। इलाहाबाद वि.वि.।
[2] प्रो. राजेन्द्र मिश्र–प्रणीत शोधलेख (दो खण्ड) नाट्यम् सागर वि.वि. सागर।
[3] डॉ. कौशलेन्द्र पाण्डेय के निर्देशन में कु. सविता कुमारी द्वारा सम्पन्न शोधकार्य, 2001ई.
[4] नाट्यशास्त्रीय परम्पराओं की भास एवं कालिदास की नाट्यकृतियों में अन्विति (प्रो. राजेन्द्र मिश्र–प्रणीत शोधालेख)।
[5] प्रो. राजेन्द्र मिश्र के अन्योक्ति विषयक डी.फिल्. शोधप्रबन्ध में एक अध्याय–विशेष, 1966ई.

बिना उत्तम शोधप्रबन्ध लिखे उसे अभीष्ट शोधोपाधि नहीं मिल सकती। परन्तु शोधपत्र लेखनार्थ कोई शोधच्छात्र या विद्वान् बाध्य नहीं होता। वह शोधपत्र लिखता है अपनी आकांक्षा की पूर्ति के लिए, मान-यश के लिए, अपनी शोध तृषा के उपशम मात्र के लिए। अनेक विद्वान् तो ऐसे भी है जो जीवन यह शोधपत्र ही लिखते रहे, परन्तु सामर्थ्य रहते हुए भी, न उन्होनें शोधप्रबन्ध लिखा, न हीं कोई उपाधि प्राप्त की। फिर भी, व्यावहारिक एवं शैक्षिक दृष्टया प्रबन्धात्मक अनुसन्धान का महत्त्व ही अधिक है।

परन्तु अनुसन्धान के मार्ग में अभी भी अनेक कठिनाइयाँ है। सबसे बड़ी समस्या है– **पिष्टपेषण** की। कुछ गिने–चुने विषयों एवं साहित्यकारों पर ही बार–बार शोधकार्य हो रहे हैं– रेकाडर्स उपलब्ध न होने के कारण। शोधविषय देने वाले अध्यापकों की अल्पज्ञता के कारण भी पिष्टपेषण बढ़ रहा है।

दूसरी समस्या है **अनुसन्धान की प्रकृति के प्रति रूढ़ भावना**। प्रायः यह मान लिया जाता है कि अनुसन्धान का अर्थ है पाँच या सात अध्यायों में विभक्त एक ग्रंथ जिसमें प्रारंभिक अध्याय भूमिका का तथा अन्तिम उपसंहार (निष्कर्ष) का होगा। एक तीसरी भी समस्या है–डॉक्टरेट डिग्री का साधारणीकरण। आज पी–एच्.डी. की उपाधि एम्.ए. की अंग्रेजी उपाधि बन गई है। पिछली शताब्दी में, विशेषतः स्वातंत्र्यपूर्व दशकों में डॉक्टरेट डिग्री प्राप्त कर पाना किसी भी विद्वान् के सारस्वत श्रम की पराकाष्ठा मानी जाती थी। सौ–पचास एम्.ए. उत्तीर्ण विद्वानों में कोई एक डॉक्टर हो पाता था। परन्तु अब डॉक्टर बनना एम्.ए. हो जाने जैसा सरल कार्य है। डॉक्टरेट डिग्री की

सरलता अथवा अवमूल्यन का मूल कारण है प्राध्यापकीय पद पाने के लिये इस डिग्री का एक **अनिवार्य अर्हता** बन जाना तथा प्रकाण्ड वैदुषी का पर्याय न रह जाना।

इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि अध्यापन की मंशा रखने वाला हर कोई छात्र शोधकार्य में जुटा है चाहे उसकी शोधमानसिकता तथा शोधयोग्य प्रतिभा एवं क्षमता हो या न हो। वस्तुतः शोध हर किसी छात्र के लिये नहीं है। शोध ज्ञानप्राप्ति का एक अत्यन्त गम्भीर प्रकरण है जिसके लिये सांस्कारिक प्रतिभा की आवश्यकता है।

शोधप्रबन्ध एवं शोधपत्र का उद्देश्य

जैसे कहानी एवं लघुकथा–सजातीय होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं– उद्देश्यदृष्ट्या, ठीक उसी प्रकार शोधप्रबन्ध एवं शोधपत्र भी। दोनों में यदि ऐक्य है, उभयनिष्ठता है तो केवल शोध की। दोनों अनुसन्धानात्मक होते हैं। दोनों पूर्णतः अनुन्मीलित होते हैं तथा शोधकर्त्ता द्वारा इदम्प्रथमतया (पहली बार) लोक में प्रकाशित किये जाते हैं। परन्तु उद्देश्य की इस एकता के बावजूद दोनों की पद्धतियाँ भिन्न होती हैं। मेरी दृष्टि में भिन्नतों इस प्रकार हैं –

(1) शोधपत्र मंत्रात्मक होता है जबकि शोधप्रबन्ध पूर्णतः व्याख्यानात्मक, विवेचनात्मक एवं समीक्षात्मक।

(2) शोधपत्र में अनुसन्धाता का प्रयत्न होता है शोध्यतत्त्व तत्त्व को उसके अनेकान्तों (Various Phases) से निरीक्षित करना ताकि उसका सांगोपांग

स्वरूप प्रकट हो सके। किसी हाथी को शुण्डादण्ड की ओर से, दायें–बायें पार्श्वों की ओर से तथा पृष्ठभाग (पूँछ) की ओर से देखना ही उसका अनेकान्त अथवा सर्वाङ्गीण अवलोकन है। ऐसे अवलोकन से सत्य का कोई भी पक्ष अनुन्मीलित अथवा अ–प्रकाशित नहीं रह जाता है। परन्तु शोध प्रबन्ध में इसके लिये अवकाश नहीं होता। शोधप्रबन्ध एक पारिभाषिक चौखटे (Proform) के अन्तर्गत किया गया कार्य है जो विवरणात्मक होता है।

(3) शोधप्रबन्ध में हमारा प्रयास विस्तार से संक्षेप की ओर उन्मुख होता है। यदि हमारा शोधविषय है **वाल्मीकीय रामायण में राजनयविवेचन** तो हम समूची रामकथा में केवल राजनय तत्त्व पर केन्द्रित रहेंगे। देखेंगे कि वशिष्ठ की दृष्टि में, दशरथ की दृष्टि में, राम की दृष्टि में; वानरराज वाली की दृष्टि में, लंकापति रावण की दृष्टि में, विभीषण की दृष्टि में अथवा अत्रि, अगस्त्य, भरद्वाज तथा वाल्मीकि की दृष्टि में राजनीति का क्या है? राजनीति के मानदण्ड क्या हैं?

परन्तु शोधपत्र में हमारी दृष्टि संक्षेप से विस्तार की ओर होती है। मेरे (प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र) एक शोधनिबन्ध (वातुल शब्द की ऐतिहासिक–समीक्षा) में वातुल की कौटुम्बिक शब्दावली का भाषावैज्ञानिक विवेचन किया है जिसमें बताया गया है कि वात, पित्त एवं कफ–यही तीनों शरीर के धारक तत्त्व हैं। इनका सामञ्जस्य 'स्वास्थ्य', है। एक भी तत्त्व की विषमता से मनुष्य अस्वस्थ हो सकता है।

वात के कुपित होने पर रोगी का अपनी वाणी पर नियंत्रण समाप्त हो

जाता है। वह अनर्गल प्रलाप करता है। उसे लोग **वातुल** कहते हैं। वातुल ही बादर (अवधी) बउरहा, बौराना भी है। आमों का बौराना (या उनमें बौर आना भी) अतिरेक ही है। लोग बौराए व्यक्ति को ही उन्मत्त या पागल भी कहते हैं। यही वातुल अच्छे अर्थ में भोला, भोरा या बाउल (बंगाल के लोकगायक) भी है। 'वातुल' की इस व्याख्या में हम उसकी ऐतिहासिक विकासयात्रा को निरूपित करते हैं।

इकाई-2

शोधविषय

शोध विषय (पारम्परिक एवं प्राचीन)

संस्कृत में सुभाषित है – प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते। अर्थात् मन्दबुद्धि व्यक्ति भी बिना प्रयोजन के, कोई कार्य प्रारंभ नहीं करता। यह स्वभाव खलों का ही है कि वे निरुद्देश्य चहलकदमी करते रहते हैं, सक्रियता दिखाते रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने ऐसे 'नरपुंगवों' की मीठी चुटकी ली है रामचरितमानस में –

बन्दउँ पुनि खलजन सति भाएँ

जे बिनु काज दाहिनेहु–बाएँ!!

परन्तु सारस्वत–क्षेत्र में तो 'निरुद्देश्यता' के लिये कोई स्थान ही नहीं है क्योंकि यह भगवती सरस्वती का लीलाक्षेत्र है। इसमें सात्त्विकता पराकाष्ठा पर है, ज्ञान सर्वोपरि प्रतिष्ठित है तथा ब्राह्मानन्द–रस का अखण्ड साम्राज्य है। यदि प्रकाशस्वरूप वह अक्षरब्रह्म प्रकाशित न होता तो समूचा ब्रह्माण्ड गहन तम में डूबा रहता। वाक्यपदीयकार भगवान् भर्तृहरि ने स्वयं कहा है –

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं ज़ायते भुवनत्रयम् ।

यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।

पाञ्चभौतिक दृश्य–अदृश्य ब्रह्माण्ड की तो सीमा हो सकती है। परन्तु अक्षरब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित ब्रह्माण्ड तो असीम है, अकल्प्य है, अचिन्त्य है।

हमारा विचारणीय विषय 'शोध' तो उसका कणमात्र है। शोध के सन्दर्भ में जो मूलभूत महनीय विन्दु हैं वे हैं–शोधविषय, शोधार्थी तथा शोधनिर्देशक। **शोधविषय** का महत्त्व सर्वोपरि है। सर्वप्रथम यह निश्चय करना ही महत्त्वपूर्ण है कि शोध का विषय क्या हो? वस्तुतः इस सन्दर्भ में शोधच्छात्र की रूझान, उसकी शैक्षिक योग्यता, विशेषाध्ययन तथा पारिवारिक पृष्ठभूमि आदि को देखना चाहिये। संस्कृत भाषा में, प्रायः समस्त भारतीय विश्वविद्यालयों में **विशेषाध्ययन** की व्यवस्था है। एम्.ए. के अन्तिम वर्ष में पाठयक्रम विशेष वर्गों में विभक्त हो जाते हैं जैसे– वेदवर्ग, दर्शनवर्ग, साहित्यवर्ग, व्याकरणवर्ग, पालिप्राकृतवर्ग, पुराणेतिहासवर्ग आदि।

इन पृथक् वर्गों में निष्णात विद्यार्थी, अपने–अपने विषयों का विस्तृत, गम्भीर एवं उत्कृष्ट अध्ययन करने के कारण उस विषय के विशेषज्ञ बन जाते हैं। उन्हीं विषयों में उनकी अभिरुचि (रुझान) भी विकसित हो जाती है। अतः स्वाभाविक है कि वेद विषयक विशेषाध्ययन वाला छात्र वेद विषय में ही शोधकार्य करना चाहेगा। इसी प्रकार, दर्शन वाला दर्शन में तथा साहित्य वाला साहित्य में।

शोध–विषय विद्यार्थी की अभिरुचि एवं उसके विशेषाध्ययन के अनुरूप ही होना चाहिये अन्यथा शोधकार्य प्रारंभ से ही संशयित हो जाता है। यद्यपि इस नियम के अपवाद भी दृष्टिगोचर होते हैं क्योंकि कुछ छात्रों की प्रतिभा समस्त विषयों में (वेद, दर्शन, साहित्य) समानगतिक होती है, अतः मात्र एक वर्ष किसी विषय का विशेषाध्ययन कर लेने से दूसरे विषय में उनकी प्रतिभा कुण्ठित नहीं हो जाती। प्रत्युत स्वाध्याय के बल पर, अन्य विषयों में भी वह

पल्लवित होती रहती है। वस्तुतः यही प्रवृत्ति आगे चल कर उन्हें चतुरस्त पाण्डित्य का धनी बनाती है। कुछ छात्र अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण ही, किसी शास्त्रविशेष में औरों से आगे होते हैं– जैसे आयुर्वेद, ज्यौतिष, तंत्र, वास्तु आदि।

शोधविषय का तात्पर्य है शोध अथवा अनुसन्धान के माध्यम से जानने योग्य विषय! इस समस्या का भला सर्वमान्य समाधान क्या हो सकता है। लाखों–करोड़ों प्रकार के शोधार्थी व्यक्ति हैं। सबकी अपनी पृथक् क्षमता है ज्ञान की। अपनी क्षमता के अनुपात में ही सबकी जिज्ञासा भी होती है। जो घट मुँह तक भरा है वह भला क्यों छलकेगा?

पूर्ण ज्ञानसम्पन्न तथा पूर्णतः अज्ञानी दोनों सुखी हैं। दोनों की निश्चिन्तता समान है। एक को कुछ भी जानने को शेष नहीं, इसलिये निश्चित है– ज्ञानमय प्रदीप होने के कारण। दूसरा भी उतना ही सुखी है क्योंकि उसे भी कुछ जानने की अपेक्षा नहीं। वह अपने अज्ञान में ही मस्त है। उसने 'ज्ञान' से कभी कोई सम्बन्ध ही नहीं रखा। इसलिये **सबसे भले विमूढ़ जिनहिं न व्यापत जगत गति**!

कष्ट, परेशानी केवल उन्हें है जो मध्य में हैं। जो ज्ञान का आनन्द पा चुके हैं, परन्तु उसके शिखर तक नहीं पहुँच पाये है। अत; पूर्णानन्द की प्यास बनी है। वे अशान्त है, अतृप्त हैं, अपूर्ण हैं, ज्ञानप्राप्ति का उनका प्रयास अनवरत चलता ही रहता है। और परमेश्वर की कृपा से कभी–कभी उनकी यात्रा सार्थक भी हो जाती है–

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धस्समभवं

तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यमवदवलिप्तं मम मनः।

यदा किञ्चित्तावद् बुधजनसकाशादवगतं

तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः। –

भर्तृहरिः (नीतिशतक)

भारतीय परम्परा बताती है कि ज्ञान का क्षेत्र दुरधिगम्य है। महाभाष्यकार पतञ्जलि (ई.पू. द्वितीय शती) बताते हैं कि इन्द्र जैसा अध्येता तथा वृहस्पति जैसा देशिक (आचार्य) तथा देवताओं जैसी एक हजार दिव्यवर्ष की अवधि– फिर भी विद्याओं का अन्त नहीं प्राप्त हो सका। इन्द्र पढ़ते रहे, देवगुरु पढ़ाते रहे और ज्ञान यथावत् स्थिर रहा, समाप्त नहीं हो पाया।[1]

आचार्य राजशेखर (10वीं शती ई.) ने काव्यमीमांसा के शास्त्रसंग्रह नामक अध्याय में भारत की पारम्परिक विधाओं का संग्रह किया है। उससे विद्या की विविध शाखाओं का विस्तार ज्ञात होता है तथा शोध का क्षेत्र (Jurisdictions of Research) भी संकेतित होता है। उस सन्दर्भ का सारसंक्षेप छात्रों के हितार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है।

राजशेखर शास्त्र एवं काव्य का पृथक् व्याख्यान करते हैं। शास्त्र दो प्रकार के हैं– अपौरुषेय तथा पौरुषेय। अपौरुषेय शास्त्र है– मंत्रब्राह्मणात्मक

---

[1] इन्द्रोऽध्येता, स्वयं बृहस्पतिर्वक्ता दिव्यं वर्षाणां सहस्रमवधिः, विद्यायाः नान्तं जगाय। किम्पुनरद्य? योऽधिकं जीवति स शतं वर्षाणि।

श्रुति अर्थात् वेद, ये वेद चार हैं– ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। इतिहास, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा आयुर्वेद को क्रमशः चारों वेदों से सम्बद्ध उपवेद माना गया है।

पौरुषेय शास्त्रों में राजशेखर पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा तथा स्मृतितंत्र की परिगणना करते हैं। पुराणों का ही प्रतिभेद है इतिहास, जिसके दो उपभेद हैं– परिक्रिया तथा पुराकल्प। रामायण परिक्रिया है तो महाभारत पुराकल्प।

वस्तुतः इतिहास–पुराण तथा वेदांग–वेदार्थ की सम्यक् व्याख्या करने वाले शास्त्र हैं। स्वयं भगवान् व्यास ने कहा –

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंह्येत् ।

विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

वेदाङ्ग का अर्थ है– वेदों के जंग। वंदमंत्रों में भाषासम्बन्धी ऐसी रूढ़ियाँ हैं, ऐसे ज्यौतिषीय संकेत हैं, स्वराघात तथा यज्ञ–ज्यामिति की, छन्दों की ऐसी जटिलताएँ हैं जिन्हें समझाने के लिये इन वेदांगों की संरचना हुई। अतः वेदांग केवल वेदों के अंग (Parts, organs) ही नहीं हैं प्रत्युत वेदमंत्रों के रहस्यों को प्रकाशित करने वाले शास्त्र हैं। वेदांग शब्द में प्रयुक्त अंग् धातु प्रकाशन के अर्थ में प्रयुक्त है – वेदा अङ्ग्यन्ते प्रकाश्यते एभिरिति वेदाङ्गः (न तावद् वेदाङ्गानि)

ये वेदांग छः हैं– शिक्षा, कल्प, निरूक्त, व्याकरण, ज्यौतिष तथा छन्द।

इस प्रकार चार वेद, छः वेदान्त तथा चार शास्त्र इन्हीं को मिलाकर **चतुर्दश–विद्यास्थान** माना जाता है।

मनुस्मृतिकार तथा महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी चौदह विद्यास्थान ही माने हैं। बस शास्त्रों के नामों में थोड़ा अन्तर है। मनु तथा याज्ञवल्क्य ने चार शास्त्रों में (पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा तथा स्मृति के स्थान पर) मीमांसा, न्याय, पुराण तथा धर्मशास्त्र को लिया है। चूँकि आन्वीक्षिकी तथा स्मृतितंत्र कथमपि न्याय एवं धर्मशास्त्र से पृथक् नहीं – अतएव तीनों आचार्यों में पूर्ण मतैक्य दीखता है। उनके मत हैं –

अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।

धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्यास्त्वेत्ताश्चतुर्दश।। –मनुः

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्ग मिश्रिताः।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।

–याज्ञवल्क्यस्मृतिः

पुराणों की **संख्या 18** मानी गई है– मार्कण्डेय पुराण, मत्स्यपुराण, भविष्यपुराण, भागवतपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्मपुराण, वामनपुराण, वायुपुराण, वाराहपुराण, विष्णु पुराण, अग्नि पुराण, नारक पुराण, पद्मपुराण, लिङ्गपुराण, कर्मपुराण, स्कन्दपुराण, गरूडपुराण।[1]

उपर्युक्त अठारह पुराण महापुराण माने जाते हैं। कुछ विद्वानों ने उपपुराणों तथा औपपुराणों की भी इतनी ही संख्या मानी है। उपपुराणों के नाम हैं –

1. आदिपुराण, 2. नरसिंह पुराण, 3. स्कन्दपुराण, 4. शिवधर्मपुराण, 5. दुर्वासापुराण, 6. नारदीयपुराण, 7. कपिलपुराण, 8. वामनपुराण, 9. औशनसपुराण, 10. ब्रह्माण्डपुराण, 11. वरुणपुराण, 12. कालिकापुराण, 13. माहेश्वरपुराण, 14. साम्बपुराण, 15. सौरपुराण, 16. पाराशरपुराण, 17. मारीचपुराण, 18. भास्कर पुराण।[2]

1. मद्वयं भद्वयञ्चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।

अनापल्लिङ्ग कूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते।।

2. आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमथापरम्।

तृतीयं स्कान्दमुद्दिष्टं कुमारेण च भाषितम् ।।

चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम् ।

दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदीयमतः परम् ।।

कापिलं वामनञ्चैव तथैवौशनसेरितम् ।

ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वय मेव च।।

माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसञ्चयम्।

पराशरोक्तमपरं मारीचं भास्कराह्वयम् ।। **कूर्म** (पूर्वार्धे) 1.17.20

यद्यपि उपपुराणों की यह सूची कूर्मपुराण में मिलती है तथापि थोड़े–बहुत नाम–परिवर्तनों के साथ उपपुराणों की चर्चा स्कन्दपुराण (रेवाखण्ड 1.48.52) देवीभागवत् (3.13.16) मत्स्यपुराण (15.57.62) तथा

गरुडपुराण (215.27.20) में भी उपलब्ध होती है।

औपपुराणों की नामावलि में भी महापुराणों तथा उपपुराणों की संज्ञाओं का घालमेल स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। स्वामी ज्ञानानन्द सरस्वती ने तो अपने **धर्मकल्पद्रुम** नामक ग्रंथ में

पाँच प्रकार के पुराण माने हैं– महापुराण, उपपुराण, औपपुराण, उपोपपुराण तथा उपौपपुराण। औपपुराणों के नाम हैं–

1. सनत्कुमारपुराण, 2. वृहन्नारदीयपुराण, 3. आदित्यपुराण, 4. सूर्यपुराण, 5. नन्दिकेश्वरपुराण, 6. कौर्मपुराण, 7. भागवतपुराण, 8. वसिष्ठपुराण, 9. भार्गवपुराण, 10. मुदगक्तपुराण, 11. कल्किपुराण, 12. देवीपुराण, 13. महाभागवतपुराण, 14. बृहद्दर्यपुराण, 15. परानन्दपुराण, 16. वह्निपुराण, 17. पशुपतिपुराण तथा 18. हरिवंशपुराण[1]

संस्कृति के विद्यार्थियों का शोधकार्य कुछेक महापुराणों तक सीमित है। अन्यथा अस्सी प्रतिशत लोग तक अठारहों पुराणों का नाम तक नहीं गिना सकते। उपपुराणों तथा औपपुराणों की तो जानकारी का प्रश्न ही नहीं उठता।

---

[1] आद्यं सनत्कुमारं च नारदीयं वृहच्चयत्।
आदित्यं मानवं प्रोक्तं नन्दिकेश्वरमेव च।।
कौर्मं भागवतं ज्ञेयं वासिष्ठं भार्गवं तथा।
मौद्‌गलं कल्किदेव्यौ च महाभागवतं ततः।।
बृहद्दर्मं परानन्दं वहिनं पशुपतिं तथा।
हरिवंश ततो ज्ञेयंमिदसौपपुराणकम् –।। –वृहदविवेक.

लोग उन शीर्षकों को भी नहीं जानते। यह कुपरिणाम है स्वाध्याय के अभाव का! अन्यथा प्रत्येक पुराण पर एक नहीं कई शोध हो सकते हैं। परन्तु शास्त्रों का संसार यहीं तक सीमित नहीं है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण, मयमतसंहिता, अपराजितपृच्छा, समराङ्गणसूत्रधार, वीरमित्रोदय, चतुर्वर्गचिन्तामणि, कौटिलीयार्थशास्त्र तथा कामसूत्र सरीखे ग्रंथों संस्कृत–वाङ्मय की, प्राचीन काल में प्रचलित जिन शाखाओं का नामोल्लेख मिलता है उससे महान विस्मय होता है।

विष्णुधर्मोत्तपुराण के तृतीय खण्ड में नाट्यशास्त्र, नृत्यशास्त्र, संगीतशास्त्र, स्थापत्यशास्त्र, मूर्तिविज्ञान तथा आलेखशास्त्रादि का अद्भुत ठोस विवेचन किया गया है। अश्वशास्त्र (शालिहोत्र) हस्तिशास्त्र, शकुनिविज्ञान, सामुद्रिकशास्त्र के साथ–ही–साथ आयुर्वेद, वास्तुसारणी, ज्योतिशास्त्र, खगोल एवं विविध तंत्रशास्त्रों तथा द्वादश दर्शनों का विशाल वाङ्मय भारत में अक्षत था। ये सारी विद्यायें आज केवल नाम्ना ज्ञात हैं। वृहस्पति के अर्थशास्त्र का उल्लेख महाकवि भास प्रतिमानाटक में करते हैं। परन्तु कहाँ उपलब्ध है वह? नकुल का अश्वशास्त्र सौभाग्य से प्राप्त है।

संस्कृत–शास्त्रों के इस विस्तार को देखते हुए कह सकते हैं कि संस्कृत–शोध का क्षेत्र आज भी असीम है।

परन्तु आचार्य राजशेखर चौदहों विद्यास्थानों का उपकार करने वाली साहित्य नामक पञ्चमी विद्या पर जोर देते हैं –

पञ्चमी साहित्यविद्येति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां

निस्यन्दः।

शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या। –काव्यमीमांसा

यदि आप **चतुर्दशविद्यास्थान** को महत्त्व देते हैं तो राजशेखर का आग्रह है कि साहित्य को **पञ्चदश विद्यास्थान** मानिये। यही पन्द्रहवाँ विद्यास्थान साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र तथा अलंकारशास्त्र (Rhetorie, Poeties) भी कहा जाता है। भारत में आचार्य भरत (ई. पू. चौथी शती) से लेकर विश्वेश्वर पण्डित (19वीं शती ई.) तक काव्यशास्त्र की अविच्छिन्न परम्परा जो आज भी पूर्ण स्थेमा के साथ विद्यमान है।

आचार्य राजशेखर पुराकथात्मक शैली में बताते हैं कि साहित्यविद्या के आदिप्रवचनकार भगवान् श्रीकण्ठ (शिव) हैं। उन्होंने यह प्रवचन परमेष्ठी ब्रह्मा तथा 64 शिष्यों को दिया।

ब्रह्मा ने यह शिक्षा काव्यपुरुष को दी जो देवी सरस्वती एवं ब्रह्मा का ही पुत्र (सारस्वतेय) था। काव्यपुरुष ने भी 18 अधिकरणों वाली साहित्यविद्या का ज्ञान अपने 18 शिष्यों को दिया– सहस्राक्ष को काव्यरहस्य, उक्तिगर्भ को औक्तिक, सुवर्णनाभ को रीतिनिर्णय, प्रचेता को आनुप्रासिक, यम को यमक, चित्राङ्गद को चित्र, शेष को शब्दश्लेष, पुलस्त्य को वास्तव, औपकायन को औपम्य, पराशर को अतिशय, उचथ्य को अर्थश्लेष, कुबेर को उभयालंकारिक, कामदेव को वैनोदिक, भरत को रूपक, नन्दिकेश्वर को रस, धिषण को दोष, उपमन्यु को गुणौपादानिक तथा कुचुमार को औपनिषदिकशास्त्र का।

काव्यपुरुष के इन्हीं 18 शिष्यों ने साहित्यविद्या की परम्परा को अजर–

अमर बनाया। आज संस्कृत भाषा में जो लाखों ग्रंथ सुरक्षित हैं पाण्डुलिपि– केन्द्रों तथा अन्य पुस्तकालयों में, वे इसी साहित्यविद्या, परम्परा के हैं। अतः इन ग्रंथों पर आश्रित शोधकार्य सैकड़ों वर्ष तक प्रवर्तित रह सकता है। इन ग्रंथों पर प्रणीत हैं हजारों टीकाएँ, उपटीकाएँ हजारों ग्रंथ अभी भी पाण्डुलिपि, रूप में ही सुरक्षित पड़े हैं। जिन पर शोधकार्य होना चाहिये।

हमने देखा कि भारतीय विद्या (Oriental learning) का विस्तार आकाश जैसा है। उसकी तुलना में, उसको जानने या खोजने का हमारा प्रयास नगण्य ही है। महकवि श्रीहर्ष (12वीं शती ई.) ने तो अपने महाकाव्य नैषधीयचरितम् में राजा नल को चौदह की बजाय अठारह विद्यास्थानों में निपुण बताया है –

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी नयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्।

अगाहताडष्टादशतां जिगीशया नवद्वयद्वीपपृथगजयश्रियाम्॥

नौषध 1.5

ये 18 विधाएँ कौन थी? ग्रंथ के टीकाकार नारायण ने बताया है कि प्रख्यात चतुर्दश विद्यास्थानों में ही– आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्र को भी जोड़ लेने से विद्यास्थान 18 हो जाते हैं।

विद्यास्थानों की ही तरह प्राचीन भारत में 64 कलाओं का ज्ञान होना भी महान् अथवा स्पृहणीय योग्यता मानी जाती थी। कामसूत्र शुक्रनीतिसार जैन भगवतीसूत्र ललितविस्तर तथा अर्थशास्त्रादि में, नामों की भिन्नता के साथ, चौसठ कलाओं की परिगणना की गई है।

1. गीतम्, 2. वाद्यम्, 3. नृत्यम्, 4. नाट्यम्, 5. आलेख्यम्, 6.द्यूताद्यनेकक्रीडाभिरञ्जनम्, 7. अनेकासनसन्धानैः रतेर्ज्ञानम्, 8. मकरन्दासवादीनां मद्यानां कृतिः, 9. शल्यगूढाहृतौ शिराघ्राणव्याधेर्ज्ञानम्, 10. हीनादिरससंयोगान्नादिसम्पाचनम्, 11. वृक्षादिप्रसवारोपपालनादिकृतिः, 12. पाषाणध्वत्वादिहितभस्मकरणम्, 13. यावरिक्षुविकारणकृतिज्ञानम्, 14. धात्वोषधीनां संयोगक्रिया ज्ञानम्, 15. धातुसाङ्कर्यपार्थक्यकरणम्, 16. धात्वादीनां संयोगपूर्वविज्ञानम्, 17.क्षार–निष्कासनज्ञानम्, 18. पदादिन्यासतः शस्त्रसन्धाननिक्षेपः, 19. मल्लयुद्धम्, 20. यंत्राद्यस्त्रनिपातनम्, 21. व्यूहरचनम्, 22. गजाश्वरथयुद्धम्, 23 देवतोषणं, 24. सारथ्यम्, 25. गजाश्वगतिशिक्षा, 26. भाण्डसत्क्रिया, 27. चित्राद्यामेखनम्, 28. तटाकवापीप्रासाद भूमिक्रिया, 29. वाद्यकृतिः, 30. वर्णादिरञ्जनम्, 31. **जलवायग्नि** संयोगनिरोधः, 32. यानकृतिः, 33. सूत्ररज्जुकरणम्, 34. पटबन्धः, 35. रत्नवेधः, 36. स्वर्णशुद्धिविज्ञानम्, 37. कृत्रिम स्वर्णादिकृतिः, 38. अलंकारकृतिः, 39. लेपादिसत्कृति, 40. चर्ममार्दवम्, 41. चर्मनिर्हारज्ञानम्, 42. दुग्धघृतविज्ञानम्, 43. कञ्चुकसीवनम्, 44. जलतरणम्, 45. भाण्डमार्जनम्, 46. वस्त्रसम्मार्जनम्, 47. क्षुरकर्म, 48. तिलमांसस्नेहनिकासमम्, 49. सीरकर्षणम्, 50. वृक्षारोहणम्, 51. सेवाकर्म, 52. वेणुतृणपात्रकृतिः, 53. काचपात्रकृतिः, 54. जलस सेचनम्, 55. लौहशस्त्रकृति, 56. पल्यणक्रिया, 57. शिशुसंरक्षणम्, 58. अपराधिताडनम्, 59. लेखनज्ञानम्, 60. ताम्बूलरक्षाकृतिः, 61.

आदानम्, 62. आशुकारित्वम्, 63. प्रतिदानम्, 64. चिरक्रिया

-कामसूत्रम् (वात्स्यायनः)

राजकुलों के राजकुमार भी नृत्यशिक्षा (वैशिक) के लिये प्रख्यात गणिकाओं के पास जाया करते थे। युधिष्ठिर का द्यूतक्रीडा–ज्ञान, भीम की पाककला–मर्मज्ञता, अर्जुन की नृत्यपारंगतता, नकुल की अश्वशास्त्र दक्षता, नल का रथसञ्चालनकौशल प्राचीन ग्रंथों में उदाहृत है। कोई भी व्यक्ति किसी भी कला में पारंगत हो सकता था।

अब आप कल्पना करें कि संस्कृत में शोधविषयों की अनन्तता है या नहीं? आप चौसठ कलाओं में से किसी भी एक कला का यदि सम्पूर्ण संस्कृत–वाङ्मय में 'उद्भव एवं विकास' समीक्षित करना चाहें तो एक शोधविषय प्रस्तुत हो जायेगा। उदाहरणार्थ–

1. संस्कृत वाङ्मय में द्यूतकला के उद्भव एवं विकास का समीक्षात्मक अध्ययन।
2. संस्कृत वाङ्मय में पटबन्ध–कला का उद्भव एवं विकास ।
3. संस्कृत वाङ्मय में सीरकर्षण–कला का समीक्षात्मक अध्ययन।
4. संस्कृत वाङ्मय में वृक्षारोपण–कला का समीक्षात्मक अध्ययन।
5. संस्कृत वाङ्मय में लेखनकला का समीक्षात्मक अध्ययन।
6. संस्कृत वाङ्मय में स्वर्णशुद्धिविज्ञान का समीक्षात्मक अध्ययन।

7. संस्कृत–वाङ्मय में काव्यग्रंथकरण का उद्भव एवं विकास।

8. संस्कृत वाङ्मय में पशुलक्षण का समीक्षात्मक अध्ययन।

9. संस्कृत–वाङ्मय में वैशिक का समीक्षात्मक अध्ययन

10. संस्कृत वाङ्मय में स्त्रीपुरुष–लक्षणविज्ञान का समीक्षात्मक अध्ययन।

11. संस्कृत–वाङ्मय में तौर्यात्रिक (नृत्य–गीत–वाद्य) का समीक्षात्मक अध्ययन।

12. संस्कृत–वाङ्मय में विडम्बनकला का समीक्षात्मक अध्ययन।

13. संस्कृत–वाङ्मय में कुटीरोद्यागों का समीक्षात्मक अध्ययन।

14. संस्कृत–वाङ्मय में महानसकला का समीक्षात्मक अध्ययन।

15. संस्कृत–वाङ्मय में स्त्रीपुरुष परिधानसन्धान का समीक्षात्मक अध्ययन।

मेरे द्वारा प्रस्तावित इन शोधविषयों के औचित्य पर विद्वज्जन विचार करें। वस्तुतः इन्हीं अथवा ऐसे ही विषयों पर शोधकार्य होना चाहिये ताकि सम्पूर्ण राष्ट्र को 'संस्कृत की अवश्यं ग्राहिता तथा अपरिहार्यता' का बोध हो सके। परन्तु इन लोकोपयोगी विषयों की ओर प्राध्यापकों की दृष्टि ही नहीं जाती। उनके कर्णकुहरों में टीका एवं भाष्य का खूँट ऐसा भरा है कि संस्कृत को लोकप्रिय बनाना ही नहीं चाहते।

जब एन.सी.सी. की ओर से वाराणसी में मुझे मानद कर्नल की उपाधि दी गई (2003 ई.) उस अवसर पर मैंने एक अध्यक्षीय वक्तव्य दिया था –

भारत में सैन्यशक्ति का विकास विषय पर। अपने वक्तव्य मैंने ऋग्वेद लिखित युद्ध विद्या तथा अर्थशास्त्र के साग्रामिक, कण्टकशोधन आदि की जो प्रामाणिक व्याख्या की थी उसे सुन कर कर्नल सुज्ञीव जी विस्मित हो उठे तथा उन्होंने कहा 'यह सारा ज्ञान (Military Academy) के कोर्स में होना चाहिय, मैं तो आश्चर्यचकित हूँ यह जान कर कि ऋग्वेद में भी युद्धविद्या का इतना सटीक वर्णन है। देवशुनी सरम की गुप्तचरी, गुप्तचर के रूप में इन्द्र के प्रति उसकी निष्ठा, इन्द्र द्वारा शत्रु के ९९ लौहदुर्गों का विध्वंस, वीरांगना बिश्पला का पैर कट जाना तथा लौह–जंघा का प्रत्यारोपण, अर्थशास्त्र में शत्रु–मित्र तथा उदासीन राष्ट्र की अवधारणा! यह सारा व्याख्यान मेरे कानों में अमृत की तरह पड़ा है। प्रो. मिश्र का यह व्याख्यान मैं जीवन भर मित्रों को सुनाता रहूँगा।

सारी सभा (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) कर्नल सञ्जीव के आभार–प्रदर्शन से भावविभोर हो उठी।

यह दुर्भाग्य है राष्ट्र का कि वह संस्कृत ज्ञानामृत का वह लाभ नहीं प्राप्त कर पा रहा है जो उसे मिलना चाहिये। इसका कारण है शासन में विवेक का अभाव तथा रत्नपरीक्षण की कभी राष्ट्रनायकों की दृष्टि में वहीं वृहस्पति हैं जो उनकी परिचय–परिधि में हैं।।

पारम्परिक एवं नवीन

संगणकीय आविष्कारों ने सम्पूर्ण विश्व को जोड़ दिया है अतएव शोध के क्षेत्र में भी अब क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चला है। अब लोगों को पारम्परिक के साथ-ही-साथ अ–पारम्परिक या अन्तर्विषयीय (Inter disciplinary)

शोधविषय पसन्द आने लगे हैं। फलतः देसी आय के पेड़ में भी दूसरी प्रजाति के आम (लंगड़ा, चौसा, हापुस, दशहरी आदि) लगने लगे हैं। इन विषयों का अपना आनन्द ही अद्भुत है। निम्नलिखित शीर्षकों को देखें –

1. कालिदास एवं वडर्सवर्थ का प्रकृतिवर्णन : एक समीक्षा।
2. श्रीमद्भगवद्गीता में प्रबन्धन (Management in Geeta)
3. कौटिल्य एवं मैकियावेली की राजनीति : तुलनात्मक अध्ययन।
4. विश्वकथा–साहित्य पर पञ्चतन्त्र के प्रभाव का समीक्षात्मक अध्ययन।
5. आचार्य कुन्तक एवं क्रोचे के सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा।
6. अमरुक एवं उमर खय्याम का तुलनात्मक अध्ययन।
7. अर्थशास्त्र के आलोक में आधुनिक प्रतिरक्षाविज्ञान का अध्ययन।
8. वाल्मीकि एवं स्वयम्भू की रामकथा का तुलनात्मक अध्ययन।
9. संस्कृत कवियों की वैदेशिक काव्यसाधना का समीक्षात्मक अध्ययन।
10. संस्कृत काव्यशास्त्र का हिन्दी कविता पर प्रभाव।
11. प्रतिशाख्यों के परिप्रेक्ष्य में चाम्सिकी के भाषा वैज्ञानिक सिद्धान्तों का समीक्षात्मक अध्ययन।
12. तिरुक्कुरल एवं विदुरनीति / कामन्दकनीति / शुक्रनीति का तुलनात्मक अध्ययन।
13. फारसी ग़ज़लों के आलोक में प्रो. अभिराज की संस्कृत ग़ज़लों का

समीक्षात्मक अध्ययन।

14. प्रो. अभिराजराजेन्द्र के यक्षगानों का समीक्षात्मक अध्ययन।

15. प्रो. अभिराजराजेन्द्र के दण्डकों का समीक्षात्मक अध्ययन।

16. प्रो. अभिराजराजेन्द्र के शतककाव्यों का समीक्षात्मक अध्ययन।

17. मेघदूत के परिप्रेक्ष्य में प्रो. अभिराजप्रणीत मृगांकदूतम् का समीक्षात्मक अध्ययन।

18. प्रो. राजेन्द्रमिश्र प्रणीत नुक्कड़ नाट्यों का समीक्षात्मक अध्ययन।

19. डॉ. हर्षदेवमाधव के काव्यशिल्प एवं संवेदना का समीक्षात्मक अध्ययन।

20. संस्कृत के आधुनिक ग़ज़लकार : एक समीक्षात्मक अध्ययन।

21. श्रीभाष्यं विजयसारथि एवं अभिराजराजेन्द्र का राष्ट्रवाद : एक समीक्षात्मक अध्ययन।

22. अभिराज राजेन्द्र की कथानिकाओं में नारीविमर्श।

23. अभिराजराजेन्द्र एवं राधावल्लभ की कृतियों में दलित विमर्श।

इन प्रकल्पित विषयों की सूची, यदि मैं चाहूँ तो आसानी से सौ के पार पहुँचा दूँ क्योंकि मुझे सम्पूर्ण राष्ट्र की रचनाधर्मिता का राई–रत्ती ज्ञान है। मेरे आदरणीय अग्रज, समवयस्क तथा शिष्यगण निरन्तर मेरे और **मैं उनके सम्पर्क** में रहता हूँ। सबकी रचनाप्रक्रिया, रचनाशिल्प तथा संवेदना का ज्ञान मुझे है। अतः लीक से हटकर **नए शोधविषयों** के विषय में सरलता से

सोचा जा सकता है।

प्राचीन शोधविषयों की ही तरह नए शोधविषयों का भी अपना विलक्षण आनन्द है तथा उपयोगिता है। यदि आप राष्ट्र को केन्द्र में रख कर श्रीभाष्यं तथा अभिराज को समीक्षित करेंगे तो दो राज्य (तेलंगाना–उत्तर प्रदेश), दो अवस्थाओं, दो योग्यताओं, दो शैलियाँ परस्पर समन्वित होंगी। इससे स्वतः आनन्द की सृष्टि होगी।

गीता में प्रबन्धन का अध्ययन करने से दर्शन (Philosophy) तथा प्रबन्धन (Management) नामक दो पृथक् शास्त्रों का समन्वय होगा। वाल्मीकि एवं स्वयम्भू की रामकथाओं के तुलनात्मक अध्ययन से वैदिक एवं आर्हत– दो प्रतिस्पर्धी एवं प्रतिरोधी विचारधाराओं की समीक्षा सम्भव हो सकेगी।

इसी प्रकार तिरुक्कुरल एवं विदुरनीति के समवेत अध्ययन से संस्कृत एवं तमिल–परम्परा का, कालिदास एवं वडर्सवर्थ के अध्ययन से दो पृथक् संस्कृतियों, राष्ट्रों एवं भाषाओं का तथा प्रतिशाख्यों एवं चारिसकी के अध्ययन से भी दो विरोधी ध्रुवों का समन्वय संभव हो सकेगा।

झो लोग 'हाय–हाय' करते हैं, चीखते–चिल्लाते हैं कि कोई नया शोधविषय ही नहीं मिल रहा है उनके लिये, मेरे द्वारा उन्मीलित इन दिशाओं का बड़ा महत्त्व है। मैंने इलाहाबाद, शिमला तथा सम्पूर्णानन्द वि.वि. में प्रायः ऐसे ही **मिश्रित या समन्वित** विषयों पर शोध कार्य कराया, जो 'सपाट' नहीं थे, 'एकप्रख्य' भी नहीं थे। फलतः ये शोधप्रबन्ध प्रकाशन के बाद बड़े

उपयोगी सिद्ध हुए। उदाहरणार्थ –

1. पण्डितराजोत्तरवर्ती आचार्यों का संस्कृत काव्यशास्त्र को योगदान।
2. भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त।
3. कालिदास की कृतियों में चित्रित नागर–संस्कृति की समीक्षा।
4. वाल्मीकि के परिप्रेक्ष्य में स्वयम्भू की रामकथा (अपभ्रंश) का समीक्षात्मक अध्ययन।
5. संस्कृत–वाङ्मय में भगवती गंगा का समीक्षात्मक अध्ययन।
6. पातञ्जलयोगदर्शन तथा श्रीमद्भागवत (एकादश स्कन्ध) से उपलब्ध योग का तुलनात्मक अध्ययन।

ये सारे विषय तुलनात्मक समीक्षा पर आधारित होने कारण **सन्दर्भ ग्रन्थ** (Reference Book) की तरह उपयोगी सिद्ध हुए हैं, ग्रंथाकार प्रकाशन के बाद।

शोधार्थी एवं शोधनिर्देशक

शोधार्थी

ज्ञानार्जनाय सन्नद्धस्ताम्रचूड इवाानिशम् ।
शिखण्डीव प्रबुद्धो यो निरालस्यो निराकुलः ।।
शफरो ज्ञानमहाम्मोद्येः सन्त्यक्तसुखसाधनः।
नित्योत्साहोऽप्यनुद्वेगः संयमी च जितेन्द्रियः।।

सात्त्विकाभिरुचिसम्पन्नः व्यसनैश्च विवर्जितः।

मितभोजी मितभाषी मितशायी मितम्पचः॥

वैखानसव्रती धीरो देशिकाङ्घ्रि समर्पितः।

कोशी च शब्दशास्त्री चाऽनुसन्धाता प्रशस्यते॥ – अभिराजराजेन्द्रः

प्रश्न यह है कि शोधविषय एवं शोधार्थी का सांमञ्जस्य कैसे बैठाया जाये?

इस सन्दर्भ में कुछ विन्दु विचारणीय हैं –

1. शोधार्थी की सांस्कारिक प्रतिभा।
2. शोधार्थी का विशेषाध्ययन।
3. शोधार्थी की पारिवारिक–शैक्षिक पृष्ठभूमि।
4. शोधार्थी की अध्ययवसाय–क्षमता।

सांस्कृतिक प्रतिभा का अर्थ है पूर्वजन्मार्जित विद्या का संस्कार। भारतीय दर्शन का विश्वमानवता को सबसे बड़ा योगदान है – पुनर्जन्म का सिद्धान्त तथा कर्मविपाक की अवधारणा। प्रत्येक जीव अपने वर्तमान जीवन में **बहुत कुछ** अपने पूर्व जन्मों से ही उपार्जित किया हुआ ले आता है। ऐसे बहुत कुछ में विद्या एवं प्रतिभा का संस्कार प्रमुखतम है। सामान्य घरों में भी, जहाँ विद्यापरम्परा का लेख भी नहीं, कभी–कभी महाप्रतिभाशाली बच्चे पैदा होते हैं।

महाकवियों, साहित्यकारों तथा लोकवन्द्य कलाकारों को प्रायः हम सामान्य घरों में ही उत्पन्न देखते हैं। इसीलिये उन्हें **गुदड़ी का लाल** कहा जाता है।

जैसे धरागर्भ में प्रसुप्त बीज, वर्षाऋतु के आते ही, वायु एवं जल के संयोग से अंकुरित हो उठता है, उसी प्रकार पूर्वजन्म के संस्कारों से प्राप्त यह प्रतिभा भी शिशु में, पहले से प्रसुप्त (निष्क्रिय) रहती है परन्तु प्रबुद्ध अवस्था प्राप्त होते ही, ग्रंथों एवं गुरुजनों का संसर्ग प्राप्त करते ही सक्रिय हो उठती है। ऐसा संस्कार–प्रवण छात्र प्रायः अन्य सतीर्थ्यों की तुलना में आगे ही रहता है।

इस प्रकार के प्रतिभासम्पन्न छात्रों के लिये कोई भी शोधविषय कठिन, उद्वेजक अथवा अरुचिकर नहीं होता। उन्हें जो भी विषय दे दिया जाय (बिना उनकी इच्छा जाने भी) वे उसी में लग जाते हैं तथा उसके साथ पूर्ण न्याय करते हैं। यह सब मात्र प्रतिभा (Talent) के कारण संभव हो पाता है जो विद्युल्लता की तरह नित्य स्फुरित होती रहती है, साथ–ही–साथ त्रैकालिक होती है– जैसा कि आचार्य **भट्टतौत** ने काव्यकौतुक में लिखा है – **'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता'**। राम, कृष्ण, आदिशंकर सबके सब इसी सांस्कृतिक प्रतिभा के ओतप्रोत थे। भगवान् राम के विषय में गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं –

गुरुगृह गये पढन रघुराई।

अल्पकाल विद्या सब आई।।

आदि शंकराचार्य ने तो मात्र सोलहवर्ष की अवस्था में ही समस्त विद्याज्ञान प्राप्त कर **शारीरक भाष्य** तक प्रणीत कर डाला था।

शोधविषय के साथ शोधार्थी के सामञ्जस्य का दूसरा बिन्दु है उसका विशेषाध्ययन। इस सन्दर्भ की विस्तृत व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। इस सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्व है– अभिरुचि (Interest) का। विशेषाध्ययन से छात्र की विद्याभिरुचि परिष्कृत एवं एक कोटिक बन जाती है। फिर तो उसे कुछ और अच्छा ही नहीं लगता। जिसका मन साहित्य में रम गया, वह व्याकरण में और जिसका मन व्याकरण में रम गया वह साहित्य में प्रायः रुचि नहीं रखेगा। किसी कवि ने ठीक ही कहा है–**सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाइ!**

महाकवि विल्हण ने अपने विक्रमांकदेवचरितम् में इसी अभिरुचि को लक्ष्य करते हुए कहा है कि ऊँट को चाहे केलिवन में ही प्रविष्ट कर दो, परन्तु वहाँ पहुँच कर भी कँटीली झाडियाँ ही खोजेगा (कोमल लतावितान नहीं) क्योंकि उसकी रुचि ही होती है बबूल आदि के भक्षण में –

निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य

क्रमेलकः कंटकजालमेव।।

शोधविषय के चयन में तीसरा महत्त्वपूर्ण विन्दु है, शोधार्थी के परिवार की **शैक्षिक पृष्ठभूमि!** यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष है। संस्कृतभाषा के सन्दर्भ में इस पक्ष की सार्थकता भी अधिक है। अनेक पण्डित–परिवार ऐसे हैं जहाँ अनेक पीढ़ियों से ज्यौतिष, तंत्र, वास्तुसारणी, हस्तरेखविज्ञान, धर्मशास्त्र एवं व्याकरण आदि का अध्ययन होता चला आ रहा है। लोकप्रख्यात ज्योतिर्विद् अपने बेटे को भी अपने जैसा ज्योतिर्विद् ही बनाना चाहता है। वय्याकरण

अपनी सन्तान को वय्याकरण ही बनाना चाहता है ताकि उसका जीवनभर का किया गया श्रम सुरक्षित रह सके। उसके पुस्तकालय की रक्षा हो सके। यदि सन्तानें पिता की विद्यापरम्परा से अलग–थलग हैं तो विद्यापरम्परा का नाश ही समझिये।

इस दृष्टि से, यदि कोई शोधच्छात्र ज्योतिर्विद् परिवार से आता है तो उसे शोधकार्य भी ज्यौतिष में ही करना चाहिये ताकि वह अपनी पैत्रिक विद्यापरम्परा को और अधिक परिपुष्ट, परिष्कृत एवं समुन्नत बना सकें। आनुवंशिक विद्या में शोध करने से शोधच्छात्र की अभिरुचि का पोषण तो होगा ही, उसकी प्रतिभा भी पल्लवित होगी।

भारतीय दर्शन–परम्परा में पुत्र को पिता का ही विग्रहान्तर माना गया है। हरिश्चन्द्रोपाख्यान में स्मृतिकार कहता है– **'तज्जाया जाया भवति यदस्माज्जायते पुनः'** अर्थात् जाया (पत्नी) को मात्र इसीलिये जाया कहा गया है क्योंकि पति स्वयं उसके उदर से पुत्ररूप में पुनः जन्म लेता है। इस प्रकार जाया पति एवं पुत्र की आत्मिक एकता का माध्यमभूत है। महाकवि कालिदास ने भी रघु एवं अज को **एकदीप से प्रदीप्त दूसरे दीप** के रूप में कल्पित किया है जिनमें मात्र दीपपात्र एवं उपादान का भेद है, परन्तु ज्योति एक ही है दोनों में –

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।

न कारणात्स्वाद् बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीपइव प्रदीपात् ।।

शोधकार्य के सन्दर्भ में भी इस पैत्रिक परम्परा का अत्यन्त महत्त्व है। इसलिये

पारिवारिक पृष्ठभूमि को देखते हुए ही शोधार्थी के शोधविषय का निर्धारण किया जाना चाहिये।

इस सन्दर्भ में अन्तिम विचारणीय विन्दु है – शोधार्थी की **अध्यवसायक्षमता**। यह शोधार्थी का वैयक्तिक गुण है। शोधार्थी में सांस्कारिक प्रतिभा का होना एक संयोगमात्र है। परन्तु सभी लोग पूर्वजन्मोपार्जित प्रतिभा के धनी तो नहीं होते। संभव है कि छात्र, जिस विषय में शोध करना चाहता है, उसका विशेषाध्ययन न कर सकता हो। अनेक विश्वविद्यालयों में विशेषाध्ययन (Special Groups) की सुविधा नहीं भी होती। संभव है कि छात्र की पारिवारिक पृष्ठभूमि भी शोधकार्य के अनुकूल न हो। बहुतेरे छात्र तो ऐसे परिवार से आते हैं जिनमें कोई पढ़ा–लिखा है ही नहीं। लड़का पहली बार पढ़ रहा है और वह भी संस्कृत! तब उसके शोधविषय का निश्चय कैसे किया जाय? इसका उत्तर है–शोधच्छात्र की अध्यवसायक्षमता का आकलन कर! यदि छात्र प्रतिभा का धनी (Talented) नहीं है परन्तु अध्यवसायी (Diligent) है तो भी उसके सफल होने की पूर्ण आशा है। परिश्रमी एवं अध्यवसायी व्यक्ति क्या नहीं कर सकता? अतएव यदि शोधच्छात्र परिश्रमी, उत्साही, लगनवाला, आलस्यविहिन तथा अध्यवसाय–सम्पन्न है तो वह जिस किसी भी विषय को लेकर, सरलतापूर्वक शोधकार्य सम्पन्न कर सकता है। यदि उसमें अध्यवसाय की क्षमता नहीं तो उसकी प्रतिभा, पारिवारिक पृष्ठभूमि तथा विशेषाध्ययन–सब अपार्थक सिद्ध हो जाता है।

शोधक्षमता ही शोधार्थी का सर्वोत्तम गुण

इस प्रकार शोध कर पाने की क्षमता ही शोधार्थी का सर्वोत्तम गुण है। यही उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति है। अन्य वस्तुएँ (पारिवारिक पृष्ठभूमि, विशेषाध्ययन, श्रेष्ठ गुरु का सान्निध्य, उत्कृष्ट पुस्तकालय) तो बाह्य उपादान मात्र हैं, वस्तुनिष्ठ हैं। परन्तु शोधक्षमता छात्र का आत्मनिष्ठ गुण है।

प्रायः सभी प्राचीन भारतीय मनीषियों ने इस तथ्य का समर्थन किया है कि 'पात्रक्षमता' ही सर्वोपरि है। बीज बोने वाला किसान चाहे विद्वान् हो, चाहे मूर्ख! कोई फर्क नहीं पड़ता! परन्तु यदि खेत अच्छा है तो (बीजों की) फसल तो अच्छी होगी ही।

चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः।

न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते॥ – मुद्राराक्षसम्

सूर्य तो समान रूप से प्रकाश वितरित करता है। परन्तु जिस प्रकाश (धूप) से मिट्टी का ढेला गर्म तक नहीं हो पाता उसी प्रकाश को प्राप्त कर **सूर्यकान्त मणि** (Sun Stone) आग उगलने लगता है। तो यह गुण किसका है? सूर्य का अथवा मणि का? निश्चय ही यह मणि का अपना व्यक्तिगत गुण है, उसकी पात्रता है –

वमद्भिरुष्णांशुकरावमर्शात्कार्शाणवं धाम पतंगकान्तैः।

शशंस यः पात्रगुणाद् गुणानां सङ्क्रान्तिराक्रान्तगुणान्तरेति॥ – शिशुपालवधम् 4/16

और अंततः महाकवि कालिदास भी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं यह

कहते हुए कि, पात्र विशेष में स्थापित शिल्प की विलक्षणता को प्राप्त करता है। बादल पानी तो सर्वत्र बरसते हैं, परंतु हर कहीं मेघजल मोती नहीं बन जाता? मोती बनता है तो केवल समुद्र की सीपियों में गिरकर ही!

पात्रविशेषेन्यस्तंगुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।

जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य।- माल्यविकाग्निमित्रम् 2/6

शोधविषय के साथ शोधार्थी का अन्योऽन्याश्रय सम्बन्ध होना चाहिये। यदि शोधविषय शोधार्थी की अभिरुचि एवं सामर्थ्य का नहीं तो उसके साथ कभी भी न्याय (Justice) नहीं हो पायेगा और यदि शोधार्थी शोधविषय में अनुरक्त न हुआ तो वह शोध कर लेने के बाद भी उससे अप्रभावित, असम्पृक्त तथा अननुकम्पित ही रहेगा।

शोधच्छात्र एवं शोधविषय का सामञ्जस्य बैठ जाने के बाद भी शोध–प्रक्रिया एक महत्त्वपूर्ण पक्ष और शेष रह जाता है और वह है मनोऽनुकूल शोधनिर्देशक की प्राप्ति।

शोधनिर्देशक

विश्वविद्यालयों में बी.ए. तथा एम्.ए. कक्षाओं के चार वर्षों के अध्ययन–क्रम प्रायः शोधकर्त्ता युवक अपनी आकांक्षा अपने अभीष्ट प्राध्यापक के समक्ष प्रकट कर देते हैं और वह प्राध्यापक भी प्रायः छात्र से एतदर्थ

वचनबद्ध हो जाता है। मैं अपना अनुभव बताऊँ कि मैं पूज्य गुरुवर्य प्रो.चन्द्रिका प्रसाद शुक्ल के निर्देशन में कार्य करना चाहता था। परन्तु धर्मसंकट यह था कि उनसे भी वरिष्ठ अपने सगे पितृव्यचरण प्रो. आद्या प्रसाद मिश्र को कैसे छोड़ूँ? अतः चाचा के निर्देशन में ही कार्य किया।

वस्तुतः शोधकर्त्ता तथा निर्देशक के बीच पुत्र एवं पिता जैसा सम्बन्ध होता है या यूँ कहें कि पिता–पुत्र जैसा सम्बन्ध होना चाहिए। शोधनिर्देशक का चयन करते समय निम्न विन्दुओं पर ध्यान देना चाहिये –

1. शोधनिर्देशक उसी शाखा का विशेषज्ञ (Expert) हो जिसमें आप शोध करना चाहते हैं। यदि साहित्य का छात्र वेदज्ञ के निर्देशन में तथा दर्शन का शोधार्थी साहित्यज्ञ के साथ जुड़ता है तो पदे–पदे कठिनाई आयेगी।
2. यदि शोधार्थी असवर्ण वर्ग का है तो उसे अपने सवर्ण निर्देशक के स्वभाव, मनोभाव तथा आचरण के बारे में अवश्य जानकारी कर लेनी चाहिये। अतिवादी, रूढ़िवादी, हीनभावना ग्रस्त विद्वान् छात्र के साथ न्याय नहीं कर पाते।
3. मामा, जीजा, फूफा, नाना जैसे सम्बन्धी विद्वानों के साथ शोधकार्य कभी नहीं करना चाहिये। वे छात्र का दुरुपयोग करते हैं तथा शोध का विषय, चर्चा में आने ही नहीं देते।
4. संशयित स्वभाव वाले, विवादास्पद, असन्तुलित तथा जल्लाद–स्वभाव आचार्य के साथ कभी भी जुड़ना नहीं चाहिए। वे कष्टकारी होते हैं।
5. क्षेत्रवादी, जातिवाद, सम्प्रदायवादी तथा अन्य वादों से भी ग्रस्त विद्वान्

का परिहार करना चाहिये।

6. उत्कोचजीवी प्राध्यापक से भी दूर ही रहना चाहिये अन्यथा वह आपका नित्यदोहन करना रहेगा।

शोधनिर्देशक ही शोधकर्त्ता का भाग्यविधाता है। यदि वह सुयोग्य, सहृदय, वात्सल्यमण्डित तथा शिष्यानुग्रही न हुआ तो शोधच्छात्र का मानो भाग्य ही फूट गया। वह निरन्तर बेचारे शोधकर्त्ता का शोषण करता रहता है तथा काम को आगे बढ़ने ही नहीं देता। मेरी दृष्टि में –

वत्सलो वित्तमो वाग्मी सर्वविद्याविशारदः।

मृदुवाक् प्रीतिमान् विज्ञो देशिकोऽसौ प्रशस्यते॥

निर्लोभो निरहङ्कारस्समदर्शी समञ्जसः।

नित्यस्वाध्यायसम्पन्नो गुरुरेको महीयते॥

जो छात्रों के प्रति वात्सल्यभाव रखता हो, विद्वानों में अग्रगण्य हो, वाग्मी हो, समस्त विद्याओं/शास्त्रों में निष्णात हो, मीठा बोलने वाला हो, मीठे स्वभाव वाला हो, उच्चकोटिक ज्ञान वाला हो–ऐसा देशिक (आचार्य) प्रशस्त होता है।

जो लोभरहित हो (उत्कोचजीवी न हो), अहंकारी न हो, समस्त छात्रों पर समान दृष्टि रखता हो (उनमें भेद–भाव न बरतता हो) साधु स्वभाव का हो (टेढ़ा न हो) और निरन्तर शास्त्रानुशीलन में दत्तचित्त हो वही गुरु श्रेष्ठ होता है।

आचार्य के उपर्युक्त गुण ही शोधनिर्देशक के भी गुण होने चाहिये। आज समूचे राष्ट्र में इन प्राध्यापकीय गुणों का अकाल–सा पड़ गया है। यदि आचार्य वत्सल नहीं है, विद्वान् नहीं है, समस्त शास्त्रों में पारंगत नहीं है, उत्कोचजीवी अर्थपिशाच है, छात्रों में (उनकी परिवारिक अर्थ–स्थिति को दृष्टि में रख कर) भेद–दृष्टि रखता है, लोभी है, टेढ़े स्वभाव वाला है, नित्याध्ययनशील नहीं है तथा अहंकारी है तो निश्चय ही शोधच्छात्र का दुर्भाग्य है। फिर तो शोधकार्य सम्पन्न हो पाना सर्वथा असंभव है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी ऐसे तथाकथित गुरुओं की घोर निन्दा की है –

हरइ अरथ अज्ञान न हरई।

सो गुरु घोर नरक मँह परई।।

इस प्रकार, शोधविषय, शोधार्थी तथा शोधनिर्देशक–तीनों के अनुकूल सामञ्जस्य से ही शोधकार्य उत्तमकोटिक हो पाता है। यदि इन तीनों घटक अंगों में कोई भी एक सदोष हुआ, अ–समञ्जस हुआ तो शोधकार्य या तो अपूर्ण रह जाता है अथवा पूर्ण होने पर भी सदोष रह जाता है। शोधनिर्देशकों के असहिष्णु स्वभाव के ही कारण कभी–कभी शोधच्छात्र संकटापन्न हो उठता है। कभी–कभी शोधविषय निर्देशक द्वारा, अपनी किसी स्वार्थपूर्ति के लिये, शोधच्छात्र पर जबरन लाद दिया जाता है और यह बेचारा उपाधि पाने के लोभ में उसे **अगत्या** ढोता रहता है।

इकाई–4

शोधविषय का चयन एवं शीर्षक निर्धारण

शोधविषय का चयन

उपर्युक्त अनुच्छेदों में शोधविषय के चयन–सन्दर्भ में शोधच्छात्र की अर्हता एवं तदनुकूल शोधनिर्देशक के गुणों की संक्षिप्त व्याख्या की गई। अब प्रश्न उठता है शोध विषय के चयन का तथा इस विषय को उचित शीर्षक प्रदान करने का।

अपने व्यक्तिगत अनुभव से भी मैंने यह देखा है कि कभी–कभी शोधप्रबन्ध में छात्र विषय के साथ न्याय नहीं कर पाता– मात्र शीर्षक की सन्दिग्धता के कारण। संस्कृत वाङ्मय की लेखन–अवधि प्रायः दो सहस्राब्दियों में व्याप्त है। अतएव हमें शोधविषय का चयन करते तथा शीर्षक निश्चित करते समय इस बिन्दु पर विशेष ध्यान देना चाहिये कि हमारा शोधकार्य अतिव्याप्त अथवा संकीर्ण तो नहीं हो रहा है? मान लीजिये आपने शोधविषय चुना – **संस्कृत के ऐतिहासिक महाकाव्यों का समीक्षात्मक अध्ययन।'** और अध्ययन किया मात्र नवसाहसाङ्कचरितम् तथा विक्रमाङ्कदेवचरितम् था, तो निश्चय ही शोधप्रबन्ध अ–स्वीकरणीय होगा। इसलिए आवश्यक है कि शीर्षक का निर्धारण सोच–विचार कर ही किया जाय। यदि उपर्युक्त विषय को ही हम निम्न स्वरूप में ढाल दें तो बड़ी सुविधा हो सकती है।

1. संस्कृत के प्रमुख ऐतिहासिक महाकाव्यों का समीक्षात्मक अध्ययन।

2. संस्कृत के प्राचीन / मध्यकालीन / अर्वाचीन ऐतिहसिक महाकाव्यों का

समीक्षात्मक अध्ययन।

वस्तुतः विषय चयन तथा शीर्षक–निर्धारण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। विषय चुनने का अर्थ है अपनी अभिरुचि के क्षेत्र में शोधविषय को ग्रहण करना। हम वेद, दर्शन, साहित्य, तंत्र, ज्यौतिष, कोशशास्त्र, इतिहास– किसी भी क्षेत्र से अपनी रुचि का विषय ले सकते हैं। अरुचि का विषय कभी भी न शोधच्छात्र को लेना चाहिये, न ही निर्देशक को देना चाहिये। अब, रुचि का विषय ले लेने के बाद उसे शीर्षक देने का सवाल उठता है। शीर्षक देने में निम्न विन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है –

1. शोधविषय की व्यापकता कहाँ से कहाँ तक है?
2. शोधविषय का सामान्य (Genius) तथा विशेष (Species) क्या है? अर्थात् शोधविषय किस महाविषय के अन्तर्गत है और शोधविषय के अन्तर्गत और कौन–कौन उपविषय हैं?
3. शीर्षक भ्रामक, संदिग्ध, अतिव्याप्त, संकीर्ण अथवा श्लिष्टकोटिक तो नहीं है?

शीर्षक–निर्धारण में यह तथ्य, मेरी दृष्टि में, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि अध्ययन किस दृष्टि से किया जा रहा है? ये दृष्टियाँ निम्न प्रकार की हो सकती हैं –

1. एकल अथवा निरपेक्ष अध्ययन।
2. परिप्रेक्ष्यात्मक अध्ययन।

3. तुलनात्मक अध्ययन।

4. समन्वयात्मक अध्ययन।

5. समीक्षात्मक अध्ययन।

एकल अथवा निरपेक्ष अध्ययन का अर्थ है किसी ग्रंथ/ग्रंथकार अथवा विषय का, उसकी अपनी सीमाओं के ही भीतर, सरल–सपाट तथा अन्य ग्रंथ/ग्रंथकार/विषय–निरपेक्ष अध्ययन करना। जैसे भट्टि प्रणीत रावणवधम्: एक अध्ययन। यह विषय एकदम साफ–सुथरा तथा स्वयं सीमित है। न इसमें किसी अन्य ग्रंथ से तुलना करनी है, न ही परिप्रेक्ष्य की चर्चा करनी है। बस, ग्रंथ में जो भी शोध सामग्री है, उसका समुचित मूल्यांकन कर देना है।

परिप्रेक्ष्यात्मक अध्ययन उसे कहते हैं जब किसी ग्रंथ/ग्रंथकार का अध्ययन उसी विषय से जुड़े अत्यन्त प्राचीन तथा मानक ग्रंथ/ग्रंथकार के परिप्रेक्ष्य में किया जाय। उदाहरणार्थ – **श्रीमद्‌भागवत महापुराण के परिप्रेक्ष्य में वामनावतरण महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन।** यहाँ उल्लेखनीय है कि बलि–वामन की कथा श्रीमद्‌भागवत् के पञ्चम स्कन्ध/ में आई है। अब उसी कथा पर आधारित एक अर्वाचीन महाकाव्य का अध्ययन किया जा रहा है, तो शोधकर्त्ता का कर्तव्य है कि वह **हानोपादान**–पुरस्पर अनुसन्धान सम्पन्न करें। यह बतायें कि प्राचीन कथा से नई वामनकथा कितनी भिन्न है? उसकी क्या विशेषता है?

परिप्रेक्ष्यात्मक अध्ययन के दो लाभ होते हैं। एक तो यह कि अर्वाचीन ग्रंथ के अनुसन्धानात्मक अध्ययन को एक ठोस आधार मिल जाता है। चूँकि

उसी इतिवृत्त पर प्राचीन ग्रंथ भी आधारित है अतः प्रतिपाद्य, पात्रयोजना, रसालंकार–योजना आदि का एक स्थापित मानदण्ड हमें प्राप्त हो जाता है और नये ग्रंथ के प्रतिपाद्य आदि के मूल्यांकन में सहायता मिल जाती है।

परिप्रेक्ष्यात्मक अध्ययन से दूसरा लाभ यह है कि नया शोधकार्य प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण बन जाता है। जिस कथानक को भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास ने लिखा, उसी कथानक को आज के युग का एक सामान्य कवि भी लिख रहा है। यह अपने आप में एक गौरवास्पद बिन्दु है। ऐसी स्थिति में यदि किसी अर्वाचीन कवि के अवदान का मूल्यांकन भगवान् वेदव्यास के साथ हो रहा हो तो उसके सौभाग्य की कल्पना मात्र की जा सकती है।

तुलनात्मक अध्ययन का स्वरूप एवं क्षेत्र तो स्वतः स्पष्ट है। यह अध्ययन अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है। परन्तु दो दृष्टियाँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है :

1. जब दो कृतियों का मूल कथानक एक हो।
2. जब दो कृतियों की रचना का उद्देश्य एक हो।

उदाहरणार्थ– भाषप्रणीत दरिद्रचारुदत्तम् एवं शूद्रथ–प्रणीत मृच्छकटिकम् का तुलनात्मक अध्ययन। इसे तुलनात्मक शीर्षक माना जायेगा क्योंकि दोनों ग्रंथों का मूल कथानक एक है। परन्तु **क्षेमेन्द्र–प्रणीत चारुचर्या एवं गुमानीकृत उपदेश शतकम् का तुलनात्मक अध्ययन** में[1] दोनों कवियों

---

[1] डॉ. महेशदत्त शर्मा के निर्देशन में सम्पन्न बाँकेबिहारी नामक शोधार्थी का यह शोधप्रबन्ध अभी मेरे पास आया था परीक्षणार्थ। रुहेलखण्ड वि.वि.,बरेली। 2006 ई.।

का उद्देश्य एक है – सदुपदेशों के द्वारा पाठकों को प्रबुद्ध बनाना, सन्मार्ग पर लाना अथवा सहृदयों का मनोरंजन करना। इसलिये इन दोनों समलक्ष्य ग्रंथों में तुलनात्मक अध्ययन संभव है।

परन्तु यदि कोई **कालिदासप्रणीत मेघदूतम् एवं शिवराजविजयम् का तुलनात्मक अध्ययन** कराना या करना चाहें तो उपहासास्पद होगा, क्योंकि न तो दोनों ग्रंथों का कथानक समान है, न ही उनकी रचना का उद्देश्य।

समन्वयात्मक अध्ययन का तात्पर्य है जब ऐसी कृतियों का समन्वित रूप से अध्ययन किया जाय जो यथाकथञ्चित्, एकसूत्राबद्ध हों। जैसे– अभिराजराजेन्द्र प्रणीत सामाजिक/ऐतिहासिक/ पौराणिक एकांकियों का समीक्षात्मक अध्ययन। इन शोधप्रबन्धों में सामाजिक, ऐतिहासिक अथवा पौराणिक दृष्टि से समन्वित समस्त एकांकियों का युगपत् अध्ययन किया जा सकता है। इसी प्रकार का एक अन्य शोधकार्य प्रो. बी. भट्टाचार्य के निर्देशन में सम्पन्न हुआ, जिसका परीक्षक मैं रहा – संस्कृत साहित्य में ययाति कथा और ययातिचरितः एक समीक्षात्मक अध्ययन (कु. वत्सला, काशी हि.वि.वि., वाराणसी 1991)।

समीक्षात्मक अध्ययन में समस्त विशिष्टकोटिक अध्ययन (तुलनात्मक, परिप्रेक्ष्यात्मक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि समाहित हो जाते हैं। यह अध्ययन अनुसन्धाता को भरपूर स्वतंत्रता प्रदान करता है मनोनुकूल अध्ययन करने के लिये।

शीर्षकनिर्धारण

शोधप्रबन्ध का शीर्षक–निर्धारण भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। शीर्षक निर्धारण के अनेक मानक हो सकते हैं जिन्हें हम (1)एकल, (2) तुलनात्मक, (3) व्याख्यानात्मक तथा प्रतीकात्मक पद्धति से निश्चित कर सकते हैं।

यदि शोध का विषय किसी विशिष्ट कवि, आचार्य अथवा कृति पर आधारित है तो **एकलशीर्षक** ही सर्वोत्तम होता है। उदाहरणार्थ –

(क) उत्प्रेक्षावल्लभ–प्रणीत भिक्षाटनकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन।

(ख) आचार्य अन्नमभट्ट के योगदान का समीक्षात्मक अध्ययन।

(ग) पण्डिता क्षमाराव की कृतियों का समीक्षात्मक अध्ययन आदि।

परन्तु यदि शोधकार्य दो काव्यकारों, कथाकारों, नाट्यकारों अथवा काव्यशास्त्रियों की रचनाओं पर आधारित है तो शीर्षक में दोनों का नामोल्लेख होना चाहिये। इस उल्लेख में भी ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ का नाम पौर्वापर्य में आये तो उचित होगा। जैसे –

(क) आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी 'सनातन' तथा राधावल्लभ त्रिपाठी के अलंकार सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन।

(ख) पण्डिता क्षमाराव एवं वीणा पाटनी की कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन।

(ग) आचार्य बच्चूलाल अवस्थी एवं अभिराजराजेन्द्र की ग़ज़लों का तुलनात्मक अध्ययन।

(घ) श्रीभाष्यं विजयसारथि, डॉ. रमाकान्त शुक्ल एवं अभिराजराजेन्द्र की राष्ट्रीय कविताओं का समीक्षात्मक अध्ययन।

व्याख्यानात्मक शीर्षकों में शोधविषय की ही प्रधानता होती है। उस विषय से जुड़े रचनाकार स्वयं उस शोधकार्य के अंग बन जाते हैं। उदाहरणार्थ –

(क) संस्कृत कथाओं में नारी–विमर्श : एक समीक्षात्मक अध्ययन।

(ख) संस्कृत कथाओं में दलित–विमर्श : एक समीक्षात्मक अध्ययन।

(ग) रूढ़ि एवं परम्परामुक्त संस्कृत कविता का समीक्षात्मक अध्ययन।

प्रतीकात्मक शीर्षकों में बड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता है। वे इस प्रकार के हो सकते हैं –

(क) वैदेशिक छन्दों से पल्लवित संस्कृत कविता : एक अध्ययन।

इकाई-5

शोध प्रबन्ध का स्वरूप एवं उसकी रूपरेखा

शोधप्रबन्ध का स्वरूप (प्रारूप)

लेखनपूर्व कार्य के दो प्रमुख विन्दु है –

(1) प्रारूप (Synopsis) का निर्माण

(2) शोध–सामग्री का संकलन।

प्रारूप–निर्माण के बिना शोध प्रबन्ध के बारे में कुछ सोचा ही नहीं जा सकता। जैसे चतुर वास्तुनिर्माता (इञ्जीनियर) भवन–निर्माण से पूर्व उसका नक्शा (Map) बनवाता है किसी स्थापति–विशेषज्ञ (Architect) से, ठीक उसी प्रकार शोधप्रबन्ध तैयार करने से पूर्व उसका प्रारूप बनाना भी अनिवार्य होता है। प्रारूप को ही रूपरेखा (Outlines) भी कहा जाता है।

शोधप्रबन्ध का प्रारूप–निर्माण मुख्यतः शोधप्रबन्ध के निर्देशक का ही दायित्व होना चाहिये। मैंने सदैव इसी परम्परा का पालन किया। कुछ व्यथित शोधच्छात्र यह बताते रहे कि डेढ़ वर्ष बीत जाने के बाद भी अभी तक उनके शोधप्रबन्ध का प्रारूप नहीं बना। पूछने पर ज्ञात हुआ कि शोधनिर्देशक का कहना है प्रारूप बनाना मेरा काम नहीं है। यह कार्य छात्र को स्वयं करना चाहिये।

यहाँ मेरा स्पष्ट मतभेद है। क्योंकि प्रारूप बनाना निर्देशक का ही दायित्व है, क्योंकि प्रारूप वही बना सकता है। वस्तुतः शोधच्छात्र एवं निर्देशक में,

ज्ञान एवं अनुभव की दृष्टि से, जमीन–आसमान का अन्तर होता है। शोधच्छात्र, जो अभी पाठ्यग्रंथों में सीमित रहा, परीक्षा की विभीषिका से सन्त्रस्त रहा– विद्वान् प्राध्यापक की तुलना में अत्यन्त अनुभवशून्य होता है। वह पूर्णजानकारी वाला (Well informed) भी नहीं होता। अभी–अभी वह शोधकार्य करने में प्रवृत्त हुआ है। भला वह 'शोधप्रबन्ध' के समूचे विस्तार के बारे में क्या जाने? शोधप्रबन्ध का स्वरूप तो छात्र को, उत्तरोत्तर अध्ययन करने के अनन्तर ही समझ में आ पाता है।

शोधच्छात्र की तुलना में विद्वान् प्राध्यापक (निर्देशक) शोधविषय से पूर्णतः अभिज्ञ, अनुभवी तथा समर्थ होता है। उसके लिये, शोधप्रबन्ध की रूपरेखा का निर्माण अत्यन्त सरल कार्य है। अतः होना यह चाहिये कि शोधनिर्देशक, शोधच्छात्र को शोधप्रबन्ध का स्वरूप समझाते हुए, उसके अंगोपांगों का विस्तार बताये तथा स्वयं प्रारूप बनाकर छात्र को प्रारूप के ही अनुसार आगे बढ़ने को कहे।

जैसे वास्तुकार द्वारा बनाये नक्शे के आधार पर चतुर मिस्त्री देखते–ही–देखते भवन खड़ा कर देता है उसी प्रकार निर्देशक द्वारा निर्मित एवं व्याख्यात प्रारूप को प्राप्त कर शोधच्छात्र भी उसी के आधार पर अपना शोधप्रबन्ध तैयार कर लेता है।

प्रारूप में कितने अध्याय अथवा परिच्छेद हों यह निर्भर करता है शोधविषय की प्रकृति पर। शोधविषय साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, साहित्यशास्त्रीय अथवा तकनीकी प्रकृति के हो सकते हैं। फिर भी, शोधप्रबन्ध

में अध्यायों की संख्या सात से अधिक नहीं होनी चाहये। कुछ शोधच्छात्र प्रथम खण्ड, द्वितीय खण्ड तथा तृतीय खण्ड आदि जैसा विभाजन कर, खण्डों को प्रथम, द्वितीय, तृतीय अध्याय में विभक्त करते हैं, ऐसा मैंने स्वयं परीक्षित दो–चार शोधप्रबन्धों में देखा है। परन्तु यह प्रश्लिष्ट पद्धति (Complex Method) का विभाजन है जो शोध–परीक्षक को रास नहीं आता। अध्यायों का वर्गीकरण सरल, सपाट और विवेच्य विषयानुसार होना चाहिये।

प्रथम अध्याय **प्रास्ताविक** होता है। कुछ लोग इसे **विषय–प्रवेश** नाम भी देते हैं। यह अनिवार्य विषय है। क्योंकि शोध विषय चाहे सुपरिचित, पूर्वपरिचित, अल्पपरिचित अथवा अपरिचित ही क्यों न हो, शोधपरीक्षक सर्वप्रथम शोधविषय से परिचित होना चाहता है। इसलिये प्रथम अध्याय का प्रास्ताविक होना स्वाभाविक है। इस प्रास्ताविक अध्याय में ही शोधच्छात्र को दो विन्दुओं का स्पष्टीकरण करना चाहिये। पहला तो यह कि (यदि विषय सुपरिचित है) इस विषय को लेकर शोध कार्य करने का औचित्य क्या है? अपेक्षा क्या है? शोधच्छात्र बतायेगा पूर्व शोधों का विवरण देते हुए कि वे किस सीमा तक पूर्ण या सांगोपांग हैं? अथवा उनमें क्या कमी रह गई जिसकी पूर्ति के लिये प्रस्तुत शोधकार्य किया जा रहा है। अथवा पूर्वशोधों के अनन्तर कितने कुछ अवान्तर ताथ्य अब प्रकाश में आ चुके हैं जिनसे विद्वज्जगत् को परिचित कराना आवश्यक है, अतएव यह शोधकार्य नई दृष्टि के साथ किया जा रहा है।

वस्तुतः प्रास्ताविक अध्याय में शोधविषय के सर्वविध महत्त्व से तथा उस पर किये गये शोधकार्यों से परिचित कराना आवश्यक होता है ताकि

शोधकर्त्ता पर पिष्टपेषण का लांछन न लगाया जा सकें।

प्रारूप में प्रस्तावना जैसा ही महत्त्व **विषयोपसंहार** (Conclusion) का भी होता है। कुछ लोग तो अन्तिम अध्याय को ही 'विषयोपसंहार' का शीर्षक दे देते हैं। परन्तु कुछ अनुसन्धाता शोधप्रबन्ध के अध्यायान्त में स्वतंत्र **उपसंहार** कल्पित कर, शोधप्रबन्ध का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं।

मेरी दृष्टि में यह दूसरी पद्धति ही अधिक प्रशस्त है। शोधकर्त्ता को उपसंहार में निम्न विन्दुओं को रेखांकित करना चाहिये –

(1) इस शोध–प्रबन्ध की मौलिक उपलब्धियाँ क्या हैं?

(2) इस शोधप्रबन्ध की सीमायें क्या है और वे सीमायें, इसी विषय में सम्बद्ध पूर्व शोधप्रबन्धें से किस मात्रा एवं गुणवत्ता में भिन्न हैं?

(3) इस शोधप्रबन्ध द्वारा अनुसन्धाता ने भावी पीढ़ी को क्या योगदान दिया है? अर्थात् यह शोधप्रबन्ध किस प्रकार समाज को उपकृत कर सकेगा?

(4) क्या यह शोधप्रबन्ध पर्याप्त (Exhaustive) है अथवा अभी भी अवान्तर शोधों की संभावनाओं का द्वार खोलता है?

(5) क्या शोधकर्त्ता शोधविषय से सम्बद्ध सारी सामग्री का उपयोग कर सका है अथवा ज्ञात सामग्री का उपयोग करने से, यथाकथंचित् वंचित रह गया है?

(6) इस शोधप्रबन्ध द्वारा शोधकर्त्ता स्वयं कैसे परितुष्ट हो रहा है और विद्वज्जगत् को कैसे परितुष्ट कर पा रहा है?

प्रस्तावना तथा उपसंहार के अनन्तर शेष रह जाता है मुख्य प्रतिपाद्य का विवेचन। यदि किसी विषय का साहित्यिक एवं साहित्यशास्त्रीय अध्ययन है तो मुख्यतः प्रतिपाद्य–विवेचन, पात्र–विवेचन, रसालंकार–विवेचन तथा साहित्यिक–साहित्यशास्त्रीय विवेचन जैसे चार पृथक् अध्याय बनाने उचित हैं। वस्तुतः **समीक्षात्मक अध्ययन** अथवा **आलोचनात्मक अध्ययन** शीर्षक में साहित्यिक/ साहित्यशास्त्रीय/नाट्यशास्त्रीय तथा तुलनात्मक आदि समस्त अध्ययन अन्तर्भूत हो जाते हैं।

शोध–प्रारूप

वामनावतरण महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन

(1) रूपरेखा

प्रथम अध्याय : प्रास्ताविक

- स्वातंत्र्योत्तर संस्कृतमहाकाव्यों का मूल्यांकन। कथावस्तु चयन एवं काव्य दृष्टि का विवेचन। धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक एवं चरिताश्रयी महाकाव्य।
- स्वातंत्र्योत्तर महाकाव्यकारों का संक्षिप्त परिचय। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, डॉ. सुबोधचन्द्र पन्त, आचार्य श्रीनिवास रथ, डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर, ओगोटि परीक्षित शर्मा, श्री कृष्णदत्त शर्मा शास्त्री

आदि।

- अभिराज डॉ. राजेन्द्र मिश्र एवं तत्प्रणीत महाकाव्य : वामनावतरणम् । एक संक्षिप्त परिचय।
- प्रस्तुत शोधकार्य की अपेक्षा एवं औचित्य।

द्वितीय अध्याय : अभिराजराजेन्द्र : व्यक्तित्त्व एवं कर्तृत्त्व

- वंश परिचय, जन्मस्थान, माता–पिता, गोत्र–कुल एवं प्रारंभिक शिक्षा।
- उच्चशिक्षार्जन। अध्यापन क्षेत्र (इलाहाबाद, शिमला) उदयन वि.वि. डेनपसार,बाली (इण्डोनेशिया)। अन्य देशों की यात्राएँ –नेपाल, थाईलैण्ड, इंग्लैण्ड।
- साहित्यसाधना। संस्कृत, हिन्दी, लोकभाषा (अवधी/भोजपुरी)।
- कृतिपरिचय (संस्कृत) काव्यसाहित्य, नाट्यसाहित्य, कथासाहित्य, समीक्षा–साहित्य। हिन्दी रचनों (गद्य–पद्य) लोकभाषा कृतियाँ।
- अभिराज–वाङ्मय की मौलिकता एवं वैशिष्टय। देश–विदेश के विद्वानों के अभिमत। कर्तृव्य–प्रतिष्ठा (शोधकार्य एवं कृतियों का पाठयक्रम में निर्धारण)।
- मान–सम्मान। साहित्य अकादमी, वाचस्पति, कालिदास, कल्पवल्ली, राष्ट्रपति, वाल्मीकि एवं अन्यान्य पुरस्कारो की समीक्षा।

तृतीय अध्याय : वामनावतरण की प्रतिपाद्य–समीक्षा

- महाकाव्य का शास्त्रीय लक्षण एवं वामनावतरण का महाकाव्यत्व।
- नायकनिर्णय–भगवान् वामन अथवा देवराज इन्द्र? महाकाव्य धर्मप्रधान अथवा अर्थप्रधान? तर्कसंगत समीक्षा।
- वामनावतरण के मूल स्रोत की समीक्षा। श्रीमद्भागवत् का बलिवामन सन्दर्भ। भागवतोपलब्ध कथानक के साथ वामनावतरण की प्रतिपद तुलना।
- समान तथा असमान (मौलिक) इतिवृत्तांशों का विवेचन, औचित्य–स्थापना।
- वामनावतरण की रचना में कवि की काव्यदृष्टि। आदर्श लोकतंत्र की काव्यात्मक व्याख्या।
- भगवान् वामन द्वारा संस्थापित 'देवसाम्राज्य' आधुनिक लोकतंत्र का आदर्श। विस्तृत समीक्षा।

चतुर्थ अध्याय : साहित्यिक समीक्षा

- साहित्याशास्त्रीय तत्त्वों की समीक्षा–रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य तथा ध्वनि। वामनावतरण में उपर्युक्त तत्त्वों की सोदाहरण व्याख्या।
- वामनावतरण में अलंकार–सौन्दर्य। प्रमुख शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों की प्रामाणिक व्याख्या।

- वामनावतरण में प्रयुक्त छन्दों की समीक्षा। छन्द–चयन में कवि की औचित्य दृष्टि। छन्दों का रसाऽनुगुणत्व।

- साहित्यिक सौन्दर्य : मानवीय संवेदनाओं का चित्रण (ममता, करुणा, परोपकार, वदान्यता, शरणागतवत्सलता, प्रेम, रोष, ईर्ष्या, द्वेषादिभाव) कल्पना चारुत्व तथा विम्बविधान।

पञ्चम अध्याय : सांस्कृतिक समीक्षा

- वामनावतरण की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि। देव–संस्कृति तथा रक्षः–संस्कृति का विवेचन। यज्ञ–परम्परा की प्रतिष्ठा।

- महाकाव्य में वर्णित आरण्यक संस्कृति की समीक्षा। व्यक्ति एवं समाज के विविध रूप। संस्कारों की प्रतिष्ठा–सोदाहरण व्याख्या।

- संस्कृति के अन्य पक्षों का विवेचन–जीवनचर्या, वेशभूषा, खान–पान, लोक–व्यवहार। मानवेतर (पशु–पक्षि) जगत् का चित्रण।

- विषयोपसंहार। वामनावतरण की रचना का मूल उद्देश्य। परपीडन की पराजय एवं सर्वोदय की प्रतिष्ठापना। देवसंस्कृति की प्रतिष्ठापना तथा आज के भ्रष्ट लोकतंत्र के लिये अनुकरणीय आदर्श की सृष्टि।

उपर्युक्त प्रारूप एक महाकाव्य कृति के साहित्यिक अध्ययन का है। चूँकि महाकाव्य बीसवीं शताब्दी ई. की कृति है, इसलिये इसकी प्रस्तावना में प्राचीन महाकाव्यों की कोई चर्चा नहीं की गई है। मात्र बीसवीं शती अथवा

स्वातंत्र्योत्तर महाकाव्यों का संक्षिप्त परिचय देते हुए प्रसंगोपात्त कृति का परिचय दिया गया है।

विषयोपसंहार में कवि के काव्यप्रणयन का मूल उद्देश्य स्पष्ट किया गया है। यह उद्देश्य है रक्षः–संस्कृति का परिहार एवं देव–संस्कृति का अभिनन्दन– महाकाव्य में चित्रित देव–संस्कृति को ही आज के ह्रासोन्मुख लोकतंत्र के लिये आदर्श माना गया है।

एक अन्य शोधविषय का प्रारूप प्रस्तुत है जो किसी एक विशिष्ट कृति पर नहीं, प्रत्युत कवि की अनेक कृतियों पर आधारित है –

अभिराज राजेन्द्रमिश्र की काव्यकृतियों में राष्ट्रीय भावना

(2) शोध प्रारूप

प्रथम अध्याय : प्रास्ताविक

- संस्कृत कविता में स्वातंत्र्यभावना का उदय। राष्ट्र की परिकल्पना। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में जन्मभूमि का रूपाङ्कन। अथर्ववेद में राष्ट्र, राजा तथा शासन–तंत्र के विचार। ऋग्वेद का सामंनस्य सूक्त एवं अन्य सन्दर्भ।
- पौराणिक तथा अभिजात (Classical) काव्यवाङ्मय में राष्ट्रीय भावनाएँ।
- बीसवीं शती की संस्कृत कविता में राष्ट्रीय भावनाएँ। भारत का स्वाधीनता संग्राम तथा उस युग की कविता। बंकिमचन्द्र, म.म.

रामावतार शर्मा, पण्डिता क्षमाराव, अप्पाशास्त्री राशिवडेकर, भट्ट मथुरानाथ शास्त्री, म.म. मथुरानाथ दीक्षित आदि की कविता में राष्ट्रीय भावना।

- स्वातंत्र्योत्तर संस्कृत कविता में राष्ट्रीय भावनाएँ अभिराज डॉ. राजेन्द्र मिश्र, डॉ. रमाकान्त शुक्ल, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी आदि के काव्य।
- प्रस्तुत शोध विषय का उपक्रम तथा औचित्य।

द्वितीय अध्याय : व्यक्तित्त्व एवं कर्तृत्त्व

- अभिराज डॉ. राजेन्द्र मिश्र : जन्मस्थान, जन्मकाल। माता–पिता एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि। शिक्षाक्रम एवं सेवावृत्ति। इलाहाबाद, शिमला (भारत) तथा बालीद्वीप (इण्डोनेशिया) के अध्यापन का विवरण।
- डॉ. मिश्र का कर्तृत्त्व : संस्कृत कृतियाँ (महाकाव्य, खण्डकाव्य, नवगीत–संग्रह, कथासंग्रह, एकांकी संग्रह, नाटक–नटिकों एवं समीक्षाग्रंथ) हिन्दी रचनाएँ, अंग्रेजी में लिखित साहित्य।
- डॉ. मिश्र की रचनाधर्मिता का मूल्यांकन। साहित्यिक पुरस्कार। अभिराजवाङ्मय पर शोधकार्य विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठयक्रमों में कृतियों का निर्धारण।

तृतीय अध्याय : प्रबन्धात्मक कृतियों (महाकाव्यों, खण्डाकाव्य) में राष्ट्रीय भावना

- जानकीजीवनम् महाकाव्य में राष्ट्रीय भावना। वामनावतरणम् महाकाव्य में प्रतिपादित आदर्श लोकतंत्र की व्याख्या। देवसंस्कृति एवं रक्षः–संस्कृति की समीक्षा।

- डॉ. मिश्र के राष्ट्रीय भावनापरक स्वतंत्र काव्य–नव्यभारतशतकम्, भारत–दण्डकम् प्रभातमंगलशतकम्, गीतभारतम् मृगाङ्कदूतम्, भारतीपरिदेवनशतकम् वैशालीशतकम्, उज्जयिनीशतकम् आदि। विस्मयलहरी। अरण्यानी की राष्ट्रीय रचनाएँ। डॉ. मिश्र के अन्य शतक–काव्यों में राष्ट्रीयता के भाव।

चतुर्थ अध्याय : नवगीतों में राष्ट्रीय भावना।

- डॉ. मिश्र के नवगीत–संग्रह–वाग्वधूटी, मृद्वीका, श्रुतिम्भरा, मधुपर्णी, मत्तवारणी। वाग्वघूटी के राष्ट्रीय गीत। मृद्वीका के राष्ट्रीय गीत। श्रुतिम्भरा के राष्ट्रीय गीत। मधुपर्णी के राष्ट्रीय गीत। मत्तवारणी एवं शालभञ्जिका की राष्ट्रीय गज़लें।

- डॉ. मिश्र के राष्ट्रीय गीतों की विस्तृत समीक्षा–राष्ट्र का अतीत गौरव, वर्तमान भारत की दुर्दशा का चित्रण–स्वार्थवाद, प्रतिभा की अवमानना, राजनीति का अभद्ररूप–छल, छद्म, सत्तालोभ एवं चारित्रिक पतन। हिन्दू–मुस्लिम समस्या, पृथक्ता की भावना, आतंकवाद एवं नक्सलवाद। जीवन मूल्यों का ह्रास। अपसंस्कृतियों का आतंक। राष्ट्राभ्युदय के प्रति कवि की दृढ़ निष्ठा।

पञ्चम अध्याय : काव्यशास्त्रीय समीक्षा

- डॉ. राजेन्द्रमिश्र के राष्टीय गीतों की भावभूमि। कल्पनाचारुत्व एवं सिम्बविधान।

- गुण, अलंकार एवं रसविवेचन। छन्दोविवेचन। मुक्तगीतों एवं गज़लों का प्रयोग।

- मानवीय संवेदनाओं का चित्रण। करुणा, ममता, जनानुराग, बन्धुत्व, सर्वधर्म–समभाव, सहिष्णुता, परितोष एवं राष्ट्रभक्ति का चित्रण। दुर्भावनाओं का विरोध।

विषयोपसंहार

राष्ट्रीय मूल्यों की नये सिरे से प्राणप्रतिष्ठा का प्रयास। राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्रधर्म के प्रति ध्यानाकर्षण। राष्ट्र के स्वर्णिम अतीत के प्रति राष्ट्रवासियों का आवाहन।

खण्ड–2, इकाई–6 (क)

सामग्री संकलन (मुख्यस्त्रोत)

सामग्री संकलन का स्त्रोत शोध में प्रायः उसी प्रकार का है जैसा साहित्य एवं इतिहासादि में होता है।

साहित्य के विषय में आचार्य भामह कहते हैं –

शब्दाश्छन्दों ऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।

लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी।।

कथाबन्ध के विषय में **बाणभट्ट** कहते हैं **–**

नवो ऽर्तो ज्योतिग्राम्या श्लेषों ऽक्तिलष्टः स्फुटो रसः।

विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम् ।।

इसी प्रकार **कल्हण** भी इतिहास–स्त्रोतों की चर्चा करते हैं।

(1) यदि शोधविषय किसी प्राचीन ग्रंथ पर आधारित है तो उस ग्रंथ के विविध संस्करणों तथा विविध टीकाओं के लिये पुस्तकालयों में, पाण्डुलिपि–संग्रहालयों में जाना तथा सामग्री संकलित करना।

(2) यदि विषय किसी भौगोलिक क्षेत्र–विशेष से सम्बद्ध है तो उस क्षेत्र की यात्रा करना तथा वहाँ के विद्वानों, संग्रहकारों तथा अन्यान्य स्त्रोतोभूत साहित्यकारों से सहायता प्राप्त करना।

(3) यदि शोधविषय किसी जीवित साहित्यकार पर आधारित है तो उससे

समय लेकर उसका साक्षात्कार लेना, उसके मंतव्यों का ध्वन्यंकन (Tape recording) करना, उसकी कृतियों से सम्बद्ध पृच्छाओं (Questions) का उत्तर प्राप्त कर अपना ज्ञान–संवर्धन करना।

(4) यदि विषय सांस्कृतिक एवं अन्य तकनीकी प्रकृति का है तो सम्बद्ध संस्कृति केन्द्रों पर जाकर सामग्री–संचय करना।

वस्तुतः सामग्री–संकलन की परम्परा भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है। समस्त महान् रचनाकारों ने अपनी कालजयी कृति लिखने से पूर्व सामग्री–संकलन के स्रोतों का खुलासा किया है। महाकवि कल्हण ने **राजतरंगिणी** की रचना से पूर्व ग्यारह ऐतिहासिक ग्रंथों का भरपूर अध्ययन किया था जिनमें प्रमुख थे– नीलमुनि–प्रणीत नीलमतपुराण, क्षेमेन्द्रप्रणीत–नृपावली, हेलाराज–प्रणीत पार्थिवावली तथा सुव्रत–प्रणीत कृति। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने उपलब्ध अनेक दानपत्रों, ताम्रपत्रों, मुद्राओं, शिलाशासनों, यहाँ तक कि जनश्रुतियों एवं किंवदन्तियों का भी अध्ययन किया था।

हिन्दी के महाकवि गोस्वामी तुलसीदास भी रामचरितमानस की रचना से पूर्व **नानापुराणनिगमागम**, मूल वाल्मीकिरामायण तथा अन्यायन्य (क्वचिदन्यतोऽपि) सम्प्रदायान्तर–ग्रंथों से भी सहायता लेने की बात करते हैं।

शोधकार्य चाहे साहित्यिक कोटि का हो अथवा ऐतिहासिक–उसमें ऐतिहासिक स्रोतों की आवश्यकता पड़ती ही है। ये ऐतिहासिक स्रोत नाना प्रकार के हैं– शिलालेख, स्तम्भलेख, कीर्तिस्तम्भलेख, प्रस्तरलेख, ताम्रपत्रलेख, मूर्तिलेख, मन्दिरभित्ति–लेख, ताडपत्रांकित लेख, भूर्जपत्रांकित लेख,

चर्मपत्रांकित लेख, काष्ठफलकालेख, पेपीरस, मुद्रायें आदि। वस्तुत; ये सारे ऐतिहासिक–सामग्री के स्रोत कागज का आविष्कार होने से पूर्व के हैं। **प्रस्तरलेख** संभवतः प्राचीनतम इतिहास–सामग्री है जो किसी पर्वतशिला के प्रान्तभाग पर (जो अभी भी उस पहाड़ का ही अंश है) लिखी गई। उड़ीसा में भुवनेश्वर के पास खण्डगिरि में राजा खारवेल का हाथीगुम्फा लेख, गिरिनार में रुद्रदामन् का प्रस्तरलेख (150 ई.) इसी प्रकार के हैं।

प्रियदर्शी राजा अशोक ने चौकोर काटकर चिकनी बनाई गई पृथक् शिलाओं और स्तम्भों पर अपने धर्मलेख लिखवाये (ई.पू. चौथी शती) जो आज भी गान्धार (कन्दहार), मानसेहरा, तक्षशिला, कालसी, लुम्बिनी, रामपुरवा, लौरिया अदराज, सारनाथ, कौशाम्बी, साँची, सोपारा, ब्रह्मगिरि तथा शहबाजगढ़ आदि स्थानों पर उपलब्ध हैं। मन्दसौर का वत्सभट्टि–प्रणीत शिलालेख तथा रविकीर्ति का ऐहोल शिलालेख भी महत्त्वपूर्ण है।

समुद्रगुप्त–प्रशस्ति, जो इलाहाबाद दुर्ग में सुरक्षित है, सम्राट् समुद्रगुप्त की दिग्विजयों का विवरण प्रस्तुत करती है जो महाकवि हरिषेण द्वारा लिखी गई है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय–प्रांगण में स्थापित अशोक–स्तम्भ पर भी अनेक मूल्यवान आलेख हैं।

खजुराहो के कण्डरिया महादेव मंदिर में चन्देल–नरेश गण्डदेव का मन्दिर भित्तिलेख महनीय है। इसी प्रकार मालवेश्वर भोजदेव, उनके पुत्र उदयादित्य तथा गुर्जरप्रतीहार–नरेश महेन्द्रपाल–महीपाल के अनेक शिलालेख इतिहास के स्रोत हैं। सम्राट् समुद्रगुप्त एवं अन्यान्य नरपतियों की मुद्रायें भी

मूल्यवान सूचनायें देती हैं।

पेपीरस घास से बना कागज होता था जिसका आविष्कार 2500 वर्ष ई.पू. में मिश्र देश में हुआ था। इसे खरीता कहते हैं जो लपेट कर रखा जाता था। ब्रिटिश संग्रहालय लन्दन में 133 फुट लम्बा पेपीरस अभी भी सुरक्षित है ऐतिहासिक विवरणों से अंकित। बहरहाल, पेपीरस भारत में उपलब्ध नहीं है।

पेपीरस के अनन्तर ही आता है ताडपत्रों एवं भूर्जपत्रों पर अंकित आलेख। भारतीय पाण्डुलिपि–संग्रहालयों में इन ताडपत्रीय एवं भूर्जपत्रीय पाण्डुलिपियों का विशाल संग्रह विद्यमान है। एक लाख चौदह हजार पाण्डुलिपियों का विशालतम संग्रह सरस्वती भवन संग्रहालय, वाराणसी में विद्यमान है संस्कृत विश्वविद्यालय में।

कालक्रम के विकास के साथ–ही–साथ ये ऐतिहासिक विवरण कागज पर लिख जाने लगे। ये विवरण प्रशास्तिपत्रों, दानपत्रों, फरमानों (राजाज्ञाओं) के रूप में हैं। तीर्थ पुरोहितों की बहियाँ भी ऐतिहासिक विवरणों का महान् स्रोत हैं। बदरी–केदार, हरिद्वार, गया तथा सोरों के तीर्थ पुरोहितों के पास समूचे भारत का तीन–चार सौ वर्षों का वृत्त मिल जायेगा। महाराणा प्रताप तथा उनके पुत्र अमर सिंह की सोरों यात्रा का वृत्त उनके पास है।

एक स्रोत से मुझे ज्ञात हुआ कि बदरीनाथ के ज्योतिष्पीठ में महाराज परीक्षित का ताम्रपत्र सुरक्षित है। यह सौभाग्य की पराकाष्ठा है।

हर्षचरित, वेशभूषा, चरित, नवसाहसांकचरित, विक्रमांक देव चरित, सुकृत संकीर्तन, बसन्तविलास हम्मीरकाव्य, जगडूचरित, हीरविजय, पृथ्वीराज

विजय तथा राजतरंगिणी जैसी ऐतिहासिक एवं आत्मकथापरक कृतियाँ भी विलक्षण ऐतिहासिक बन सकती हैं।

सामग्री संकलन (गौण स्त्रोत)

शोध सामग्री–स्त्रोतों का विशेषतः गौण स्त्रोतों का दायरा आज अत्यन्त विशाल हो गया है। यहाँ कुछ स्त्रोतों का उल्लेख किया जा रहा है–

1. **दूरदर्शन चैनल** – दूरदर्शन पर यूँ तो चरित्र को सँवारने तथा बरबाद करने वाले हजारों देशी–विदेशी चैनल कार्य कर रहे हैं। परन्तु कुछेक तो अत्यन्त शिक्षाप्रद हैं जैसे – डिस्कवरी चैनल, ज्यौग्राफिक चैनल तथा एनीमल प्लैनेट आदि। बच्चों के लिये भी डिस्कवरी किड के अतिरिक्त अनेक धारावाहिक आते हैं। ये धारावाहिक कान्तार–जगत् (Animal Tribe) का जीवन चित्रण प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन संस्कृतियों के इतिहास–भूगोल का भी अत्यन्त प्रामाणिक एवं सोदाहरण प्रदर्शन करते हैं।

   यदि किसी का शोध विषय प्राचीन संस्कृतियों से, सभ्यताओं से है तो वह इनसे लाभान्वित होता है। मुझे संस्कृत में **कान्तार कथा** अरण्योपन्यास लिखने की प्रेरणा इन्हीं धारावाहिकों से मिली।

   इसके अतिरिक्त भी अनेक शिक्षाप्रद कथानक, पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक इतिवृत्त टी.वी. पर आते रहते हैं। यदि कोई चाहे तो भरपूर लाभ उठा सकता है।

2. **शलाकापुरुष–** शोधकार्य के गौण स्त्रोत कुछेक ऐसे शलाकापुरुष भी

हो सकते हैं जो अपने जीवन में उस शोधविषय के पारखी, विशेषज्ञ रहे हों, जो आपका लक्ष्य है। अब वे सेवाकार्य से निवृत्त हैं परन्तु अपनी ज्ञान सम्पदा से निवृत्त नहीं हैं। शोधार्थी को ऐसे गुरुजनों की वत्सलता का लाभ उठाना चाहिये। उसका नियम है– **तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया!** अर्थात् ऐसे ज्ञान–वृद्धों की आप प्रणति कीजिये, उनसे अपनी उत्काण्ठा प्रकट करिये तथा उनकी सेवा कीजिये। निश्चय ही वे ज्ञान के कल्पवृक्ष आपकी आकांक्षा पूर्ण करेंगे।

3. **संगणकीय स्त्रोत–** हजारों विद्वान् भी आपको जो नहीं बता पायेगा– अकेला एक गूगल आपको सब बता देगा। आप यू–ट्यूब, फेसबुक, व्हाट्स–ऐप, ट्विटर, फैक्स, लिङ्कस इन आदि माध्यमों से लाभान्वित हो सकते हैं। केरल, आन्ध्र, चेन्नई, कोलकाता आदि के छात्र–छात्राएँ नित्यप्रति स्वयं मुझसे शोधसूचनाएँ प्रतिदिन लेते रहते हैं। मैं प्रसन्नतापूर्वक उनकी सहायता करता हूँ।

पुस्तकालय प्राचीन काल से ही ज्ञान–विज्ञान तथा विविध विद्याओं, कलाओं के केन्द्र रहे हैं। ई.पू. शतियों में पत्रेमम तथा अलेक्जोण्ड्रिया के विश्वविद्यालय प्रसिद्ध थे। प्रायः उसी कालखण्ड में भारतवर्ष में भी तक्षशिला (स्म्प्रति पाकिस्तान में) काशी एवं नालन्दा के विश्वविद्यालय ख्याति के चरमशिखर पर थे।

भारतीय पुस्तकालयों का महाविनाश मुस्लिम आक्रमणों में हुआ। धार्मिक विद्वेष की आँच में दग्ध इन हृदयहीन, निर्विवेक आक्रमणकारियों ने भारत को

तो कंगाल बना ही दिया, सम्पूर्ण विश्वमानवता को दिव्य ज्ञान की सम्पदा में च्युत कर दिया। फिर भी पुस्तकालय बिगड़ते–बनते रहे। अंग्रेजी शासनकाल में पुस्तकालयों की संरचना तथा समृद्धि पर विशेष बल दिया गया। अंग्रेजों ने भारत में नये सिरे से, डचों ने इण्डोनेशियाई क्षेत्रों में तथा फ्रांसीसियों ने वहाँ के ग्रंथाकारों को प्रतिष्ठित एवं सज्जित किया।

आज भारतीय पुस्तकालय स्मृद्धि के शिखर पर हैं। इस पुस्तकालयों में हजारों विषयों से सम्बद्ध ग्रंथों का अक्षय भण्डार है जहाँ बैठ कर शोधार्थी अपने विषय का अध्ययन कर सकता है। पुस्तकालयों को शोधसामग्री संकलन का गौण स्त्रोत माना जाता है।

प्रायः समृद्ध पुस्तकालयों में अध्ययन की व्यवस्था दो प्रकार की है– अध्ययन मण्डप (Reading Hall) तथा शोधप्रकोष्ठ (Research Cell)

अध्ययन मण्डप एक सार्वजनिक विशाल कक्ष है, जिसमें कोई अध्येता प्रकोष्ठ मात्र शोधार्थी के लिये होते हैं जहाँ मात्र वही बैठ सकता है। इस कक्ष में मात्र वे ही ग्रंथ एकत्र होते हैं जिनका शोधार्थी अध्ययन कर चुका होता है, कर रहा होता है अथवा करने वाला होता है, कुछ विश्वविद्यालयों ने तो ऐसी व्यवस्था की है कि शोध प्रकोष्ठ एक निश्चित अवधि तक के लिये शोधच्छात्र को दे दिये जाते हैं। वह इन्हें ताला लगाकर सुरक्षित रखता है ताकि उसके शोधसन्दर्भ की पञ्जीकृत पुस्तकें बिखरा न दी जायँ।

शोध प्रकोष्ठ में छात्र ग्रंथों का उपयोग अनेक प्रकार से करता है। आजकल तो अनेक नूतन विधियाँ प्रचलन में हैं। एक विधि तो है शोध के

विभिन्न पहलुओं अथवा विन्दुओं से सम्बद्ध सामग्री की टिप्पणियाँ (Notes) पृथक् पंजिकाओं में संकलित करना।

दूसरी विधि को हम पत्रकविधि (Card Method) कह सकते हैं। इसमें पत्रक पर ग्रंथ का पृष्ठ, अनुच्छेद तथा उपलब्ध सामग्री लिख कर, ग्रंथ को यथास्थान रख दिया जाता है तथा शोधप्रबन्ध लिखते समय उसी कार्ड के आधार पर, मूल सन्दर्भ को पुनः सामने रखकर प्रबन्ध लिख लिया जाता है। एक तीसरी विधि ग्रंथोपयोग की है– **पताकाविधि** (Flagging)। ग्रंथ में जहाँ उपयोगी सामग्री मिलती है वहाँ एक पताका जैसा कागज का टुकड़ा डाल देते हैं तथा उस पर संकेत लिख लेते हैं कि सामग्री किस विषय की है।

इस प्रकार, ग्रंथों का उपयोग करने से अपनी भी सुविधा रहती है, ग्रंथ भी खराब नहीं होता बहरहाल किसी भी स्थितियों में ग्रंथ का कोना या पूरा पन्ना मोड़ना नहीं चाहिये। यह अशिष्ट उपयोग विधि है।

गौण स्त्रोत के रूप में पुस्तकालय का विस्तृत विवेचन हमने प्रस्तुत किया। प्रस्तुतः पुस्तकालय शब्द यहाँ उपलक्षण मात्र हैं शोधसामग्री के सञ्चय केन्द्र का। अन्यथा पुस्तकालय का तात्पर्य है हर प्रकार के वे केन्द्र जो पुस्तकालय की भाँति ज्ञान का केन्द्र हों। प्राचीन समाज में ऐसा किस्सागो, कथावाचक, जोगी, फकीर, यायावर तथा मलंग होते थे जो **जीवन्त पुस्तकालय** होते थे। उनके पास अनुभवों का खज़ाना होता था। अब वे परम्परों लुप्त हो गईं, उन्हीं के साथ वे लोकगाथों तथा लोकगीत भी भर गए। परन्तु आज भी मठ, मन्दिर, धर्मशाला तथा धार्मिक केन्द्र शोध के गौणस्त्रोतों के रूप में कार्य कर ही रहे

हैं।

धार्मिक ग्रंथों का लेखन एक परम पुण्य कार्य माना जाता था प्राचीन काल में ग्रंथ दान, भूमि अथवा द्रव्यदान से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता था। यह प्रक्रिया प्रायः समस्त धर्मों में प्रचलित थी। आलमगीर औरंगजेब को कुछ इतिहासकार ऐसा ही प्रच्छन्नधार्मिक मानते हैं जो कुरान लिखकर पेट पालता था। परन्तु उसके क्रूर आचरण से उसकी धर्मचर्या का कोई सामञ्जस्य नहीं था।

इकाई—6

शोधप्रबन्ध के मुख्य घटक-अध्यायों में विभाजन

अब हम शोधप्रबन्ध के संगोपांग स्वरूप पर केन्द्रित होते हैं। इस शोधप्रबन्ध के प्रांरभ से अन्त तक कौन–कौन अंग होंगे तथा उनकी सार्थकता क्या होगी, यह जानना आवश्यक है।

लेखन के अनन्तर, परीक्षणार्थ प्रस्तुत होने वाले शोधप्रबन्ध के मुख्य घटक (अर्थात् अंगभूत) अंग (Constituent Parts) इस प्रकार हैं –

(1) अध्याय अथवा परिच्छेद व्यवस्था (Chapters)।

(2) अनुच्छेद (Paragraph) व्यवस्था।

(3) उद्धरण (Quotations)।

(4) पादटिप्पणी (Foot Notes)।

(5) ग्रंथसूची (Bibliography)।

(6) परिशिष्ट (Index)।

(7) उपोद्घात।

1. **अध्याय–व्यवस्था** – शोधप्रबन्ध में अध्यायों की व्यवस्था विवेच्च सामग्री के नैसर्गिक पार्थक्य को दृष्टि में रखकर करनी चाहिये। नैसर्गिक पार्थक्य का अर्थ है ऐसा अलगाव जो स्वाभाविक हो। उराहरणार्थ–नाट्यशास्त्र में व्यवस्था दी गई है कि (नाट्य) कथावस्तु के तीन प्रधानतत्त्व होते हैं–

कथावस्तु, नेता (पात्र) एवं रस (वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः)। इन तीनों तत्त्वों में सहज एवं स्वाभाविक भेद है। इसी को प्रमाण मानकर हम किसी भी साहित्यिक कृति का विवेचन करते समय तीन पृथक् अध्यायों की परिकल्पना कर सकते हैं – अमुक कृति का प्रतिपाद्यविवेचन, अमुक कृति का पात्रविवेचन, अमुक कृति का रसालंकार विवेचन।

अन्यान्य अध्यायों की व्यवस्था ग्रन्थ के वैशिष्टय को दृष्टि में रख कर की जानी चाहिये। उदाहरणार्थ– यदि व्याकरणनिष्ठ काव्य है तो व्याकरणशास्त्रीय अध्ययन पर आधारित पृथक् अध्याय होना चाहिये। यदि संस्कृति एवं धर्मपरक कृति हो तो उसका पृथक् अध्याय में विवेचन किया जाना चाहिये। यदि ग्रंथ स्थापत्यपरक हो, ज्यौतिषपरक हो, बौद्ध–जैन देशनापरक हो अथवा कोषशास्त्रपरक हो तो पृथक् अध्यायों में इन वैशिष्ट्यों का अध्ययन किया जाना चाहिये।

शोधप्रबन्ध का, जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रथम अध्याय (Opening Chapter) प्रास्ताविक होना चाहिये। जिसमें शोधप्रबन्ध के आधारभूत ग्रंथ का सांगोपांग परिचय होना चाहिये। इस अध्याय में इन विन्दुओं की व्याख्या अवश्य होनी चाहिये कि –

(1) ग्रंथ का प्रतिपाद्य किस विद्याशाखा (Branch of Indology) अथवा शास्त्र (Discipline) से सम्बद्ध है।

(2) इस ग्रंथ का अपने सजातीय वाङ्मय में कालक्रम एवं मौलिक योगदान की दृष्टि से क्या स्थान है?

(3) इस ग्रंथ पर अभी तक कितना शोधकार्य किया गया है? अथवा यह कार्य इन्दम्प्रथमतया किया जा रहा है।

(4) इस शोधप्रबन्ध को लिखने में कौन से स्त्रोत उपलब्ध हैं और शोधकर्त्ता का लक्ष्य नहीं है।

2. **अनुच्छेद–व्यवस्था**–अध्यायों के अनन्तर अनुच्छेदों का क्रम आता है। अनुच्छेद की व्यवस्था वैचारिक–प्रवाह को व्यवस्थित करने के लिये होती है। अनुच्छेदों का विभाजन अत्यन्त सहज–स्वाभाविक होना चाहिये। विवेचनात्मक विचार–प्रवाह में जब भी नयापन आये, ताजगी आये, विजातीयता आये–तभी नये अनुच्छेद की व्यवस्था कर लेनी चाहिये। जैसे किसी यात्रा में पथ से जुड़े दृश्य बदलते जाते हैं वैसे ही विचार–प्रवाह में भी, विवेचन विन्दुओं में परिवर्तन होता रहता है। अतः कई प्रकार के, विविध पक्ष, विविध अनुभूतियाँ, विविध तथ्य एक ही अनुच्छेद में कहने का यत्न नहीं करना चाहिये प्रत्युत तथ्य परिवर्तित होते ही अनुच्छेद भी परिवर्तित कर देना चाहिये।

वैचारिक–प्रवाह की निरन्तरता अथवा दीर्घता उद्वेग एवं नीरसता की सृष्टि करती है। इसलिये भी अपने विवेचन को चुस्त–दुरुस्त बनाने के लिये अनुच्छेद कल्पित करना चाहिये। विचारों को तोड़–तोड़ कर व्यक्त करने पर उनमें विशदता, स्पष्टता तथा सरलता आ जाती है।

कादम्बरी–कथा का प्रारंभिक अंश स्मरण करें। महाकवि बाणभट्ट कथाप्रवाह के विभिन्न प्रकरणों को नये अनुच्छेदों के साथ कहते हैं –

(1) शूद्रक नाम का एक चक्रवर्ती नरपति था।

(2) वह इन–इन सद्गुणों से शोभित था।

(3) एक दिन सूर्योदयवेला में ही प्रतिहारी ने राजा को सूचित किया कि कोई मातंगकन्या उनका दर्शन करना चाहती है।

(4) राजा ने चाण्डाल कन्या को लाने की अनुमति दी।

(5) एक चाण्डाल कन्या तब पिंजरे में बन्द शुकशावक को लेकर राजदरबार में आई।

(6) राजा उस कन्या का अप्रतिम लावण्य देखता ही रह गया। उसके मन में भाव–तरंगें उठीं......।

(7) चांण्डाल कन्या ने शुक का परिचय देते हुए निवेदन किया।

(8) शुकशावक को लेकर राजा और उसके अमात्यों में बात होने लगी–उसकी जातिस्मरता को लेकर।

(9) तभी मध्याह्न–सूचक शंखध्वनि हुई। राजसभा का विसर्जन हो गया।

(10)सभा विसर्जित होते ही महीपतियों में संभ्रम सा छा गया, आदि

कथा का प्रत्येक नया प्रकरण, नया मोड़–नये अनुच्छेद से प्रांरभ होता है। इसी पद्धति का आश्रय शोधप्रबन्ध में भी लेना चाहिये।

इकाई–8

प्रामाण्य उद्धरण एवं पादटिप्पणी

दोनों तथ्य की पुष्टि करने वाले तत्त्व हैं। परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि जहाँ उद्धरण मन्तव्य की प्रत्यक्ष पुष्टि करता है वहीं पादटिप्पणी अप्रत्यक्ष पुष्टि करती है। वस्तुतः पादटिप्पणी पुष्टि का स्मरणमात्र कराती है, अतः कभी–कभी पादटिप्पणी को यथावत् उद्धृत न करके, उसका स्थलनिर्देश मात्र कर दिया जाता है। उद्धरण विवेचन का अविभाज्य अंश होता है। उसके अभाव में विवेचन अपुष्ट, अप्रामाणिक तथा अपूर्ण–सा रह जाता है। अतः उद्धरण को, उसके अपेक्षित स्थल पर ही यथावत् उद्धत करना चाहिये।

उद्धरण को संकेतित मात्र नहीं किया जा सकता। उसे संक्षिप्त अथवा विकल (खण्डित) करना भी ठीक नहीं है। यदि उद्धरण का सन्दर्भोल्लेख पहले किया जा चुका है तो ठीक है, जैसे–**महाकविमाघ ने शिशुपालवधमहाकाव्य के तृतीय सर्ग के अमुक श्लोक में कहा है।**

यदि ऐसा नहीं है तो श्लोक को उद्धृत कर स्थान–निर्देश नीचे कर देना चाहिये, जैसे–शिशुपालवधम्, 3।14।

उद्धरणों का उद्देश्य तथा उनके प्रयोग में सतर्कता पर प्रकाश डालते हुए डॉ. गन्धे ने कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है जो यथावत् उद्धृत किया जा रहा है –

किसी भी विषय पर शोधकार्य अथवा मौलिक रचना का प्रणयन पूर्व में उस क्षेत्र में किये गये प्रयासों की परम्परा में अगला सोपान होता है। जिस

किसी भी विषय पर शोधकार्य किया जाता है वह उस विषय का अथवा उस क्षेत्र का सर्वप्रथम कार्य नहीं होता है, पूर्व में भी उस विषय पर अथवा उस क्षेत्र में एक भिन्न दृष्टि अथवा आंशिक रूप से कार्य हुआ हो, इसकी पूर्ण संभावना बनी रहती है।

पूर्व में किये गये कार्य की रीति–नीति से परिचित होना तथा उनसे प्राप्त सामग्री का परीक्षण करना और अपने कार्य को अधिक मौलिक एवं प्रामाणिक बनाने के लिए उपयोग करना अपेक्षित हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रायः पूर्व के ग्रन्थों के उद्धरण दिये जाते हैं।

उद्धरण मूल लेखक के प्रामाणिक और मौलिक विचारों को अभिव्यक्त करता है तथा अनुसंधाता के तर्क को पुष्ट करता है। कभी–कभी अन्य लेखक के विचारों पर टिप्पणी करके उसका खण्डन या व्याख्या करने के लिए उद्धरण का प्रयोग होता है। उद्धरण का प्रयोग उस समय भी किया जाता है जब भावार्थ देने से मूल पाठ का अर्थ बदलने का भय हो।

उद्धरण के उद्देश्य – ‘‘उद्धरण के लिये उद्धरण’’– इस भाव से दिये गये उद्धरण से शोधकार्य के गांभीर्य में कमी आती है। उद्धरण उन्हीं परिस्थितियों में दिये जाने चाहिए जब उद्धरण देना न केवल अनिवार्य हो अपितु अपरिहार्य भी। औचित्यपूर्ण उद्धरण देने से शोध–कार्य का मूल्य बढ़ता है। अनुचित उद्धरणों के द्वारा विचारों के प्रकटन में शिथिलता आती है जो उस कार्य के प्रभाव को कम कर देती है।

उद्धरण के उद्देश्य निम्नानुसार हो सकत है –

(1) अपने मत की पुष्टि के लिए–अनुसंधाता अपने मत को पुष्ट करने के लिए प्रायः मूल ग्रन्थों के उद्धरणों को उद्धृत करता है। उद्धरण के स्रोत किसी भी प्रकार के हो सकते है जैसे– मूलग्रंथ, टीकाग्रन्थ, व्याख्याग्रन्थ।

(2) अन्य मत के खण्डन के लिए– कभी–कभी किसी विषय के प्रचलित मत का अथवा कुछ विद्वानों के मतों का सयुक्तिक खण्डन करना अपेक्षित होती है, ऐसी स्थिति में इस मत के विरुद्ध प्रमाण देने की आवश्यकता होता है। अतः प्रमाणस्वरूप उद्धरण दिये जाते हैं। प्रचलित मत अथवा विचार कई बार प्रमादवश त्रुटियुक्त स्वरूप में रहते हैं। अतः इस प्रमाद या त्रुटि को दूर करने के लिए मूल उद्धरणों का प्रकाशन आवश्यक हो जाता है।

(3) अन्य मतों को स्वीकृत कर उनमें संशोधन करने के लिए – शोधक्रिया में कभी–कभी अपने मत की पुष्टि के लिए किसी अन्य के मत को प्रमाण के रूप में पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से स्वीकार किया जाता है। ऐसी स्थिति में मूल ग्रन्थ का उद्धरण देना अपरिहार्य हो जाता है।

(4) दो में से एक की स्वीकृति के लिए– जब किसी विषय पर दो विभिन्न मत प्रचलित हों तब उन दो में से किसी एक को अथवा दोनों के कुछ–कुछ अंश को लेकर एक नवीन मत की उद्भावना अपेक्षित हो जाती है। ऐसी स्थिति में दोनों ही मतों को उद्धरण के रूप में प्रथमतः उद्धृत किया जाता है तत्पश्चात् हानोपादान की दृष्टि से उन पर विचार किया जाता है।

उद्धरणों के प्रयोग में सतर्कता –

(1) प्रचलित या सर्वमान्य मत को उद्धृत नहीं करना चाहिए।

(2) उद्धरण औचित्यपूर्ण होना चाहिए।

(3) उद्धरण प्रामाणिक होना चाहिए। मुख्य समस्या या विषय से सम्बन्ध न रखने वाले सामान्य उद्धरण विषय–निरूपण को दुर्बल बना देते हैं। भले ही उद्धरण स्वयं में कितने ही सुन्दर अथवा प्रभावशाली क्यों न हों।

(4) सन्दर्भ को पूरी तरह समझकर सावधानीपूर्वक उद्धरण दिया जाना चाहिए। ऐसा न होने पर शोधार्थी की तर्कक्षमता पर प्रश्न–चिह्न लग सकता है।

(5) उद्धरण प्रामाणिक होना चाहिए।

(6) उद्धरण अविकल प्रस्तुत होना चाहिए। इसमें किसी भी प्रकार की त्रुटि न हो अर्थात् उद्धरण पूर्णतः शुद्ध होने चाहिए।

(7) प्रत्येक उद्धरण को उचित सन्दर्भ के साथ चिह्नांकित करना चाहिए। यदि उद्धरण के मूल में कोई त्रुटि हो तो वह भी स्पष्ट की जानी चाहिए।

(8) अधिक बड़े उद्धरण के अप्रासंगिक होने की दशा में प्रारम्भ का कुछ भाग लिखकर मध्य के भाग को बिन्दु रेखा के द्वारा प्रकट करके अन्त का कुछ भाग लिखकर पूर्ण कर देना चाहिए।

(9) उद्धरण में यदि कुछ अपनी ओर से जोड़ना ही तो उसे पृथक् कोष्ठक के द्वारा दर्शाना चाहिए।

(10) मूल लेखक के उद्देश्य को विकृत नहीं करना चाहिए।

(11) छोटे उद्धरण चलते वाक्य के रूप में दिए जा सकते है।

(12) जब एक ही उद्धरण में दूसरा उद्धरण आ जाता है तब मूल उद्धरण को दोहरे उद्धरण–चिह्न के साथ तथा मध्य में आने वाले उद्धरण को इकहरे उद्धरण–चिह्न के साथ दर्शाया जाना चाहिए।

(13) जब किसी लेखक के विचारों को उद्धृत न कर उसका भावार्थ दिया जा रहा है तब उद्धरण–चिह्न का प्रयोग नहीं करना चाहिए, किन्तु जहाँ से विचार लिया गया है उसे स्वीकार करना चाहिए।

(14) इस प्रकार उद्धरण, शोध–कार्य को प्रामाणित एवं पुष्ट करते हैं। औचित्यपूर्ण एवं प्रसंगानुकूल उद्धरणों के बारे में, उनकी संख्या के बारे में किसी भी प्रकार की सीमा–रेखा तय नहीं की जा सकती। हो सकता है, कहीं बिना उद्धरणों के ही काम चल जाए अथवा कहीं–कहीं उद्धरणों का बाहुल्य अपेक्षित हो। बिना उद्धरणों के आधिक्य से न तो विचार–प्रवाह बाधित होगा और न ही उसमें शिथिलता आयेगी। उद्धरण शोध–प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग है। कहाँ, कब, कितने उद्धरण देना है, वह प्रसंगानुकूल तथा शोधछात्र के विवेक पर निर्भर करता है।

शोधप्रबन्ध में पाद–टिप्पणी – शोधप्रक्रिया में जब शोधार्थी अपने मत की पुष्टि के लिए अन्य ग्रंथों के लेखकों के विचारों को उद्धृत करता है तब उन विचारों को संदर्भ के रूप में प्रकट करने के लिए शोध–ग्रन्थ के अन्त

में अथवा पृष्ठ के नीचे टिप्पणी का प्रयोग होता है। पादटिप्पणी का प्रयोग किसी युक्ति को प्रमाणित करने या व्याख्या करने के लिए होता है। प्रायः यह टिप्पणी जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है कि पृष्ठ के नीचे के भाग में दी जाती है। टंकण की सुविधा की दृष्टि से कभी–कभी अध्याय अथवा शोधप्रबन्ध के अन्त में भी इसको दिया जाता है। पाद–टिप्पणी अत्यधिक संख्या में नहीं होनी चाहिए।

पादटिप्पणी में उद्धरणों के अतिरिक्त किसी सूचना के स्रोत, जिसमें ग्रंथ का नाम, लेखक का नाम आदि रहता है, को दिया जाता है। पादटिप्पणी यदि अध्याय के अन्त में दी जा रही है और उसकी संख्या भी अधिक हो तो मूल पाठ में अंक के द्वारा इसे दर्शाया जाता है। अंकों का अंकन पंक्ति के अन्त में कुछ ऊपर की ओर किया जाता है। इसे **ऊर्ध्वांक–पद्धति** कहते हैं। उद्धरण में यह अंकन उद्धरण चिह्न के बाद होता है। यदि पादटिप्पणी पृष्ठ के निचले भाग पर अंकित की जा रही हो तब उसे विभिन्न चिह्नों से चिह्नित की जाने वाली परम्परा रही है, जैसे ×* 011 आदि।

एक बार पादटिप्पणी में लेखक–ग्रंथ आदि का विवरण आ जाने के बाद, पुनः उसी लेखक एवं ग्रंथ का प्रयोग आ जाने पर कुछ विशिष्ट शब्दों द्वारा उसे दुहरा दिया जाता है, जैसे– वही, तदेव, उद्धृत, पूर्ववत् आदि। सन्दर्भ सूचना के लिये वर्तमान में कोष्ठक रीति का प्रचलन है। जहाँ उद्धरण दिये जाते हैं वही पर कोष्ठक में उसके आगे सम्बन्धित सन्दर्भ की सूचना भी रहती है।

यह रीति Modern Language Association of America में

प्रकाशित है जो अपेक्षाकृत सरल है और विश्वस्तर पर स्वीकृत भी। इसमें सूचनों अत्यन्त संक्षेप में होती हैं। कभी–कभी ये सूचनों संकेत–रूप में भी होती हैं।

इकाई–9

भूमिका

उपोद्घात–शोधप्रबन्ध के प्रारंभ में अनुसंधानता अपना व्यक्तिगत निवेदन भी लिखता है जिसे उपोद्घात, भूमिका, प्राक्कथन, आमुख, दो शब्द, निवेदन, आत्मकथात्मक, प्रस्तावना अथवा प्रास्ताविक कहा जाता है

शोधप्रबन्ध की भूमिका अत्यन्त संक्षिप्त तथा आत्मीय संस्पर्श से युक्त होनी चाहिये। **आत्मीयसंस्पर्श** का अर्थ है– शोधकार्य की प्रेरणा–प्राप्ति का विवरण, शोधकार्य में आने वाली विघ्न–बाधाओं तथा कठिनाईयों का विवरण, शोधकार्य को सुकर बनाने वाले व्यक्तियों एवं घटनाओं का विवरण।

भूमिका में आभार–प्रदर्शन- कृतज्ञता–प्रकाशन होना आवश्यक है। परन्तु इसकी भी एक मर्यादित सीमा होनी चाहिये। मैंने देखा है अपने पास आई थीसिसों में कि विवाहित कन्यों अपने पतिदेव की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशस्तियों के साथ उनके प्रति कृतज्ञ होना कथमपि नहीं भूलतीं जबकि उन्हें संस्कृत से कुछ लेना–देना नहीं बस, वे इतना जानते हैं कि उनकी पत्नी संस्कृत नामक किसी भाषा में थीसिस प्रस्तुत कर रही है (विद्वत्ता या ज्ञान प्राप्ति के लिये नहीं) नौकरी पाने के लिये। कुछेक तो सास–ससुर, जेठ–जेठानी तथा ननदों–देवरों के नाम का अम्बार लगा देती है। हँसी तो तब आती है जब शोधार्थिनियाँ अपने साल भर के **नन्दलाल** अथवा 6 महीने की **जनकलली** का विलक्षण विसर्ग बताते हुए आभारव्यक्त करती हैं कि **कभी रोया नहीं, अधिक–से–अधिक गहरी नींद में सोकर मुझे शोध का अवसर देता**

रहा/देती रही आदि। ऐसी उपहासास्पद टिप्पणियों से बचना चाहिये।

पुरुष शोधकर्त्ता युवकों में फिलहाल यह दोष नहीं है हाँ, कुछ **बाजबहादुर** लोग अपनी **सम्पत्तियों** का नाम्ना उल्लेख अवश्य करते हैं परन्तु अधिकांश **भरथरी टाइप** युवा माँ–बाप, दादा–दादी से नीचे उतरते ही नहीं। पत्नी के सहयोग के बारे में मौन ही रहते हैं। सच बात तो यह है कि भूमिका 'आत्मनेपदी न होकर परस्मैपदी ही होनी चाहिये। भूमिका में निम्न विन्दुओं पर शोधकर्त्ता का कथ्य अवश्य होना चाहिए –

1. शोध विषय चुनने की पृष्ठभूमि क्या थी?
2. शोधविषय शोधकर्त्ता की पसन्द से मिला अथवा निर्देशक ने उसे उस विषय पर कार्य करने के लिये बाध्य किया।
3. शोध सामग्री जुटाने में कैसा अनुभव रहा? सरलता से सामग्री मिल गई या भागदौड़ करनी पड़ी।
4. शोधावधि में निर्देशक का साहाय्य कैसा रहा?
5. शोध अवधि की कोई अविस्मरणीय घटना। किसी विद्वान् या मित्र का अविस्मरणीय योगदान।[1]
6. यदि आर्थिक संकट रहा तो आर्थिक सहायता देकर पथ–प्रशस्त

---

[1] मेरे पूज्य चाचा प्रो. मायाप्रसाद मिश्र की थीसिस (Bhakti in Shankar Vedant) अटैची में रखी तब ट्रेन से गायब हो गई जब वह सागर से इलाहाबाद अब प्रयागराजर आ रहे थे उसे टाइप कराने। परन्तु धन्य था उनका धैर्य, संयम साहस कि उन्होनें पुनः थीसिस लिखी और परीक्षणार्थ प्रस्तुत की।

करने वाले स्वजनों का उल्लेख।

7. मुख्यतः माता–पिता तथा निर्देशक के प्रति अनुभव संवेद्य कृतज्ञता का प्रकाशन। विशेष परिस्थितियों में अन्य भाई बन्धुओं का भी उल्लेख।

8. शोधविषयक अन्य कोई भी ऐसी घटित घटना जो अन्य शोधार्थियों को प्रेरित कर सके।[1]

इस प्रकार शोधप्रबन्ध का प्रास्ताविक अत्यन्त आत्मकथात्मक (Autobiographical) होना चाहिए।

---

[1]मेरा एक शोधच्छात्र अपनी थीसिस मुझे सुना रहा था तभी बाहर साइकिल में लटके उसके बैग से एक घुमन्तू गाय ने निकाल कर सारे कागजात चबा डाले। उन कागजों में उसका हाईस्कूल से लेकर एम्.ए. तक का प्रमाणपत्र भी था। वह बहुत रोया। मैंने जैसे–तैसे उसे शान्त किया। सं.क्र., पुस्तक का नाम,

इकाई–10

निष्कर्ष एवं ग्रंथसूची का निर्माण

प्रत्येक शोधप्रबन्ध, लघु शोधप्रबन्ध अथवा पुस्तक के अन्त में सन्दर्भ–ग्रन्थों की सूची प्रायः रहती है। जिन ग्रन्थों, पाण्डुलिपियों या अन्य स्रोतों के आधार पर लघु शोधवर्धन या शोध–प्रबन्ध अथवा पुस्तक का प्रणयन किया जाता है उनका उल्लेख इन सूची में होता है। इस प्रकार सन्दर्भग्रन्थ–सूची अत्यंत उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण होती है। सन्दर्भग्रन्थ–सूची जितनी व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक–पद्धति से निर्मित की जाती है उतनी ही प्रामाणिक मानी जाती है। यह सन्दर्भग्रन्थ–सूची सदैव अंत में ही रहती है। सन्दर्भग्रन्थ–सूची तैयार करते समय आवश्यक ध्यातव्य विन्दु निम्नानुसार है।

(1) सन्दर्भ-ग्रन्थ–सूची में उन्हीं ग्रन्थों, पत्रिकाओं, पाण्डुलिपियों का उल्लेख करना चाहिए जिनसे वास्तविक रूप से सामग्री ग्रहण की हो तथा जिन ग्रन्थों को मूल रूप से देखा हो।

(2) सन्दर्भ-ग्रन्थ–सूची में ग्रन्थ के सम्बन्ध में सम्पूर्ण विवरण होना आवश्यक है।

(3) सन्दर्भ–सूची में लेखक के नाम का उल्लेख करते समय उनके उपनाम (सरनेम) का उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिए। इसके पश्चात् प्रथम नाम का।

(4) ग्रन्थ के प्रकाशन का विवरण देते समय उस स्थान का नाम सर्वप्रथम देना चाहिए जिस स्थान पर ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ हो।

(5) ग्रन्थ के एक से अधिक सम्पादक का टीकाकार होने पर प्रथम सम्पादक का नाम मूल लेखक के तुरन्त पश्चात देना चाहिए।

(6) संस्करणों की संख्या अधिक होने पर प्रथम संस्करण एवं वर्तमान संस्करण का उल्लेख देना पर्याप्त होगा।

(7) सभी जानकारियाँ सन्दर्भगन्थ–सूची में स्पष्ट होनी चाहिए, भ्रम की स्थिति नहीं होनी चाहिए।

(8) एक आदर्श सन्दर्भग्रन्थ–सूची में निम्नानुसार विवरण अपेक्षित होता है।

	लेखक/सम्पादक/प्रकाशक/	**प्रकाशन/ वर्ष**	**पृष्ठसंख्या/**	**मूल्य/**
(1)	स्वप्नविमर्श–त्रिपाठी, रामनारायण, वाराणसी, सम्पूर्णनन्द, संस्कृत वि.वि.,	1987 ई.	272	50=00
(2)	काव्यप्रकाशः–मम्मट विश्वेश्वर, वाराणसी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड	1998 ई.	597	250=00
(3)	वैदिकसाहित्य–उपाध्याय बलदेव, वाराणसी, शारदासंस्थान	1998 ई.	578	150=00

इसके अतिरिक्त संस्करणवर्ष तथा कौन सा संस्करण है के साथ, मुद्रित पुस्तक की प्रतियों की संख्या का उल्लेख भी किया जाता है।

परन्तु मेरी दृष्टि में ग्रन्थ की पृष्ठ–संख्या एवं मूल्य देने की कोई विशेष अपेक्षा नहीं है।[1]

शोध–प्रबन्ध में ग्रन्थसूची (Biobliography) अध्यायों के अन्त में आती है। ग्रंथसूची का एकमात्र उद्देश्य उनग्रंथों की नामावलि प्रस्तुत करना होता है जिनका पूर्णतः अथवा अंशतः अध्ययन करने के बाद ही अनुसन्धाता ने अपना शोध–प्रबन्ध लिखा है। इस प्रकार ग्रंथसूची का यह अर्थ कतई नहीं कि आप समस्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की तालिका प्रस्तुत कर दें। ऐसा करने से कभी–कभी शोध–प्रबन्ध का हल्कापन उजागर हो जाता है।

प्रत्येक शोधार्थी कुछ ऐसे ग्रंथों का अध्ययन करता है जो आधारभूत (Base) होते हैं। उनका अध्ययन अनिवार्य (Must) होता है। परन्तु कुछ अवान्तर ग्रंथ ऐसे होते हैं जिनका अध्ययन अनिवार्य नहीं होता है। वह अध्ययन स्वान्तः सुखाय किया जाता है अपने विचारों को पुष्ट करने के लिये।

ग्रंथसूची बनाने में कुछ विन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये जो इस प्रकार है –

(1) ग्रन्थ संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी ग्रंथ–शीर्षकों में विभक्त होने चाहिये। यदि पत्र–पत्रिकाओं का भी अध्ययन किया है तो चौथा शीर्षक होना चाहिये–पत्र–पत्रिकायें।

---

[1]शोधलोक – डॉ. गोविन्द दत्तात्रेय गन्धे,सहृदया प्रकाशन, इन्दौर म.प्र.,2006ई.

(2) प्रत्येक शीर्षक के अन्तर्गत ग्रंथों का नाम अकारादि क्रम से अथवा कालक्रम की दृष्टि से देना चाहिये तथा कोष्ठ में निर्देश भी कर देना चाहिये। (अकारादि दृष्ट्या/कालक्रम दृष्ट्या)।

(3) यदि संस्कृत के मूलग्रंथ हैं तो उन्हें संस्कृत में ही लिखना चाहिये जैसे–रामयणम्, महाभारतम्, श्रीमद्भागवतम्, रघुवंशम्, कादम्बरी, नलचम्पूः आदि।

(4) यदि उन्हीं ग्रन्थों के हिन्दी संस्करण/अंग्रेजी संस्करण का उपयोग किया है तो नाम भी हिन्दी–अंग्रेजी में ही देना चाहिये, जैसे–रामायण,महाभारत,कुमारसम्भव आदि।

(5) ग्रन्थ के आगे मूल रचनाकार का नाम (हिन्दी संस्करण में हिन्दी अनुवादक या व्याख्याकार का नाम) तथा प्रकाशक का उल्लेख, संस्करण के प्रकाशनवर्ष–उल्लेख के साथ ही करना चाहिये।

(6) ग्रंथसूची अत्यन्त संक्षिप्त, विशिष्ट–कोटिक एवं ठोस होनी चाहिये।

परिशिष्ट–व्यवस्था–परिशिष्ट (Index) में वह सामग्री दी जानी चाहिये जो शोधप्रबन्ध को पाठकों के लिये उपयोगी बनाये। वस्तुतः परिशिष्ट की सामग्री शोधप्रबन्ध के प्रतिपाद्य से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध नहीं होती है। परन्तु अवान्तर सामग्री होते हुए भी वह शोधप्रबन्ध के महत्त्व को द्विगुणित कर देती है। इसमें कुछ इस प्रकार की उपयोगी सामग्री दी जा सकती है।

परिशिष्ट–1 शोधप्रबन्ध में उल्लिखित अलंकारशास्त्रीय शब्द।

परिशिष्ट–2 शोधप्रबन्ध में उल्लिखित भौगोलिक स्थानों का परिचय।

परिशिष्ट–3 शोधप्रबन्ध में उल्लिखित आचार्यों का परिचय।

परिशिष्ट–4 शोधप्रबन्ध में उल्लिखित विशिष्ट पदावली आदि।

परिशिष्ट–5 तकनीकी शब्दों का विवरण।

परिशिष्ट–6 शोधप्रबन्ध के विषय पर सम्पन्न किये पूर्व कार्यों की सूचना।

परिशिष्ट–7 शोधप्रबन्ध में परामर्श देने वाले राष्ट्र के प्रमुख विद्वान्।

परिशिष्ट–8 शोधप्रबन्ध के सन्दर्भ में, संस्थाओं एवं व्यक्तिविशेष के साथ हुए पत्राचार का विवरण।

परिशिष्ट–9 चित्रवीथी की प्राप्ति–संकेत एवं संक्षिप्त विवरण।

परिशिष्ट–10 शोध–सन्दर्भ में की गई स्थलीय यात्राओं का संक्षिप्त विवरण।

इकाई–11 (क)

दूरवर्ती शिक्षा एवं शोध का उद्भव एवं विकास

वह युग गया जब लोग पेरिस, लन्दन या लिपजिंग जाकर किसी अंग्रेज विद्वान् के निर्देशन में डॉक्टरेट डिग्री लेकर लौट आते थे। परिवर्तित युग के साथ भारत में भी सब कुछ बदल गया है। इधर, भारतीय शिक्षा तीन शीर्षकों से आगे बढ़ी है –1. पत्राचार शिक्षा (Correspondence Education), 2. दूरवर्ती शिक्षा (Distance Education) तथा 3. मुक्त शिक्षा (Open Education) इसकी ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक समीक्षा आवश्यक है।

इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि इन उपायों से शिक्षा का प्रचार–प्रसार बढ़ा है। शैक्षिक अर्हता, भले ही वह विद्यालयीय शिक्षार्हता की तुलना में कुछ कम हो, ने समाज में साक्षरता को प्रतिष्ठित किया है। परन्तु हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि शिक्षार्जन की यह पद्धति किसी विजातीय–आन्दोलन अथवा प्रेरणा की देन है। ऐसी सोच मात्र उन लोगों की हो सकती है जो भारत के अतीत से परिचित नहीं हैं।

यह तथ्य सर्वविदित है कि प्राचीन भारत में शिक्षा के दो प्रमुख स्रोत थे–

1. ऋषि का आश्रय, जिसे गुरुकुल कहा जाता था।

2. किसी विशिष्ट ऋषि का आवास।

महर्षि उद्दालक, सन्दीपनि एवं गौतम सरीखे ऋषियों के आश्रम में

विशाल गुरुकुल प्रतिष्ठित थे जिनके 'कुलपति' वे स्वयमेव थे। ये कुलपति दस सहस्र वटुओं को न केवल पढ़ाते थे, प्रत्युत उनके भोजन एवं आवास का भी प्रबन्ध करते थे। इन गुरुकुलों के अनेक रोचक एवं सम्प्रेरक वृत्त उपनिषदों एवं पुराणों में मिलते हैं। गुरु की अध्यापन–पद्धति, शिष्यप्रतिभापरीक्षण–पद्धति, उपनयन एवं समावर्तन–पद्धति, सब कुछ विलक्षण था।[1]

कुछ ऐसे भी ऋषि थे जो किसी गुरुकुल के कुलपति तो नहीं थे। तथापि ज्ञान–विज्ञान के महासागर होने के कारण किसी अतिशय विनम्र–श्रद्धालु छात्र को विद्या देना स्वीकार कर लेते थे। वृहस्पति–पुत्र कच ने महर्षि शुक्राचार्य से सञ्जीवनी–विद्या प्राप्त की थी। देवदूत भीष्म ने परशुराम से तथा राम–लक्ष्मण ने महामुनि विश्वामित्र से बला–अतिबला विद्याएँ प्राप्त की थी। अर्जुन को भगवान् शिव से पाशुपतास्त्र–शिक्षा एवं गन्धर्वराज चित्रसेन से गान्धर्व (नृत्य) शिक्षा प्राप्त हुई थी। बलराम से दुर्योधन एवं भीम को मल्लयुद्ध की कला प्राप्त हुई थी। महर्षि वेदव्यास ने पैल, वैशम्पायन, सुमन्तु, जैमिनि तथा लोमहर्षण की चारों वेदों तथा पुराणों की शिक्षा दी थी। अगस्त्य ने राम को पैतामहास्त्र दिया था।

विद्यादान की इस परम्परा में अमर्त्य–मर्त्यसम्पर्क भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। यथार्थजीवी पाश्चात्त्यजन तो उसकी मखौल ही उड़ायेंगे। याज्ञवल्क्य एवं हनूमान् को सूर्य से विद्याप्राप्ति, नचिकेता को यम से आत्मविद्या की प्राप्ति, आचार्य वसुगुप्त को (स्वप्न में) भगवान् शितिकण्ठ से प्रत्यभिज्ञा–दर्शन की

---

[1] मुनीनां दशसाहस्रंयो ऽन्नदानादिपोषणात् ।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः।।

प्राप्ति, पाणिनि को शिव से माहेश्वरसूत्रों की प्राप्ति तथा अश्विनीकुमारों से आयुर्वेद का प्रवर्तन–ये सब भारतीय विद्यापरम्परा में देवमानव–समन्वय को ही दर्शाते हैं।

इन दृष्टान्तों से यह संकेत तो मिलता ही है कि भारतवर्ष में एकमात्र विद्यालय (= गुरुकुल, आश्रम) ही विद्यार्जन के स्रोत नहीं थे प्रत्युत विद्यार्जन के अवान्तरस्रोत भी उपलब्ध थे। उन अवान्तर स्रोतों को ही हम उस युग की 'दूरवर्ती शिक्षा' कह सकते हैं। कालान्तर में गुरुकुलों का स्थान राजपोषित विश्वविद्यालयों ने ले लिया। काशी, तक्षशिला, उज्जयिनी, वलभी, विक्रमशिला, नालन्दा, काञ्ची, ओदन्तपुरी, धारापुरी तथा जगद्दल आदि विश्वविद्यालयों ने शिक्षा के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। व्यक्तिगत स्तर पर भी अनेक आचार्य शिखर पर प्रतिष्ठित रहे, जैसे– वर्तिककार कात्यायन, महाभाष्यकार पतञ्जलि,आचार्य कुमारिल भट्ट, आदिशंकराचार्य, आचार्य गोविन्दभगवत्पाद आचार्य उत्पलदेव, उद्भट, अभिनवगुप्त, कलिकलिसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र, अप्पयदीक्षित, आचार्य मधुसूदन सरस्वती आदि।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में तद्युगीन ऋषियों के दो कुलों का विवरण मिलता है– शालेय तथा यायावर। शालेय ऋषि वे थे जो प्रायः गृहस्थ थे तथा शाला (गृह) निर्माण कर एक ही स्थान में स्थिर रहते थे। ये थोड़ा–बहुत कृषिकर्म भी करते थे। अन्यथा ब्राह्मणोचित षट्कर्मो से इनकी जीविका चलती थी। इसके विपरीत, यायावरकोटिक ऋषिगण निरन्तर भ्रमणशील रहते थे।[1]

1. सविस्तर दृष्टव्यम् –याज्ञवलक्यस्मृतिः।

ये विभिन्न अग्रहारों, जनपदों, तीर्थों एवं आश्रयों में विचरण करते तथा भक्तों, अनुगतों के आग्रह पर विविध विद्याओं का प्रवचन करते अपना समय बिताया करते थे। वस्तुतः यायावर ऋषियों का यह 'प्रवचन' आज के सम्पर्क कार्यक्रम (Contact Programme) जैसा ही होता था। जन्मेजय के नागयज्ञ से लौटे लौमहर्षणि उग्रश्रवा जब नैमिषारण्य में पहुँचते हैं तो गुरुकुल के कुलपति महर्षि शौनक उनका स्वागत जिस प्रकार करते हैं, उससे इन यायावर ऋषियों की विद्यार्हता एवं क्षमता का पूर्णपरिचय मिल जाता है।[1]

यायावर ऋषिपरम्परा से ही प्राचीन भारतीय दूरस्थ शिक्षा का शुभारम्भ होता है। महर्षि दुर्वासा आते हैं राजा कुन्तिभोज के यहाँ तो उनकी सेवा से देवी कुन्ती को 'माल्यमंत्र' की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।[2] अष्टावक्र आते हैं जनक की सभा में तो उन्हें अध्यात्मरहस्य प्राप्त हो जाता है। समराङ्गण में भी योगेश्वर कृष्ण से अर्जुन को गीता का गूढ आत्मज्ञान मिल जाता है। मुमूर्षु भीष्म से भी धर्मराज युधिष्ठिर को विष्णुसहस्रनाम–सहित राजधर्म का विलक्षण ज्ञान प्राप्त होता है।

अगस्त्य, मार्कण्डेय, भृगु, वाल्मीकि एवं व्यास ने तो द्वीपान्तरों में भी ज्ञान का दीप जलाया। वृहत्तर भारत के राष्ट्रों में अगस्त्य एवं मार्कण्डेय की अतिशय प्रतिष्ठा है जिसका प्रमाण है बालीद्वीप में स्थित मार्कण्डेय विश्वविद्यालय (Universities Markandaya) तथा मार्कण्डेय–आश्रम। बाली

[1] महा.आदिपर्व अ.1।
[2] महा.आदिपर्व अ.11।

के कैलाश कहे जाने वाले 'गुनुंग अगुंग' के शिखर पर प्रतिष्ठित पचीस देवालयों के मार्कण्डेय तथा वासुकि मन्दिर की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है। अगस्त्य को जावा में 'भटारगुरु' की पदवी प्राप्त है। प्राम्बनान के शिवमन्दिर में गर्भगृह में शिव, पार्वती तथा गणपति के साथ चौथी मूर्ति भटारगुरु अथवा अगस्त्य की ही है। मूर्ति एक दीर्घकूर्क्ष ऋषि की है जिसके एक हाथ में कमण्डलु है (गो कि शिवपरिवार की दृष्टि से यह मूर्ति कार्तिकेय की होनी चाहिये थी)।

पारसियों के धर्मग्रन्थ अवेस्ता के एक सन्दर्भ में धर्माचार्य जरथ्रुष्ट्र सम्राट् गुस्तास्भ को प्रवचन करते हुए परमेश्वर द्वारा निर्मित विश्व के पन्द्रहवें पवित्र देश भारत (आज हिन्द) का परिचय देते हुए भगवान् वेदव्यास का भी नाम्ना उल्लेख करते हैं जिन्होंने अपने गहन ज्ञान से उस भूखण्ड को आलोकित किया था। अरब राष्ट्र में भी ऋक्, यजुष, साम तथा अथर्ववेद के प्रचार–प्रसार का प्रमाण वहाँ के एक शायर की कविता में मिलता है जो पैगम्बर मुहम्मद साहब से प्रायः सत्रह सौ वर्ष पूर्व पैदा हुआ थे।[1] तिब्बत, चीन तथा लंका आदि द्वीपों में जाने वाले पद्मसम्भव, कौण्डिन्य एवं राजकुमार महेन्द्रादि के वृत्त भी इस तथ्य के साक्षी हैं कि भारत प्राचीन काल में भी अधीतिबोधाचरण से कहीं अधिक विद्या के प्रचारण में लगा रहा है।,

दूरस्थ शिक्षा अथवा मुक्तस्वाध्याय के कुछ और महनीय सोपान भारत में प्रतिष्ठित रहे हैं जिन्हें हम निम्न शीर्षकों में व्यवस्थित कर सकते हैं –

1. शिलालेख (Rock Edicts)

---

[1] द्रष्टव्य–सेअरूल अकूल पृ. 157

2. पाण्डुलिपियाँ (Manuscripts)

3. भाष्यटीका–परम्परा (Commentaries)

4. लोकपरम्परों (Folk Traditions)

सम्राट् प्रियदर्शी अशोक ने अफगानिस्तान (मानसेहरा, शहबाजगढ़) से लेकर घुर दक्षिणभारत तक अपने शिलालेखों एवं स्तम्भलेखों के माध्यम से बौद्धधर्म की देशनाओं का प्रचार–प्रसार किया। ये लेख आज भी कालसी (देहरादून), लौरिया नन्दनगढ़ (चम्पारन), सारनाथ (वाराणसी), प्रयाग तथा मन्दसौर आदि क्षेत्रों में विद्यमान हैं। उदयगिरि–खण्डगिरि क्षेत्र का महाराज खारवेल का हाथीगुम्फा लेख जैनधर्म की शिक्षा देता है तो गिरनार का रुद्रदामन–शिलालेख साहित्य–शास्त्र के तत्त्वों का उन्मीलन करता है। जोगीमारा गुफा के दो ब्राह्मी में अंकित लेख कविप्रशंसा के साथ ऐतिहासिक सूचना देते हैं। इसी प्रकार मन्दसौर–स्थित वत्सभट्टि–प्रणीत शिलालेख, समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति, रविकीर्ति–प्रणीत ऐहोल शिलालेख, खजुराहो के अनेक लम्बे शिलालेख, मालवेश्वर भोजदेव एवं महीपाल के शिलालेख भी अपने बहुविध सूचनाओं के कारण अन्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अपने युग में तो ये शिलालेख (ताम्रपत्र, दानपत्र, मन्दिरलेख, सरोवरलेख, कूपलेखादि) दूरस्थ शिक्षा के अद्भुत प्रतिमान थे ही, आज भी अतीत शिक्षाविधि का स्मारक होने के कारण वे उतने ही महनीय हैं।

पाण्डुलिपियों का क्रम पाषाण, काष्ठ, मृत्तिका, यर्म एवं वृक्षत्क्क् (भूर्जपत्र) के अनन्तर 'ताडपत्र' के रूप में आता है।

ताडपत्र के बाद ही वृक्षों की छाल तथा रूई से कागज बनाने की परम्परा

का उदय हुआ। मिस्रवासियों नें ताड़पत्र के स्थान पर पेपीरस का आविष्कार किया, जो नीलनदी में तटों पर स्वयंजात क्षुपविशेष की छाल से बनाया जाता था। यह पौधा भारतीय सन (शणः) अथवा पटसन की जाति का होता है। वस्तुतः पेपीरस के ही कारण यूरोप में कागज को 'पेपर' कहा जाने लगा।

उपयुक्त समस्त माध्यमों में ताडपत्र सर्वाधिक निरापद माध्यम था। वृहत्तरभारतीय भूखण्डों में भी यह प्रचुरता से उपलबध है – लोन्तार अथवा रोन्ताल के नाम से। भारत में इसी ताडपत्र पर ग्रन्थलेखन की परम्परा का उदय हुआ। ताडपत्रों के ये ग्रन्थ अपनी विशिष्ट आकृति के कारण गण्डी, कच्छपी, मुष्टी, समपाटीय आदि कहे गये। देश की विभिन्न लाइब्रेरियों में आज भी धर्म, दर्शन, विज्ञान, ज्यौतिष, तंत्र वेद–वेदाङ्गादि की लाखों पाण्डुलिपियाँ विद्यमान है। सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सरस्वती–भवन संग्रहालय में ही प्रायः एक लाख दस हजार पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित है।

प्राचीन भारत की दूरस्थ शिक्षा का मेरूदण्ड थीं ये पाण्डुलिपियाँ। ये निरन्तर कश्मीर से कन्याकुमारी तक तथा शाकल से ताम्रलिप्ति तक विद्वानों के साथ चंक्रमण करती रहती थीं। उन दिनों धर्मग्रन्थों की पाण्डुलिपियों का लेखन या वितरण अर्थ एवं धर्मसिद्धि का एक विलक्षण उपाय था। धर्मप्रवण, आस्थालु जन अपनी कामनापूर्ति के बाद किसी भी सिद्ध स्तोत्र, पुरश्चरण अथवा ग्रन्थ के, तीर्थक्षेत्र में वितरण का संकल्प लेते थे। इस संकल्प का ज्ञान आज हमें इन पाण्डुलिपियों की पुष्पिकाओं से होता है।

बालीद्वीप के उदयन विश्वविद्यालय तथा सिंहराज (Singaraja) नगर

की शासकीय लाइब्रेरी (गड्ंगकृत्य) में भी प्रायः अठारह हजार लोन्तार सुरक्षित हैं जो भारतीय विद्या से सम्बद्ध हैं। इन्हीं पाण्डुलिपियों के माध्यम से नवनिर्मित ग्रंथ राष्ट्र के विभिन्न अञ्चलों में पहुँचते रहते थे तथा उनमें प्रतिपादित नये सिद्धान्तों की समीक्षा (खण्डन–मण्डन) सर्वत्र होती रहती थी। प्रायः समस्त शासक विद्वत्प्रिय होते थे। अतः वे भी अपनी सभा में प्रतिष्ठित कवियों तथा आचार्यों के प्रातिभ ग्रंथों के प्रचार–प्रसार में रुचि लेते थे, क्योंकि प्रकारान्तर से, आचार्य की यशोवृद्धि से उनकी ही यशोवृद्धि होती थी। जब श्रीहर्ष ने उदयनाचार्य को परास्त किया तो उनसे भी कहीं अधिक कीर्तिवृद्धि कान्यकुब्ज–नरेश की ही हुई।

भाष्यटीका–परम्परा का सन्दर्भ पाण्डुलिपियों से ही सीधे जुड़ा है। आज यह जानकर हमें आश्चर्य होता है कि दक्षिण भारतीय के रूप में मान्य आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र की टीका काश्मीर में लिखी गई। मैथिल भानुमिश्र–प्रणीत रसमञ्जरी की टीका आचार्य नागेशभट्ट द्वारा वाराणसी में लिखी गई। काश्मीरक मम्मट की टीका उत्कल (विश्वनाथ कविराज) में लिखी गई।

प्राचीन भारत में कुछेक सम्राट्ों (विक्रम, अशोक, समुद्रगुप्त, हर्षदेव) के ही राज्यकाल में समग्रभारत अथवा अधिकांश भारत की राजनयिक एकता रही है। वस्तुतः यह राष्ट्र तो धार्मिक, साहित्यिक एवं सामाजिक एकता के कारण ही एक तन–एकप्राण रहा है। धर्म, साहित्य तथा समाज समूचे भारत का एक रहा है। कवि, आचार्य, लेखक – किसी भी प्रान्त–जनपद–अग्रहार के हों, परन्तु वे समूचे राष्ट्र के कण्ठहार रहे हैं।

मूल ग्रन्थों का मर्म साधारण जनता को हृदयङ्गम कराने के लिये, उन पर भाष्य, टीका उपटीका, वार्त्तिक, वृत्ति, पञ्जिका, फक्किका, क्रोडपत्र आदि लिखने की परम्परा प्रारंभ हुई। यह कार्य किसी शिक्षासंस्था या गुरुकुल में नहीं हुआ। वस्तुतः मुक्त स्वाध्यायी विद्वानों ने यह कार्य किया या तो स्वान्तःसुखाय अथवा राजाज्ञा से। कभी–कभी प्रतिकार भावना से भी में व्याख्यायें लिखी गईं (जैसे– मनोरमाकुचप्रर्दशनम्, चित्रमीमांसाखण्डनम्)। समूचा ग्रन्थ भी कभी–कभी प्रतिकारभाव से लिखा गया, जैसे–व्यक्तिविवेक,[1] परन्तु प्रत्येक स्थिति में हुआ विद्या का प्रचार–प्रसार ही।

मेरी दृष्टि में लोकपरम्परायें भी दूर–शिक्षा का सहज स्रोत रहीं हैं। उत्तरभारत के गाँवों में भर्तृहरि के वैराग्य की कथा जन–जन में व्याप्त है। भर्तृहरि के प्रभाव से उनके भागिनेय गोपीचन्द का भी गृहत्याग, गोपीचन्द की नवागता वधू की करुण स्थिति, गोपीचन्द की माता मैनावती की 'बसी–बसाई गृहस्थी टूटने की पीड़ा' ये सारी कहानियाँ सारंगी बजाते, भिक्षाटन करते 'जोगी' किया करते हैं। ये प्रायः इस्लाममतावलम्बी माने जाते हैं, परन्तु हिन्दुत्व से भी पूर्णतः समरस हैं।

'सरवन' नामक यायावर भिक्षुक भोर होने के पहले ही भिक्षाटन करते थे। इन्हें प्रातः कोई प्रत्यक्ष नहीं देख पाता था। परन्तु सरवन जिस द्वार आ जाता, वह गृहिणी निहाल हो जाती थी। उसे अन्न, वस्त्र, बर्तन दिया जाता था।

---

[1] अनुमाने ऽन्तर्भावं सर्वस्यापि ध्वनेः प्रदर्शयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरूते प्रणम्य महिमा परां वाचार।।

ये भिक्षुक अन्धे मुनिदम्पती के पुत्र श्रवणकुमार की कथा का गायन करते थे। आज के सभ्य समाज में जब जोगी और सरवन लुप्त हो गये तो राजा भरथरी और श्रवणकुमार की मार्मिक कथायें भी लुप्त हो गईं। आज की पीढ़ी कम्प्यूटर का कमाल तो जानती है परन्तु उन मार्मिक कथाओं का उसे ज्ञान नहीं। नई पीढ़ी को आल्हा या लोरिक की कथा का ज्ञान कहाँ है? समूचे भारत का लोक अपनी परम्पराओं से ही शिक्षित होता रहा है। ये परम्परायें मधुबनी कलाओं में, मन्दिरों में उत्कीर्ण रामायण आदि की कथाओं में तथा भरतनाट्यम्, कुडियाट्टम, कुचपुडि तथा यक्षेगानादि समस्त माध्यमों में समान रूप से अनुस्यूत हैं। जब हमारा कलाकार दूर यूरोपीय राष्ट्रों में कला प्रदर्शित करता है तो उसके साथ मोहिनीअट्टम् (भस्मासुरदाह) की कथा भी वहाँ सहजभाव से पहुँच जाती है। क्या यह प्राचीन दूरस्थ शिक्षोपाय का प्रत्यग्र सदुपयोग नहीं है।

मेरी दृष्टि में आज भी, समाज को शिक्षित बनाने के ये देशी उपाय अप्रासंगिक नहीं सिद्ध हुए हैं। हम संगणकीय उपाय से रामायण का मूलपाठ एक अमेरिकावासी को पढ़ा देंगे (ई–मेल लाइब्रेरी से) परन्तु उसे उच्चारण कैसे सिखायेंगे? उसके लिये गायक के कण्ठ की भी अपेक्षा है। वस्तुतः मात्र इसी दृष्टि से मैंने **दूरस्थ शिक्षा की प्राचीन पृष्ठभूमि** की ओर सहृदयों का ध्यान आकृष्ट किया है। क्योंकि आज का शोधकार्य विद्यालय के बन्द कमरे में अथवा लाइब्रेरी रूम में ही संभव नहीं हैं छात्र को दूरवर्ती शिक्षपायों का भी सहारा लेना पड़ सकता है।

इकाई – 11

दूरवर्ती शिक्षा एवं संगणक

यद्यपि इस विषय का यथापेक्षित विवेचन अगले अध्याय में करना अभीष्ट है तथापि दूरवर्ती शिक्षा (Remote Education) का ही साधन होने के कारण, यह चर्चा सामान्यतः यहीं की जा रही है। जिस शिक्षा में विश्वविद्यालय में, मंत्रदीक्षा में देशिक अथवा गुरु का साक्षात् सम्पर्क न प्राप्त हो रहा है उसे तो दूरवर्ती अथवा परोक्ष ही मानना चाहिये।

संस्कृत–वाङ्मय ऐसे हजारों सन्दर्भों से ओत–प्रोत है जहाँ दूर रहते हुए भी, प्रकारान्तर से लक्ष्यसिद्धि सम्भव हो जाती थी। आज की संगणकीय विधि भी प्रायः उसी प्रकार की है।

शास्त्रों में **योगजप्रत्यक्ष–विधि** की चर्चा है। तपश्चर्या के बल पर ऋषि–मुनि अदृश्य भूत तथा भविष्य को भी हस्तामलकवत् देख लेते थे। मनुस्मृति में तप की महिमा से दुस्साध्य लक्ष्य को भी सुलभ बताया गया है। वाल्मीकि रामायण में महर्षि वाल्मीकि ने भी ब्रह्मा के समक्ष अपनी असमर्थता निवेदित की थी कि मैं तो राम के अतीत के विषय में कुछ जानता नहीं, तो फिर कैसे लिखूँगा? ब्रह्मा उन्हें सान्त्वना देते हैं कि महर्षे! मेरे वर–प्रभाव तथा अपनी तपशक्ति से आप को योगजप्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होगा। आप को सब कुछ स्वतः भासित से उठेगा –

रामस्य सहसौमित्रे राक्षसानाञ्च सर्वशः।

वैदेह्याश्चैव यद्वृत्तं प्रकाशं यदि वारहः॥

तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति।

न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति।। –1.1वा.रा.बाल. 234–35

संस्कृत के अधिकांश आर्षग्रन्थ योगजप्रत्यक्ष के ही बल पर लिखे गये हैं। इसीलिये वाल्मीकि वर्णित दक्षिण–पूर्व एशिया का वर्णन पाश्चात्त्यों को विस्मित कर देता है तथा से इसे कल्पित भी मान बैठते हैं।

शक्तिपात तथा **स्वप्नदीक्षा** भी एक प्रकार से दूरवर्ती शिक्षा का ही अंग है। शक्तिपात के माध्यम से पिता पुत्र को, आचार्य अपने शिष्य को अपने जीवन का सम्पूर्ण उपार्जित तपस्, तेजस् तथा वर्चस् दे देता था। भगवान् (शिव) ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन का ज्ञान तथा दीक्षा वसुगुप्त को स्वप्न में ही प्रदान की थी। स्वामी रामकृष्ण परमहंस नें भी विवेकानन्द को शक्तिपात–दीक्षा से ही आलोकित कर दिया था। महर्षि विश्वामित्र बला तथा अतिबला नामक विद्याएँ राम–लक्ष्मण को शक्तिपात के ही माध्यम से दिया था।

मेरी दृष्टि में आज का **संगणकीय यंत्रोपाय** भी उसी प्रकार का एक दूरवर्ती–शिक्षास्रोत है। परन्तु योगजप्रत्यक्ष तथा शक्तिपातदि की तुलना में वह अत्यन्त अवरकोटिक है।

खण्ड–2, इकाई–11 (ख)

आधुनिक शोधकार्य में संगणक की भूमिका[1]

वैज्ञानिक संसाधनों ने संचार–साधनों में अभूतपूर्व समृद्धि पैदा कर दी है। पहले दूरभाष तथा रेडियो और बाद में दूरदर्शन आया। विविध चैनलों पर जहाँ मनोरंजनों का प्राचुर्य बढ़ा वहीं डिस्कवरी (Discovery), ज्योग्राफिक चैनल (Geographic Channel), एनीमल्स प्लैनेट (Animal Planet) तथा हिस्ट्री चैनल जैसे माध्यमों ने हमारे ज्ञान में विलक्षण समृद्धि उत्पन्न कर दिया है। आज सम्पूर्ण विश्व सचमुच एक नीड–सा बन गया है।

संगणक के प्रचार–प्रसार ने सम्पूर्ण विश्व को संवादात्मक स्तर पर जोड़ दिया है। वेबसाइट तथा ई–मेल सर्विस ने हमें सम्पूर्ण विश्व से जोड़ दिया है एक कुटुम्बी की ही तरह। यह संगणक शोधकार्य में कितना सहायक सिद्ध हो रहा है अथवा हो सकता है? इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

पिष्टपेषण को बचाने के उद्देश्य से, पाठकों के लाभार्थ, मैं यह

---

[1] इन दिनों कम्प्यूटर, डिजिटल, यू–ट्यूब, फेसबुक, ट्विटर, आनलॉइन, व्हाट्सऐप आदि शब्दों के प्रयोग की बाढ़–सी आ गई है। प्राचीन समाज में चोरी, निन्दा, शिकायत, उत्पीड़न, अपहरण, आभिचारिक तथा षड्यंत्रात्मक आदि जितने कूटोपाय प्रचलित थे– अब वे ही उपाय संगणकीय– जगत्–में प्रचलित हैं। किसी का बैंक एकाउण्ट नम्बर हाईजैक कर उसे गली का भिखारी बना देना सरल हो गया है। संगणकीय आतंक महामारी–सा समाज में व्याप्त हो उठाा था। संगणक आया था 'वरदान' बन कर। परन्तु दुर्निवार बन गया है 'अभिशाप' बन कर। शिक्षा और शोध में संगणक की क्या भूमिका है, यह विचारणीय है।

संगणकीय विवरण डॉ. गोविन्द दत्तात्रेय गन्धे के ग्रंथ शोधालोक से अत्यन्त आचार–पूर्वक यथावत् उद्धृत कर रहा हूँ। वस्तुतः तकनीकी विषय होने के कारण भी यह विवरण परिवर्तित रूप में नहीं लिखा जा सकता क्योंकि यह तथ्यपरक होने के कारण रूढ़विषय है।

साहित्यिक अनुसन्धान में प्रमुखतया ग्रंथों, पत्र–पत्रिकाओं, पाण्डुलिपियों से ही संकलन किया जाता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि केवल इन्हीं साधनों से साहित्यिक अनुसंधान होता है। यद्यपि अनुसंधान की इस विधा में मुख्य भूमिका इन्हीं साधनों की रहती है। शब्दकोष, पर्यायवाची कोष, विश्वकोष आदि अनेक सन्दर्भ–ग्रंथों का प्रयोग साहित्यिक अनुसंधान में किया जाता है। जैसे–जैसे वैज्ञानिक साधनों, उपकरणों का आविष्कार हो रहा है वैसे–वैसे इन उपकरणों अथवा साधनों का उपयोग साहित्यिक अनुसंधान में किया जा रहा है। वैज्ञानिक उपकरणों के, साधनों के प्रयोग से साहित्यिक अनुसंधान में श्रम की बचत हो रही है। परिणाम अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण एवं सत्य प्राप्त हो रहे हैं। अर्थात् इन साधनों के प्रयोग से साहित्यिक अनुसंधान में गुणात्मक विकास हो रहा है। साहित्य के संरक्षण में सहयोग मिल रहा है तथा हमारी साहित्यिक धरोधर वैज्ञानिक संसाधनों के प्रयोग से और अधिक सुरक्षित रखी जा रही है।

साहित्यिक अनुसंधान में जिन वैज्ञानिक उपकरणों का आश्रय लिया जाता है वे इस प्रकार हैं–

1. कम्प्यूटर अथवा संगणक।

2. टंकण यंत्र (टायपिंग मशीन/इलेक्ट्रोनिक टाइप राइटर)।

3. टेपरिकॉर्डर।

4. विडियोकैसेट प्लेयर/विडियो कैसेट रिकॉर्डर/सी.डी.प्लेयर।

5. कैमरा।

6. माइक्रोफिल्म रीडर।

7. फोटोकॉपीयर।

8. लेमीनेशन मशीन।

9. सी.डी. रोम।

10. स्केनर।

11. फैक्स टेलीफोन।

12. प्रोजेक्टर।

1. कम्प्यूटर– साहित्यिक अनुसंधान में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी यंत्र के रूप में कम्प्यूटर का उपयोग किया जाता है। विशेषकर संस्कृत–साहित्य के अनुसंधान में इसका उपयोग अधिक महत्त्वपूर्ण है। कम्प्यूटर के माध्यम से अभिलेखों को सुरक्षित रखा जा सकता है। साथ ही मल्टीमीडिया सॉफ्टवेयर के माध्यम से अन्य भाषाओं में उपलब्ध सामग्री का अनुवाद किया जा सकता है। कम्प्यूटर के द्वारा सभी सामग्री को सुरक्षित रखा जा सकता है एवं आवश्यकता पड़ने पर उसमें संशोधन कर उपयोग किया जा सकता है।

कम्प्यूटर में संग्रहीत सामग्री को किसी फ्लापी या सी.डी. में रखकर अन्यत्र भी उपयोग के लिये ले जाया जा सकता है। मूल सामग्री में संशोधन, संयोजन कम्प्यूटर के माध्यम से बिना किसी क्षति के किया जा सकता है। आवश्यकता पड़ने पर प्रिंटर के माध्यम से उसकी टंकित प्रति भी प्राप्त की जा सकती है। इन्टरनेट के द्वारा किसी भी देश या संस्थान में स्थित सामग्री को प्राप्त किया जा सकता है अथवा उपलब्ध सामग्री को अन्यत्र प्रेषित किया जा सकता है। इन्टरनेट के द्वारा विश्व में कहीं पर भी स्थित किसी भी विवरण को घर बैठ प्राप्त किया जा सकता है। अब तो कम्प्यूटर में विशालकाय ग्रंथों को भी इण्टरनेट के माध्यम से संदर्भ के लिए प्राप्त किया जा सकता है।

2. टंकणयंत्र – इस यंत्र का उपयोग बहुत वर्षों से हो रहा है। सुवाच्य लेखन के लिए इस यंत्र का प्रयोग किया जाता है।

3. टेपरिकार्डर– साहित्यिक अनुसंधान में इस यंत्र का बहुत महत्त्व है। किसी भी लेखक, विद्वान् के विचारों को ध्वनिरूप में संग्रहीत करने का यह अति उत्तम साधन है। प्रसिद्धि–विमुखता के कारण अनेक विद्वान् आचार्य अपने बारे में कहीं कुछ लिखते नहीं हैं। ऐसी दशा में उनके साथ चर्चा अथवा संवाद करके उनके बारे में जानकारी प्राप्त की जाती है। चर्चा अथवा संवाद के समय प्राप्त जानकारों को इस यंत्र के माध्यम से संग्रहीत किया जाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर इसी जानकारी को लिपिबद्ध भी किया जाता है।

4. वीडियो कैसेट प्लेयर/वीडियो कैसेट रिकॉर्डर/सी.डी. प्लेय– इन सभी यंत्रों के माध्यम से महत्त्वपूर्ण अवसरों के दृश्यों को ध्वनिसहित

संग्रहीत किया जा सकता है। यह यंत्र दृश्य–श्रव्य सामग्री–संकलन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण होते हैं। साहित्यिक अनुसंधान में नाटक आदि का विषयक्षेत्र प्रायोगिक भी होता है। नाट्यसंबंधी विषयों के स्पष्टीकरण के समय समस्त दृश्यों को तथा ध्वनियों को संग्रहीत करना अत्यंत उपयोगी एवं आवश्यक हो जाता है जिसकी पूर्ति इन यंत्रों के द्वारा की जाती है। किसी विद्वान् अथवा अन्य किसी व्यक्ति के वचनों को प्रमाण रूप में साक्षात् उपस्थित करने में ये यंत्र उपयोगी होते हैं।

5. कैमरा/डिजीटल कैमरा – साहित्यिक अनुसंधान में इस यंत्र का बहुत उपयोग होता है। कई शिलालेख, ताम्रपट्ट, पाण्डुलिपियाँ ऐसी होती हैं जिन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानांतरित नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में उन आलेखों, पाण्डुलिपियों का अध्ययन, संशोधन, संपादन, पुनः लेखन असंभव-सा प्रतीत होता है। इस अभाव की पूर्ति डिजीटल कैमरे के द्वारा की जा सकती है। इस कैमरे के द्वारा उस शिलालेख, पाण्डुलिपि, ताम्रपपट्ट का छायाचित्र लेकर उसे कम्प्यूटर में संग्रहीत कर लिया जाता है। कम्प्यूटर में संग्रहीत करने के कारण वह सामग्री हमें अध्ययन के लिए सर्वदा सुलभ होती है। छायाचित्र लेने के कारण मूल सामग्री, अभिलेख को किसी भी प्रकार की हानि नहीं होती अपितु वह सामग्री अपने मूल स्वरूप से भी अच्छी स्थिति में उपलब्ध हो जाती है। कई प्राचीन ग्रंथ अत्यंत जीर्णशीर्ण अवस्था में होते हैं, उनको बार–बार पढ़ने के लिए पलटना संभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में उन पृष्ठों के छायाचित्र लेकर उनका अध्ययन, अनुसंधान किया जाता है।

6. माइक्रोफिल्मरीडर– कई लेखक अपने स्वभाव के अनुसार अत्यंत सूक्ष्म आकार में ग्रंथ की रचना करते हैं। उनके लिखे हुए शब्द या

वाक्य इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे साधारण आँखों द्वारा नहीं पढ़े जा सकते। ऐसी स्थिति में माइक्रोफिल्मरीडर हमारी मदद करता है। अर्थात् पहले हमें उस लेख अथवा पृष्ठों की फिल्म तैयार करनी पड़ती है फिर उस फिल्म को माइक्रोफिल्मरीडर की सहायता से अक्षरों को बड़ा करके आसानी से पढ़ा जा सकता है। मुख्यतया यह उपकरण छोटे अक्षरों को पढ़ने में ही उपयोग में लाया जाता है।

7. फोटोकॉपीयर– साहित्यिक अनुसंधान में इस यंत्र का अत्यंत उपयोग होता है। कई बार अनुसंधान का कार्य एक से अधिक व्यक्ति मिलकर करते हैं ऐसी स्थिति में मूल सामग्री की अनेक प्रतियाँ होना आवश्यक हो जाता है। यह कार्य फोटोकॉपी के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। कई बार अनुसंधान की सामग्री को अन्यत्र भी भेजना पड़ता है। ऐसी दशा में सामग्री के गुम हो जाने, नष्ट हो जाने का डर बना रहता है। किंतु सामग्री की फोटोकॉपी कर लेने से मूल अभिलेख सुरक्षित हो जाता है तथा अध्ययन के लिए नवीन स्वरूप में उपलब्ध रहता है।

8. लेमीनेशन – प्राचीन पाण्डुलिपियाँ, ताडपत्रों को बाहरी वातावरण से तथा दीमक आदि कीड़ों से बचाने के लिए लेमीनेशन मशीन का बहुत उपयोग होता है। इस मशीन के द्वारा मूल सामग्री को चारों ओर से प्लास्टिक के पेपर द्वारा आच्छादित कर लिया जाता है। प्लास्टिक का यह पेपर पारदर्शी होने के कारण, उसको पढ़ने में किसी प्रकार की परेशानी नहीं होती, साथ ही उस पत्र का उपयोग करने पर वह मूल पत्र खंडित होने से बच जाता है।

9. सी.डी. रोम– यह एक अत्याधुनिक यंत्र है। इसका उपयोग साहित्य के वैश्विक स्वरूप का परिचय प्राप्त करने में होता है। इसका संचालन एवं रख–रखाव, प्रशिक्षण एवं कौशल के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

10. स्कैनर – इस यंत्र के द्वारा किसी अभिलेख, ताडपत्र, पाण्डुलिपि को अपने मूल स्वरूप में कम्प्यूटर से संग्रहीत किया जा सकता है। पहले अथवा पूर्व में यह कार्य नकल के माध्यम से सम्पन्न होता था जिसमें लेखक के प्रमाद या अज्ञानता से अनेक त्रुटियाँ होती थीं। अनेक व्यक्तियों के द्वारा समय–समय पर नकल करने के कारण कई बार पाण्डुलिपि या आलेख अपने मूल स्वरूप को ही खो चुका होता था। इन सब दुविधाओं से बचने के लिए स्केनर यंत्र का प्रयोग किया जा सकता है। इसका प्रयोग करने से मूल सामग्री को किसी प्रकार की क्षति नहीं होती और वह अध्ययन के लिए सुलभता से उपलब्ध हो जाती है।

11. फैक्स/टेलीफोन – फैक्स मशीन का उपयोग लिखित सामग्री को एक स्थान से दूसरे स्थान पर अत्यल्प समय में यथावत् प्रेषित करने के लिए किया जाता है। टेलीफोन का प्रयोग दूरस्थ व्यक्तियों अथवा संस्थाओं से किसी भी प्रकार की जानकारी प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

उपर्युक्त आधुनिक उपकरणों से अधिकांश छात्र परिचित ही होते हैं किन्तु इन उपकरणों का प्रयोग अनुसंधान के कार्य में किस प्रकार किया जाये, यह ज्ञात होना आवश्यक है। इन उपकरणों के द्वारा समय एवं श्रम की बचत भी होती है। नये–नये उपकरणों के प्रयोग से साहित्य के विद्यार्थी की बौद्धिक,

शारीरिक, मानसिक क्षमताओं का विकास होता है। वह अपने–आप को मुख्य धारा से जुड़ा हुआ पाता है तथा उसमें आत्मविश्वास की वृद्धि होती है। विज्ञान के छात्र तो इन उपकरणों का उपयोग प्रायः करते ही हैं परन्तु साहित्य के छात्रों को भी इन उपकरणों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। इन उपकरणों के अलावा टी.वी., रेडियो का भी उपयोग अनुसंधान के लिए किया जा सकता है। समय–समय पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं ऐसी ही अनेक संस्थाओं के द्वारा शैक्षाणिक कार्यक्रमों का प्रसारण इन यंत्रों के माध्यम से होता है। साहित्य के छात्रों को उसका लाभ लेना चाहिए जिससे उन्हें अपने क्षेत्र की अद्यतन जानकारी प्राप्त हो सके।

12. प्रोजेक्टर – कम्प्यूटर (संगणक) इस उपकरण का उपयोग प्रायः गणना करने, लेखा रखने आदि के काम में होता है। किन्तु यह इसका संकुचित अर्थ होगा। वस्तुतः कम्प्यूटर एक ऐसा उपकरण है जो सूचनाओं को ग्रहण करके उन्हें संग्रहीत कर लेता है तथा आवश्यकता पड़ने पर इन सूचनाओं को, अंकों को, चित्रों को, शब्द या चित्र के माध्यम से प्रस्तुत करता है। आज जिस कम्प्यूटर का उपयोग किया जाता है वह अत्यंत विकसित यंत्र है। इसमें एक इनपुट डिवाइस होता है जिसे की–बोर्ड के रूप में प्रयोग किया जाता है। **की–बोर्ड** पर जो कुछ भी टाइप करते हैं वह कम्प्यूटर के मुख्य भाग अर्थात् सी.पी.यू. की मेमोरी में चला जाता है। यदि टाइप की गई सूचना कम्प्यूटर की मेमोरी में पूर्व से ही विद्यमान है तो वह सूचना तुरन्त स्क्रीन पर आ जाती है। यदि सूचना गणितीय आँकड़ों से संबंधित है तो वह ALO में भेज देता है। वहाँ पर आँकड़े Output कर भेज दिये जाते हैं। Output में परिणामों को टी.वी.

जैसे पोर्टेबल मॉनीटर पर देखा जाता है। निम्न तथ्यों को जानने पर आसानी से कम्प्यूटर के बारे में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है –

(1) **हार्डवेयर –** कम्प्यूटर के सभी शारीरिक अवयव हार्डवेयर कहलाते हैं।

(2) **सॉफ्टवेयर –** इसमें प्रयोगकर्त्ता के द्वारा भरी हुई जानकारियाँ सम्मिलित होती हैं जो कम्प्यूटर के कार्य की दशा बतलाती है।

(3) **फिल्मवेयर –** यह निर्माता के द्वारा कम्प्यूटर के सर्किट में डाला गया सॉफ्टवेयर है।

(4) **सिस्टम साफ्टवेयर –** यह सामान्यतः कम्प्यूटर–निर्माता के द्वारा उपलब्ध कराया जाने वाला वह सॉफ्टवेयर है जो कम्प्यूटर को कार्य करने का तरीका बताता है।

(5) **Application Software –** यह सॉफ्टवेयर कम्प्यूटर को निर्धारित करने का तरीका बताता है। इस सॉफ्टवेयर को प्रयोगकर्त्ता द्वारा स्वयं विकसित किया जाता है अथवा सॉफ्टवेयर बनाने वाली कम्पनी द्वारा बेचा जाता है।

(6) **इन्टीग्रेटेड सर्किट** – यह सिलिकॉन धातु पर बना सम्पूर्ण विद्युतीय हिस्सा है।

(7) **मेमोरी चिप** – यह I.C. कम्प्यूटर की द्वितीयक स्मृति का

कार्य करती है।

कम्प्यूटर का अनुसंधान में प्रयोग – अनुसंधान में कम्प्यूटर का प्रयोग दिन–प्रतिदिन हो रहा है। क्योंकि कम्प्यूटर में बड़ी–बड़ी गणनाएँ आसानी से की जा सकती हैं साथ ही, परिणाम विशुद्ध प्राप्त होते हैं। विस्तृत तथ्यों को संग्रहीत करने एवं प्रस्तुत करने में सामर्थ्य प्राप्त होती है। तथ्यों का वर्गीकरण, विश्लेषण, व्याख्या आदि कार्य भी कम्प्यूटर आसानी से कर लेता है। साथ ही, तथ्यों को क्रमबद्ध करना, कुछ नये तथ्य खोजना, चार्ट आदि की जानकारी भी कम्प्यूटर से मिलती है। साहित्यिक अनुसंधान में कम्प्यूटर के द्वारा पूर्व के सभी तथ्यों को एकत्रित कर उनका अध्ययन, वर्गीकरण, विश्लेषण किया जाता है।

रिसर्च–तकनीक- अनुसंधान का मुख्य उद्देश्य वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग द्वारा समस्याओं और प्रश्नों का उत्तर देना होता है। उन विधियों को, तथ्यों को खोजने, विशेषकर उपयुक्त और सही तथ्यों को खोजने के लिए विकसित किया गया है जिससे समस्याओं का उत्तर एवं प्रश्नों के उत्तर बिना किसी पूर्वाग्रह के प्रदान किये जा सके। अनुसंधान सदैव प्रश्नों से प्रारंभ होते हैं।

क्यों? कब? किस प्रकार? किसने? आदि की शंका का समाधान करना अनुसंधान का मुख्य उद्देश्य होता है। वस्तुतः रिसर्च–तकनीक के पाँच प्रमुख विन्दु हैं –

1. **अनुसंधान–समस्या (Research Problem)** – अनुसन्धान

समस्या किसी विशेष स्थिति या आवश्यकता या उलझी हुई समस्या से या कठिन समस्या से प्रारंभ होती है।

2. **तथ्य–संकलन (Data–Collection)** – समस्या को सूत्रबद्ध कर लेने के पश्चात् किसी सुनिश्चित योजना के अनुसार सही अवलोकन किया जाता है। अवलोकन को वैज्ञानिक अन्वेषण की सर्वोत्तम विधि कहा जाता है। वस्तुओं, घटनाओं, गुणों, सम्बन्धों आदि को समझने तथा जानने के लिए जिस प्रक्रिया को अपनाया जाता है उसे वैज्ञानिक अन्वेषण कहा जाता है।

अवलोकन के द्वारा तथ्य संकलन की कई विधियाँ हैं जिसमें से कुछ प्रमुख निम्न हैं –

(1) साक्षात्कार विधि (Interview Method)

(2) अवलोकन विधि (Observation Method)

(3) अनुसूची विधि (Schedule Method)

(4) प्रश्नोत्तरी विधि (Questionare Method)

(5) जीवनवृत्त विधि (Biographical Method)

(6) प्रायोगिक विधि (Practical Method)

(3) तथ्यों का विश्लेषण (Analysis of Data) – तथ्यों को संग्रहीत कर लेने के पश्चात् उनकी समानताओं, गुणों, क्रियाओं, कारणों, परिणामों आदि के आधार पर उन्हें वर्गीकृत तथा व्यवस्थित

किया जाता है। इन तथ्यों में विभेद उनके आवश्यक गुणों के आधार पर भी किया जाता है।

(4) परिकल्पना की संरचना (Structure of Hypothesis) – तथ्यों एवं विषयों के सत्यापन के बाद जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं और उनके आधार पर जिस सिद्धांत के स्वरूप का सामान्यीकरण किया जाता है उसे परिकल्पना कहते हैं। इनको प्राकृतिक विज्ञान में परिकलपना तथा सामाजिक विज्ञान में मानव–सिद्धांत कहा जाता है। इस अवस्था में इस परिकल्पना में सिद्धान्तों को ज्ञात करते हैं।

(5) परिकल्पना का सत्यापन (Verification of Hpyothesis) – सिद्धान्तों की रचना के पश्चात् इसे प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये प्रयोगों के माध्यम से उनका परीक्षण करते हैं जिसमें परिकल्पना की वस्तुस्थिति सामने आ जाती है।

संगणक के नवीनतम सहायक माध्यम

1. व्हाट्स एप (Whats App.)
2. यू ट्यूब (U Tube)
3. ट्विटर विधि (सीमित शब्द)
4. ई–मेल (Eloctronic Mail)
5. लिङ्क्स इन (केवल व्यावसायिक कार्यों हेतु)
6. ऑनलाइन (लिंक माध्यम से सभा, संगोष्ठी आदि के लिये)

खण्ड-3

ग्रन्थसम्पादन : स्वरूप एवं प्रक्रिया

इकाई–1 (क) ग्रन्थ क्या है?

ग्रन्थ, पुस्तक, पोथी आदि शब्द एकार्थक हैं। ग्रन्थ शब्द का निर्माण ग्रथ् धातु से संभव है–ग्रथ्यते इति ग्रन्थ; अर्थात् जो ग्रथित किया जाय वही ग्रंथ है। जैसे पुष्पों को ग्रथित कर (गूँथ कर) परस्पर संवलित कर माला बनाई जाती है, उसी प्रकार विचारों, सिद्धान्तों, अभिप्रायों अथवा मन्तव्यों को परस्पर संवलित कर ग्रंथ का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार ग्रन्थ एक सांकेतिक अथवा प्रतीकात्मक शब्द है जिसका उद्देश्य है विचार–ग्रथन।

अब **पुस्त** अथवा **पुस्तक** (पुस्तमेव पुस्तकम्, पुस्त–कन् प्रत्यय)। नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरत (ई.पू. चतुर्थ शती) ने आहार्य अभिनय के चार स्रोत बतायें हैं– पुस्त, अंलकार, अंगरचना तथा सञ्जीव। इनमें भी पुस्त का अर्थ है किलिञ्च, वस्त्र, चर्म एवं काष्ठादि से निर्मित वे उपादान (घोड़ा, हाथी, रथ आदि) जो नाट्यकथा के अंगभूत होने के कारण, प्रतीकरूप में मंच पर उपस्थित किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् के अभिनय में वास्तविक हाथी तो मंच पर लाया नहीं जा सकता अतः उसकी प्रतिकृति (=पुस्त) ही मंच पर खड़ी कर दी जाती है। राजशेखर–प्रणीत बालरामायणम् में यन्त्रजानकी का प्रयोग मिलता है जो यंत्रचालित सीता की प्रतिमा है और रावण उसी के प्रति अपना प्रणय प्रकट करता है।

आचार्य भरत पुस्त को त्रिविध बताते हैं– सन्धिम, व्याजिम तथा चेष्टिम। **सन्धिम** पुस्त वस्त्रादिनिर्मित पशुमानवादि–प्रतिकृति को कहते हैं। **व्याजिम** यंत्र–चालित उपादानों को कहते हैं तथा **चेष्टिम** पुस्त उसे कहते हैं जो चेष्टामात्र से उपस्थित किये जाते हैं (जैसे कुचपुडि नृत्य में)–

चतुर्विधं तु नेपथ्यं पुस्तोऽलङ्कार एव च।

तथाङ्गरचना चैव ज्ञेयः सञ्जीव एव च॥

पुनस्स त्रिविधो ज्ञेयो नानारूपप्रमाणतः।

सन्धिमो व्याजिमश्चैव चेष्टिमश्च प्रकीर्तितः॥

किलिञ्चवस्त्रचर्माद्यैर्यद्रूपं क्रियते बुधैः।

सन्धिमो नाम विज्ञेयः पुस्तो नाटकसंश्रयः॥

व्याजिमो नाम विज्ञेयो यंत्रेण क्रियते तु यः।

चेष्टयते चैव यद्रूपं चेष्टिमस्स तु संज्ञितः॥

शैलयानविमानानि चर्मवर्मध्वजा नगाः।

यानि क्रियन्ते नाट्ये हि स पुस्त इति संज्ञितः॥ –

नाट्य. 1/1/5

इस प्रकार **पुस्त** का अर्थ है– शैल–यान–विमान आदि की प्रतीकात्मक प्रतिकृति। यही पुस्त शब्द कन् प्रत्यय से युक्त होकर पुस्तक बन जाती है जो अथाह, विस्तृत ज्ञान–सम्पत्ति का प्रतीक मात्र होती है। विद्वज्जन मेरे इस मन्तव्य

पर विचार करें तथा यदि मेरी सोच सही है तो उसका समर्थन करें। पुस्तक का अर्थ है– ज्ञान का प्रतीकभूत उपादान–विशेष।[1]

पोथक शब्द का प्रयोग दो बार महावग्ग एवं जातककथा में किया गया है ग्रंथ के अर्थ में। पालिभाषा में प्रयुक्त यह शब्द संभवतः देशज–कोटि का है। वे ग्रंथ प्राचीनकाल से ही दो रूपों में पाये जाते रहे हैं–

(1) मौलिक ग्रंथ तथा सम्पादित ग्रंथ

जो ग्रंथ किसी आचार्य, कवि अथवा शास्त्रकार द्वारा, अपने मौलिक चिन्तन के आधार पर, सर्वतंत्र–स्वतंत्र रीति से इदम्प्रथमतया लिखे जाते थे उन्हें मौलिक ग्रंथ (Original Work) कहा जाता था। इनका विषय कुछ भी हो सकता था– काव्य, नाटक, चम्पू, कथा, आख्यायिका, शास्त्रविशेष (दर्शन, आयुर्वेद, स्थापत्य, शालिहोत्र आदि)।

1. इस सन्दर्भ में डॉ. सत्येन्द्र का यह मत कि 'पुस्त' शब्द ईरानियों के संपर्क से ही धीरे–धीरे भारत में आ गया है यहाँ की भाषा में व्याप्त हो गयाक़थमपि मान्य नहीं हो सकता। पहलवी भाषा में ही

---

[1] पाणिनि, पतञ्जलि, कालिदास और अश्वघोष की कृतियों में 'पुस्तक' शब्द नहीं पाया जाता। वैदिक साहित्य में भी पुस्तक का कहीं पता ही नहीं चलता। अमरकोष में भी यह शब्द नहीं आता। हाँ, बाद के कोषों में पुस्त शब्द लेप्यादि शिल्पकर्म का वाचक बताया गया है। 'पुस्तं शोभाकरं कर्म'। – हलायुधकोष

बहरहाल नाट्यशास्त्र के प्रमाण से डॉ. सत्येन्द्र को त्रुटिसंशोधन कर लेना चाहिये।

नहीं, संस्कृत में भी चर्मनिर्मित वस्तु को पुस्त कहते थे जैसा कि नाट्य 21/9 से सिद्ध है।

डॉ. सत्येन्द्र लिखते हैं– ईरान में भी चमड़े पर ग्रंथ लिखे जाते थे। इस चमड़े को अंग्रेजी में **पार्चमेण्ट** कहते थे। पहलवी भाषा में खाल का वाचक **पुस्त** शब्द है। ईरानियों के सम्पर्क से ही वह शब्द धीरे–धीरे भारत में आ गया और यहाँ की भाषा में व्याप्त हो गया। परन्तु ईसा की पाँचवीं शताब्दी से पहले इसका प्रयोग भारतीय भाषा में नहीं पाया जाता (?)।

भारतीय–परम्परा में ग्रंथ अपने ग्रंथकार (लेखक) का वाचिक व्यक्तित्व होता है। आज वाल्मीकि, व्यास, कालिदास हमारे बीच में जीवित हैं तो मात्र अपने ग्रंथों के कारण।

ज्ञान की सुरक्षा का माध्यम ग्रन्थ कहा जाता है। पुस्त अथवा पुस्तक भी इसी का पर्याय है। ग्रथ्यते इति ग्रन्थः, जो ग्रथित किया जाय, ज्ञान से संकलित किया जाय, बाँधा जाय– वही ग्रन्थ है। इसी प्रकार ज्ञान–विज्ञान का प्रतीकात्मक रूप पुस्त है। जैसे, 'सुरक्षित अवशेष' का प्रतीक 'स्तूप' है, जैसे 'उपासना' का प्रतीक 'मन्दिर' है उसी प्रकार ज्ञान का प्रतिरूपक (मुखौटा) पुस्त या पुस्तक है। आचार्य भरत (ई.पू. चौथी शती) ने अभिनय के कृत्रिम अथवा प्रतीकात्मक माध्यमों को पुस्त कहा है। जैसे कृत्रिम हाथी, कृत्रिम राजप्रसाद, रूई से बनाया गया हिरन–खरगोश आदि। यही नाट्यप्रयुक्त शब्द

ज्ञान–क्षेत्र में साम्यवश 'पुस्तक' क़े रूप में प्रयोग में आया – पुस्त+कन् प्रत्यय। इसकी विस्तृत चर्चा यथावसर आगे की जायेगी।

अरबी भाषा में ग्रंथ को किताब (ग्रंथ–अध्येता को क़ातिब, कहा जाता है। पञ्जाबी भाषा में ग्रन्थ रूढ़ हो गया है दशम गुरु गोविन्दसिंह द्वारा संकलित धार्मिक ग्रन्थ के अर्थ में। उसे गुरुग्रन्थ अथवा (आदरपूर्वक) 'गुरु ग्रंथ साहब' कहा जाता है पंजाबी गुरुद्वारों में गुरु ग्रंथ का पाठ करने वाले को भी ग्रंथी कहा जाता है जो एक धार्मिक प्रतिष्ठित–व्यक्तित्त्व का सूचक है तथा प्रत्येक ग्रन्थपाठी के लिये प्रयुक्त नहीं होता।

ग्रन्थसर्जना का संसार विशाल है। ज्ञान की अभिव्यक्ति के माध्यम शब्द, अर्थ, वाक्य, अनुच्छेद, परिच्छेद, अध्याय, लेखन के विविध अंग विराम, अर्धविराम, पृष्ठाङ्कन, सन्धि, कारक, समास, पाद टिप्पणी, विस्मयादिबोधक अव्यय, मंगलाचरण, पुष्पिका, कोष्ठक, काकपद, क्रौञ्चपद, हंसपद, कुण्डलना (अशुद्धिसूचक चिह्न) सबके सब ग्रन्थ के ही कुटुम्बी हैं। इनके बिना ग्रंथलेखन संभव नहीं है।

परन्तु ग्रंथ के विषय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूचना यह है कि इसके दो रूप हैं– अप्रकाशित तथा प्रकाशित।

जो ग्रंथ लिखा जाने के बाद भी, चिरकाल से अप्रकाशित हो, अपने मूलरूप में सुरक्षित हो उसे पाण्डुग्रंथ, पाण्डुलिपि अथवा पाण्डुलेख कहते हैं। प्राचीनकाल में, जब कागज का आविष्कार नहीं हुआ था,

तब ये ग्रन्थ प्रायः ताडपत्र पर, भोजपत्र पर अथवा चर्मपत्र पर लिखे जाते थे। उसी रूप में वे आज भी उपलब्ध होते हैं।

परन्तु जो पाण्डुलिपियाँ पाठालोचन– सम्पादन आदि के अनन्तर प्रकाशित हो जाती हैं तथा पाठकों के उपयोग में आने लगती हैं, उन्हें ही सामान्यतः ग्रंथ कहा जाता है। इस प्रकार, ग्रंथ का सर्वबोध्य अर्थ है प्रकाशित ग्रंथ, जो शिक्षितों द्वारा पढ़ा जा रहा हो।

भारत में ग्रंथ रचना का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, जिसकी विस्तृत चर्चा बाद में की जायेगी। परन्तु सर्वप्रथम हम समूचे विश्व की लेखन परम्परा से परिचित हो लेते हैं।

लेखन एवं ग्रंथरचना का वैश्विक इतिहास

1. सुमेर–संस्कृति (ई.पू. चौथी सहस्राब्दी से 2200 वर्ष) के दो राजाओं ने अपनी विधि संहिताएँ लिखाई जिनके नाम हैं–

(क) उइसंगुर की संहिता (1952 में उत्खनन से प्राप्त)

(ख) सम्राट् दुंगी की विधिसंहिता, जिसके खण्डित अंश प्राप्त 5 ए है। यह सुमेर राजवंश का प्रतापी शासक (2450–2400 ईसापूर्व) यह संसार का प्राचीनतम लेखन प्रमाण है।

2. बेबिलोन संस्कृति के सात नरपतियों में सर्वश्रेष्ठ सम्राट् हम्मू रबी ने (2123–2180 ई.पू.) जो विधिसंहिता लिखाबाई वह सौभाग्य से उपलब्ध एवं सुरक्षित है। यह आठ फुट ऊँचे पाषाण–फलक पर अंकित है कीलाक्षरों

में। इसमें कुल 285 धारों तथा 3600 पंक्तियाँ हैं। इस आलेख के शीर्ष भाग पर भगवान् सूर्य द्वारा विधिसंहिता हम्मू रबी को देते हुए उत्कीर्ण किया गया है। यह संहिता बेबिलोन के मर्दुक–मन्दिर में स्थापित थी। बाद में एलम (पश्चिमी ईरान) के शासक इसे अपनी राजधानी सूसा उठा ले गये। अन्ततः फ्रेंच विद्वान् द मार्गो ने इसका उद्धार किया। सम्प्रति यह सम्राट् हम्मू रबी के अनेक पत्रों के साथ ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित है।

3. सर्वाधिक लेखन–सामग्री मिस्र की **हाइरोग्लाइपिक** (चित्राक्षर लिपि) में मिलते हैं जो प्राचीनता तथा मात्रा–दोनों ही दृष्टियों से सर्वोपरि हैं। इस लिपि में कुल 2000 चित्राक्षर थे जिनमें मनुष्य, पशु तथा पक्षियों की आकृतियों का अंकन है। शेष ज्यामितिक आकृतियाँ हैं।

कीलाक्षर–लिपि के ही समान मिस्री लिपि में भी चिह्न तीन प्रकार के हैं– भावबोधक (Idiographic), ध्वनिबोधक (Phonetic) तथा संकेतसूचक (Determinations) इन तीनों का प्रयोग एक ही साथ मिलता है। इस लिपि लेख का सर्वोत्तम प्रमाण मिस्र के प्रथमवंश के राजा नरमेर (3400–2980 ई. पू. के मध्य) की स्लेटपट्टिका है।

इसमें श्येनरूपधारी होरूस देवता के हाथ में एक रस्सी है जो एक सेमाइट (दास) की नाक से बँधी है। इसमें केवल मनुष्य का सिर प्रदर्शित है। शरीर के स्थान पर एक आयत है जो देशार्थक चिह्न है। इससे छः कमलनाल निकाल रहे हैं वाचक अक्षर है– ख, ख का अर्थ मिस्री परम्परा में 6000 भी होता है। इस प्रकार इस बेहद जटिल चित्र का अर्थ गार्डनर नामक विद्वान् ने

बताया– होरूस छ हजार विदेशी बन्दियों को उनके देश से पकड़ कर फराओ के सामने लाता है।

मिस्रवासी, दूसरों के लिये दुर्बोध तथा जटिल इस चित्रलिपि में इतने पारंगत हो गये थे कि बाद में 24 अक्षरों की वर्णमाला का आविष्कार कर लेने के बाद भी वे ध्वनि संकेतात्मक तथा चित्रात्मक अपनी इसी लिपि का प्रयोग करते रहे। यद्यपि चित्रों तथा ध्वनिसंकेतों के निर्माण में, उन्हें भी समय तो लगाना ही पड़ता था तथापि उन्होंने, अंग्रेजी की स्थानापन्न **शार्टहैण्ड** की ही तरह एक द्रुतलिपि या घसीटलिपि को भी विकसित कर लिया था जिसे वे लिखते समय एक स्टेनोग्राफर की तरह चित्राक्षरलिपि में लिख लेते थे।

मिस्र के 18वें राजवंश के अन्तिमशासक अमनहोतप चतुर्थ ने अखनाटन् (अखन=प्रकाश, अतन = सूर्य) की उपाधि धारण की। उसने कार्नाक में विशाल सूर्यमन्दिर बनवाया तथा दीवारों पर स्तुतियाँ लिखवाईं। उसके साथ निताली नरेश दशरथ का भी प्रभूत पत्राचार रहा। इस समय (ई.पू. 14वीं शती) मिस्री लेखनकला पराकाष्ठा पर थी। ये सूर्यस्तुतियाँ ऋग्वेद के सवितृ–सूक्त के मंत्रों जैसी ही लगती हैं–

नत्रुइ सनुइन त्याउ आसा ससु

पुआ और आरफ हरुपन् श्वन्तत पुऊन् ।

अरि बुनफर अरूअन् आखियु

ववु वातु आब्र बस अस आन सुतर

ओम् ओषान् रपिन्तु आतन् ।। (कार्नाक सूर्यमन्दिर)

समस्त विश्व तेरे हाथ में है

जैसा भी तूने उन्हें बनाया है।

जब तू उदय होता है, वे जी जाते हैं

जब तू अस्त होता है वे मर जाते हैं।

क्योंकि तू खुद के जीवन का विस्तार है

मनुष्य तेरे कारण जीवित रहते हैं।

जबकि (उनके नेत्र) तेरे सौन्दर्य को निहारते हैं

जब तक कि तू अस्त नहीं हो जाता!!

सूर्य से सम्बद्ध ये तीन स्तुतियाँ एक दूसरे का अनुवाद नहीं हैं तथापि इनकी मिठास तथा प्रवाह प्रत्येक भाषा में समान है।

4. 1850 ई. में रालिंसन को, 1854 में उर, एरड् तथा एरेक नगरों में उत्खनन कराने वाले दो विद्वानों को तथा 1889–98 के मध्य लगश तथा निप्पुर नगरों की खुदाई से अनेक महत्त्वपूर्ण अभिलेख तथा बेबिलोन–शासकों की सूचियाँ (लिम्पू) प्राप्त हुईं। इनसे ई.पू. दूसरी तीसरी सहस्राब्दी में लेखन–कला के होने का प्रमाण मिला।

5. 1929 ई. में अमेरिकन विद्वान् वूली को उर–नगर के उत्खनन में राजसमाधि, कोष (खजाना) मिला जो सुमेर शासक का था। 1948 ई. में

Oriental Institute of the University of Shieago द्वारा कराई गई निफुर–नगर की खुदाई में सैकड़ों महत्त्वपूर्ण अभिलेख मिले, जो सुमेर तथा बेबिलोन साम्राज्य के थे।

लेखनकला की प्राचीनता के अन्य अनेक प्रमाण असुर संस्कृति, यहूदी संस्कृति, हखामशी संस्कृति (ईरान) ईजियन, यूनानी तथा रोमन संस्कृतियों के उपलब्ध हैं। नरामसिनपाषाण तथा गृद्धपाषाण (Vulture Stone) जैसे सुरक्षित विस्तृत पाषाणचित्र भी हैं, तथापि वे परवर्ती तिथियों के हैं। अतः उनकी चर्चा नहीं की जा रही है।

6. ईसा की प्रथम शती में भारतीयों ने प्रशान्त महासागरीय दक्षिण–पूर्वी एशियाई द्वीपों पर अपने साम्राज्य स्थापित किया। ब्राह्मण कौण्डिन्य ने कम्बुज में, श्रीमार ने चम्पा (वियतनाम) में तथा पूर्णवर्मा ने पश्चिमी जावा में मतराम–साम्राज्य स्थापित किया। पूर्णवर्मा के कई शिलालेख तथा उनके पादप्रतिबिम्ब मिले हैं जो बटाविया (जावा) के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ये शिलालेख विशुद्ध संस्कृतभाषा में हैं। वे इस प्रकार हैं–

श्रीमान् दाता कृतज्ञो नरपतिरसयो यः पुरा तारुमायां

नाम्ना श्रीपूर्णवर्मा प्रचुररिपुशराऽभेद्यविख्यातवर्मा।

तस्येदं पादबिम्बद्वयमरिरनगरोत्सादने नित्यरक्षं

भक्तानां यच्छ्रितानां भवति सुखकरं शल्यभूतं रिपूजाम् ॥

-जम्बू शिलालेखः

विक्रान्तस्याऽवनिपतेः श्रीमतः पूर्णवर्मणः।

तारुमनगरेन्द्रस्य विष्णोरिव पदद्वयम् ॥ - चिअरुतोन शिलालेखः

द्विषज्जयविशालस्य तारुमेन्द्रस्य हस्तियः

(सम्य) गैरावताभस्य विभातीदं पदद्वयम् ॥

-केबोनकोपी शिलालेखः

लेखन एवं ग्रंथरचना का भारतीय इतिहास

भारतीय साहित्य (वेद, पुराण, रामायण, महाभारत, षड्दर्शनादि) भारतीय धर्म, भारतीय संस्कृति अपने उदयविन्दु से आज तक **खण्डित** भले हुई हों, परन्तु समाप्त कभी नहीं हुईं। भारत में सब कुछ वैसा ही है जैसा ईसा से 6500 वर्ष पूर्व था, जिसे स्वर्गीय बालगंगाधर तिलक भारतीय संस्कृति का **अदिति–युग** निरूपित करते हैं– अपने वसन्तसम्पात–सिद्धान्त के आधार पर।

ई.पू. तीसरी सहस्राब्दी से लेकर हखामशी साम्राज्य (ई.पू. 5वीं शती) तक मेसोपोटामिया (वर्तमान ईराक), मिस्र, अनातोलिया (टर्की अथवा एशिया माइनर) ईजियन–प्रदेश तथा इटली में पनपने तथा विकसित होने वाली सुमेर, बेबिलोन, असुर, फराओ, हित्ती तथा मितानी संस्कृतियाँ क्यों समूल नष्ट हो गईं– बस नाम मात्र के कीलाक्षर (क्यूनीफॉर्म) अभिलेख छोड़कर। आज उनका कोई सांगोपांग इतिहास नहीं मिलता। परन्तु क्या कारण है कि बारह सौ वर्षों की गुलामी, ग्रन्थागार–दाह, मूर्ति विनाशादि के बाद भी भारत ने अपना कुछ भी नहीं खोया!

उसका, सम्पूर्ण विश्व को विस्मित करने वाला उत्तर यही है कि भारत में ज्ञान की लेखन परम्परा से अधिक महत्त्व उसकी वाचिक परम्परा का था। भारतीयों को अपना सारा साहित्य कण्ठस्थ था। लाखों ग्रंथ धर्मान्धों ने जलाए परन्तु विद्वानों ने उन्हें पुनः लिख लिया। बस वही नष्ट हुआ– जो कण्ठस्थ नहीं था। अब इस आधार पर कोई मूढ़ यह कहे कि भारतीयों को लेखन एवं ग्रंथ रचना का ज्ञान ई.पू. तीसरी सहस्राब्दी में नहीं था तो उसे क्या कहा जाय? यह भ्रम पाण्डुलिपियों से दूर हो जाता है।

मेरे इस कथन का निष्कर्ष यह है कि यद्यपि भारत में लेखन एवं ग्रंथरचना के प्रमाण स्थूलरूप में मिस्र एवं सुमेर संस्कृति जैसे पुराने नहीं हैं तथापि भारतीय ग्रन्थों की आयु समूचे संसार में प्राचीनतम है। महाभारत, रामायण, स्मृतियाँ तथा समूचा वैदिक साहित्य (मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्) की रचना जब हुई तब सुमेर, बेबिलोन, मिस्र का कोई अस्तित्त्व नहीं था।

तथापि लेखन–विषयक उपलब्ध भारतीय साक्ष्यों को जान लेना चाहिये। प्रस्तुत हैं कुछ महत्त्वपूर्ण प्रमाण।

ऐतिहासिक प्रमाण

(1) प्रियदर्शी सम्राट् अशोक (ई.पू. चौथी शती) के शिलालेखों में **लिपिकार** एवं **दिपिकार** शब्दों का प्रयोग मिलता है जो निश्चित रूप से पाण्डुलिपि–लेखक के ही अर्थ में प्रयुक्त है।

(2) महर्षि पाणिनि की **अष्टाध्यायी** में, जैसा कि प्रारंभ में ही कहा जा चुका है कि लेखन से जुड़ी अनेक धातुओं एवं स्वतंत्र शब्दों का विवरण मिलता है। उनमें एक प्रमाण तो अत्यन्त ऐतिहासिक महत्त्व का है।

स्त्रीलिङ्ग शब्दों के निर्माण के प्रसंग में महर्षि पाणिनि ने ङीप्, ङीष् तथा टाप् प्रत्ययों के प्रयोग का विधान बताया है जैसे गौरः से गौरी, देवः से देवी अथवा चटकः से चटका, बालः से बाला आदि। परन्तु कुछ विशिष्ट शब्दों के सन्दर्भ में पाणिनि यह कहते हैं कि इन शब्दों से स्त्रीलिंग बनाने से पूर्व इनमें आनुक् प्रत्यय जोड़ लिया जाय। वे शब्द हैं–हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल, आचार्य।

इन शब्दों का स्त्रीलिंग रूप हिमी, अरण्यी, यवी, यवनी, मातुली तथा आचार्यी नहीं बनेगा। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इनका स्त्रीलिङ्ग का रूप मूलशब्द में आनुक् प्रत्ययजोड़ कर बनाया जाना चाहिये। अतः शुद्ध रूप बनेगा–हिम + आनुक् + ङीप = हिमानी। इसी प्रकार अरण्यानी, यवानी, यवनानी, मातुलानी तथा आचार्याणी।

परन्तु प्रयोग तो यवनी शब्द का भी मिलता है। महाकवि कालिदास स्वयं अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में लिखते हैं– ततः प्रविशति **यवनीभिः** परिवृतो राजा।

इस सन्दर्भ में व्यवस्था देते हुए महर्षि पाणिनि कहते हैं कि **यवनी** तथा **यवनानी** दोनों ही स्त्रीलिङ्ग शब्द ठीक हैं, परन्तु दोनों शब्दों में अर्थ–भेद है। यवन का अर्थ है यूनानी पुरूष। अतः **यवन** से **यवनी** बनेगा

तो उसका अर्थ होगा यूनान देश की महिला (Greek lady) परन्तु जब यवन शब्द में आनुक् प्रत्यय जोड़ कर स्त्रीलिङ्ग बनायेंगे तब **यवनानी शब्द** का अर्थ होगा **यूनानी लिपि** (Greek Script)।

इस प्रकार सिद्ध है कि भारतीय लोग पाणिनि के युग में (ई.पू. 5वीं या 7वीं शती) भी यूनान देश की लिपि से सुपरिचित थे, जिसका अकाट्य साक्ष्य है यह यवनानी शब्द। प्रसिद्ध विद्वान् गोल्डस्टकर एवं डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल (India as known to Panini) के लेखक ने इन्हीं प्रमाणों के आधार पर भारत में लेखन–कला का विकास महर्षि पाणिनि से भी पूर्व माना है।

कुछ अन्य साक्ष्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं रोचक हैं–

(3) हरिषेण–प्रणीत **कथाकोष** की 24वीं कथा में मसी का प्रसंग आया है। इस कथा में एक अध्यापक के स्तम्भ शब्द का गलत अर्थ करने एवं समझने के कारण, उसके अन्धे हो जाने का वर्णन है। मसी का अर्थ लोकविदित है– स्याही के रूप में, जो कि लेखन का एक प्रमुख अंग है।

(4) कुमारपालप्रबन्ध (आचार्य हेमचन्द्र–प्रणीत, 11वीं शती ई.) में उल्लेख मिलता है कि एक बार राजा कुमारपाल प्रातः गुरुजनों तथा साधुओं को प्रणाम कर **लेखकशाला** देखने के लिये गया। वहाँ पर लेखकगण कागज के पन्नों पर (ग्रंथ) लिखते दिखाई पड़े (एकदा प्रातर्गुरून् साधूंश्च वन्दित्वा लेखक–शालाविलोकनाय गतः। लेखकाः कागदपत्रकाणि लिखन्तो दृष्टाः)।

इस विवरण से चालुक्य–सम्राट् कुमारपाल के समय में ग्रंथ–लेखन की विकसित परम्परा का ज्ञान होता है।

(5) आचार्य हरिभद्र सूरि ने **योगदृष्टिसमुच्चय** नामक अपने ग्रंथ में श्रावकों के नित्यकर्म की प्रशंसा करते हुए कहा है– लेखना पूजना दानम् आदि। अर्थात् श्रावक (गृहस्थ) लोग लेखन, पूजन तथा दान आदि में समय बिताते हैं।

इस विवरण में लेखनकला का समूचे समाज में व्याप्त एवं लोकप्रिय होना सिद्ध होता है।

(6) शार्ङ्गधरपद्धति एवं **पत्रकौमुदी** में राजलेखक के गुणों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि उसे ब्राह्मण होना चाहिये।

(7) पौराणिक एवं स्वतंत्र ग्रन्थों का साक्ष्य– लेखन–विषयक प्रमाणों की संख्या भूयसी है। महाकवि कालिदास (ई.पू. दूसरी शती) ने तो मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम्– तीनों ही नाटकों में पत्रलेखन का विवरण दिया है। यह विवरण इतना प्रामाणिक एवं सटीक है कि पत्रलेखन की पूरी प्रक्रिया तथा पत्र लिखने वाली की विविध मुद्राओं का भी परिचय कराता है। इन विवरणों से सिद्ध हो जाता है कि ईसापूर्व दूसरी शती में भी भारत में अत्यन्त परिष्कृत लेखनकला विद्यमान थी।

मालविकाग्निमित्र में विदिशानरेश कुमार अग्निमित्र को, समरभूमि से प्रेषित उनके पिता सेनापति पुष्यमित्र शुंग के पत्र का पूर्ण विवरण इस विवरण से यह भी ज्ञात हो जाता है कि उस समय पत्र किस शैली में तथा किस प्रकार लिखे जाते थे। पत्र का आशय इस प्रकार है–

कल्याण हो। अश्वमेध यज्ञस्थल से सेनापति पुष्यमित्र विदिशा में स्थित आयुष्मान् पुत्र अग्निमित्र को स्नेहपूर्वक आलिङ्गित करते हुए कह रहे हैं कि आप को ज्ञात हो कि राजसूय–यज्ञ में दीक्षित मैंने जो यज्ञाश्व, सौ सामन्तों के साथ कुमार वसुमित्र के संरक्षण में, सालभर की अवधि में लौटने के उद्देश्य से युक्त छोड़ा था वह सिन्धु नदी के दक्षिणी तट पर विचरण करता यवननरेश शतानीक द्वारा पकड़ लिया गया। तदनन्तर दोनों सेनाओं में भयावह युद्ध हुआ।

तदनन्तर शत्रुओं को पराजित कर धनुर्धारी वसुमित्र ने, बलपूर्वक अपहृत मेरे यज्ञ के घोड़े को पुनः प्राप्त कर लिया।

वह मैं अब, सगरपुत्र अंशुमान् सदृश कुमार वसुमित्र द्वारा घोड़ा लौटा लिये जाने पर यज्ञ संपन्न करूँगा। इसलिये बिना समय गँवाये, आप प्रसन्न–चित्त होकर वधूजनों के साथ, यज्ञ में भाग लेने के लिये पधारें –(माल. अंक 5)।

लेखन चाहे पाण्डुलिपि का हो या पत्र का सम्मान होता है। विक्रमोर्वशीय में देवांगना उर्वशी भोजपत्र पर अपना पत्र लिख कर पत्र में अपना हस्ताक्षर भी करती है। हस्ताक्षर को कालिदास स्वहस्तः कहते हैं–

उर्वशी– तत् प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रेण लेखं सम्पाद्य अन्तरा क्षेप्तुमिच्छामि।

राजा– (गृहीत्वा) वयस्य! अंगुलिस्वेदेन दूष्येरन् अक्षराणि।

धार्यतामयं मम प्रियायाः स्वहस्तः।

लार्ड कैनिंग को भी 1910 ई. में (धार म.प्र.) भोजशाला के पीछे वाग्देवी की जो मूर्ति मिली थी (जो अब इण्डिया आफिस लाइब्रेरी लन्दन में रखी है) उस मूर्ति में भी सरस्वती के चरणों के नीचे महाराज भोज का अपना हस्ताक्षर उत्कीर्ण है–

स्वहस्तोऽयं भोजदेवस्य।

लेखन के लिये तीन वस्तुं तो अनिवार्य हैं– स्याही, लेखनी और कागज। परन्तु महाराज दुष्यन्त को प्रेमपत्र (मदनलेख) लिखते समय वनवासिनी शकुन्तला के पास ये तीनों ही वस्तुं नहीं हैं। फलतः वह सरस कमलिनी के पत्ते पर नाखून के अग्रभाग से ही अपना पत्र उत्कीर्ण कर डालती है।

पत्र लिखते समय शकुन्तला की मुद्रा का अद्भूत वर्णन करते हैं कालिदास, जो अत्यन्त विश्वसनीय है। शब्दों को सोच–सोच कर लिखती शकुन्तला पलक गिराना भी भूल गई है। उसकी एक भौंह ऊपर चढ़ गई है तथा कपोलों पर रोमाञ्च हो आया है। यह अत्यन्त अनुभवसिद्ध वर्णन है (कुछ लोग तो लिखते समय दाँतों से अधर दबा लेते हैं अथवा अन्यान्य मुद्रायें अपनाते हैं।

राजा–स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुणा प्रियामवलोकयामि यतः

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्या पदानि रचयन्त्याः।

कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन॥

शकुन्तला–हला चिन्तितं मया गीतवस्तु।

न संनिहितानि पुनर्लेखन–साधनानि।

प्रियंवदा–ननु एतस्मिन् शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे पत्रच्छेदभक्त्या नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरू।

(8) इसी प्रकार बाणभट्ट–प्रणीत **कादम्बरी** में भी पत्रों के आदान–प्रदान का सन्दर्भ विस्तारपूर्वक वर्णित है। केयूरक उज्जयिनी से महाराज तारापीड का पत्र लेकर कुमार चन्द्रापीड के पास आता है। इसी प्रकार चन्द्रापीड अपने पत्र के साथ पत्रलेखा को कादम्बरी के पास भेजता है। ये समस्त साहित्यिक उदाहरण प्रथम से सातवीं शती ई. के बीच के हैं।

अनेक पुराणों में भी पत्रलेखन के सन्दर्भ मिलते हैं। **श्रीमद्भागवत पुराण** में राजा भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी अपना पत्र एक ब्राह्मण के हाथ, द्वारकाधीश कृष्ण के पास भेजती है। यह पत्र अत्यन्त मार्मिक है तथा कालक्रम की दृष्टि से संभवतः सर्वाधिक प्राचीन भी है क्योंकि मुख्य पुराण वेदव्यास–प्रणीत माने जाते हैं जो महाभारतकालीन हैं।

(9) गरुरुडपुराण में लेखक के गुणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि उसे मेधावी, वाक्पटु, प्रतिभाशाली, सत्यवादी, जितेन्द्रिय तथा समस्त शास्त्रों में निष्णात होना चाहिये–

मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः।

सर्वशास्त्रसमालोकी ह्येष साधुस्स लेखकः॥

(10) मत्स्यपुराण (अ.189) में उपलब्ध लेखक–विषयक यह विवरण और भी अधिक विस्तृत तथा महत्त्वपूर्ण है–

सर्वदेशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः।

लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै।।

शीर्षोपेतान् सुसम्पूर्णान् शुभश्रेणिगतान् समान् ।

अक्षरान् वै लिखेद्यस्तु लेखकस्स वरः स्मृतः।।

उपायवाक्यकुशलः सर्वशास्त्रविशारदः।

बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्यान्नृपोत्तम।।

नानाभिप्रायतत्वज्ञो देशकालविभागवित् ।

अनाहार्यो नृपे भक्तो लेखकः स्यान्नृपोत्तम!!

यह वर्णन अद्भुत है। इसमें न केवल लेखक की विद्वत्ता, अनेक–शास्त्र पारंगतता, प्रतिभाशालिता, देशकालज्ञता, अनेक देशों की लिपियों की विशेषज्ञता तथा बह्वर्थवक्कृता का उल्लेख है बल्कि उसकी **विश्वसनीयता** को भी रेखांकित किया गया है कि लेखक को राजा के प्रति समर्पित होना चाहिये।

(11) शिलालेखीय प्रमाण– भारतवर्ष में इस प्रकार के गुहाभित्ति–लेख अनेक स्थानों पर उपलब्ध हैं। मध्य प्रदेश के सरगुजा जिले में अम्बिकापुर नगर से प्रायः 35 किमी दक्षिण में अवस्थित रामगढ़ की पर्वतशृंखला में एक

इसी प्रकार की गुफा अंग्रेज विद्वान् जॉन बायर को मिली थी। इन्हें **'जोगीमारा'** गुफा कहा जाता है। इनमें से एक गुफा को विश्व की प्राचीनतम नाट्यशाला होने का भी गौरव दिया जाता है क्योंकि इस गुहाद्वार के दोनों ओर रन्ध्रबने हैं जिनमें संभवतः दण्ड स्थापित कर पर्दा लटकाया जाता था। मुख्य गुहा के दोनों ओर दो अलिन्द (बरामदे) भी हैं, संभवतः जिनमें अतिरिक्त पात्र खड़े रहते थे।

जोगीमारा की दूसरी गुफा संभवतः कविगोष्ठी के लिये बनी थी क्योंकि इसमें वर्तुलाकार परिधि में पत्तर को काट–काट कर आसन बनाये गये हैं कवियों के बैठने के लिये। इस गुफा की दीवार पर ब्राह्मीलिपि में एक पद्य अंकित हैं जिसमें कवियों की प्रशंसा की गई है। पद्य इस प्रकार है–

आदिपयन्ति हृदयं सभावगरुका कवयो एतितयं।

दुले वसन्तिया हि सावानुभूति कुन्दस्ततं एवमालंगति।।

इसी प्रकार नाट्यशालानुमा पहली गुफा की भित्ति पर भी एक लेख अंकित है जिसका तात्पर्य यह है कि वाराणसी से आये रूपदक्ष (अभिनेता) देवदत्त तथा नर्तकी सुतनुका की प्रणय–केलियों से कभी यह क्षेत्र अनुरंजित हो उठा था–

सुतनुका नाम देवलासिक्यो तां कमयिथ।

वलुनसेये देवदिणे नाम लुवदिखे।।

मध्यप्रदेश में ही भोपाल एवं होशंगाबाद के मध्यवर्ती वनों में प्रोफेसर वाकणकर ने **भीमबेटका** गुफाओं का अध्ययन किया था। जनश्रुति है कि

अज्ञातवास के दिनों में पञ्च पाण्डव, माता कुन्ती के साथ इन्हीं गुफाओं में रहे थे। संभवतः इसीलिये स्थानीय भाषा में इन गुफाओं को 'भीम का बैठका' कहा जाता है। इन गुहाभित्तियों पर भी ढेर सारे चित्र एवं आलेख अंकित किये गये हैं।

गुहाभित्तियों के उदाहरण मयसंस्कृति (मेक्सिको) में भी मिलते हैं जहाँ कभी **इन्का** जातीय सभ्यता विकसित हुई थी।

गुहाभित्तियों के अनन्तर **पाषाण** अथवा शिलालेखों का विकास हुआ। ये पाषाण–लेख चपटी प्रस्तर शिलाओं पर (जो अभी भी अपने मूल पर्वत से जुड़ी हैं) अथवा काटकर अलग की गई प्रस्तरशिलाओं एवं गढ़े गये पाषाण–स्तम्भों पर विद्यमान हैं। सम्राट् अशोक ने सर्वप्रथम समाजोपयोगी धर्मदेशनायें इस प्रकार की प्रस्तर–शिलाओं एवं स्तम्भों पर लिखवाई। ये शिलालेख गान्धार (अफगानिस्तान) से लेकर सुदूर दक्षिण–पश्चिम भारत तक उपलब्ध हैं जिनमें प्रमुख हैं कालसी (देहरादून) शहबाजगढ़, मानसेहरा, लौरिया नन्दनगढ़, साँची, नालन्दा आदि।

(12) लेखयुक्त अशोकस्तम्भ भी सम्प्रति इलाहाबाद, वाराणसी (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय–प्रांगण तथा सारनाथ) आदि स्थानों पर उपलब्ध हैं जिन पर कालान्तर में अन्यान्य भूपतियों ने भी अपनी प्रशस्तियाँ लिखवाई। सम्राट् रुद्रदामन् का **गिरनार शिलालेख** (140 ई.) तथा खारवेल का **हाथीगुम्फा लेख** (भुवनेश्वर, उड़ीसा) भी पर्वतांशों पर ही लिखा गया है जिन्हें मन्दिरों में स्थापित किया गया है। वत्सभट्टि का मन्दसौर शिलालेख,

रविकीर्ति का ऐहोल शिलालेख, खजुराहो के मन्दिरों में विद्यमान गण्डदेव के शिलालेख तथा महेन्द्रपाल, महीपाल, भोजदेव आदि की शिलांकित प्रशस्तियाँ भी इसी क्रम में आती हैं।

(13) मिट्टी की ईंट पर भी लिखने की परम्परा पाषाणलेख के बाद आई होगी। वर्तमान इण्डोनेशिया के बालीद्वीप में तथा मलेशिया में इसी प्रकार के मृत्तिका फलकों पर बौद्धधर्म की देशनायें (धम्मपद) आदि लिखी मिलती हैं जो आज भी वहाँ के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। वर्तमान मलेशिया, जहाँ ईसा की प्रारंभिक शती से 15वीं शती ई. तक शैलेन्द्र–साम्राज्य विद्यमान रहा, उसके केड्डाह प्रान्त (भारतीय स्रोतों में जिसे कटाह द्वीप कहा गया है) में एक ऐसा ही मृत्फलक लेख मिला है जिस पर **महानाविकबुद्धगुप्तस्य** अंश उत्कीर्ण है।

वर्तमान शोधों से सिद्ध हुआ है कि यह मृत्तेष्टिका–लेख महानाविक बुद्धगुप्त का है जो मुर्शिदाबाद (पश्चिमबंगाल) का रहने वाला था और व्यापार के प्रयोजन से कभी कटाह–द्वीप (मलेशिया) गया था। हिन्दी के प्रख्यातकवि जयशंकर प्रसाद जी ने इसी बुद्धगुप्त को नायक बना कर आकाशद्वीप नामक कहानी लिखी है (गो कि प्रसाद जीन ने बुद्धगुप्त की यात्रा बालीद्वीप में दिखाई है जो इतिहास–सम्मत नहीं है)।

(14) काष्ठफलक अथवा लकड़ी की पाटी पर भी पाण्डुलिपि–लेखन किया गया। इसी प्रकार वृक्षों की छाल पर लेखन का विकास हुआ। भारतवर्ष में हिमालय क्षेत्र में उत्पन्न होने वाला भूर्जवृक्ष इस दृष्टि से सर्वोत्तम रहा है। इस वृक्ष की छाल (त्वक्) ऋतुपरिवर्तन के प्रभाव से स्वतः वृक्ष से

अलग होती रहती है। यह इतनी मजबूत, चिकनी तथा विशाल आकार–प्रकार की होती है कि इसे बड़ी सरलता से कागज के पत्ते के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

(15) भारतवर्ष में चिरकाल से ही तंत्र–मंत्र का लेखन अथवा जन्मलग्नादि का लेखन भोजपत्र पर ही होता रहा है। परन्तु भोजपत्र पर पत्र लिखने का संभवतः प्राचीनतम प्रमाण महाकवि कालिदास का है (ई.पू. द्वितीय शती) विक्रमोर्वशीय नाटक में देवांगना उर्वशी राजा पुरुरवा को अपना प्रेमपत्र भोजपत्र पर ही लिखती है, ऐसा सुस्पष्ट उल्लेख है।

(16) पेपीरस घास (तृणविशेष) से बने कागज को कहते हैं। इस प्रकार का कागज संभवतः सर्वप्रथम बेबिलोनवासियों ने बनाया। मिस्रवासियों को भी पेपीरसनिर्माण की कला ज्ञात थी। ब्रिटिशसंग्रहालय में आज भी 133 फुट लम्बा पेपीरस सुरक्षित है जो संभवतः 2400 वर्ष ईसापूर्व का है। पेपीरस–विषयक अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों का विवेचन पूर्व पाठ में किया जा चुका है। भारत में भी कागज था परन्तु वह रूई से बनता था। नियार्कस की इण्डिका में इसका प्रमाण उपलब्ध है।[1]

---

1 पेपायरस (पेपीरस) सरकण्डे की जाति का एक पौधा है जो मिस्रदेश की नीलनदी के दलदली प्रदेश में सरलता से पैदा होता है। इसका पौधा छ फिट ऊँचा होता है। और इसके डण्ठल साढ़े चार से नौ इञ्च लम्बे होते हैं। इसकी छाल से पतली चित्तियाँ निकालकर, उसकी लुगदी (chrime) से मिस्री लोग कागज बनाते थे। इस लुगदी को फैलाकर, सुखाकर, पत्तर आदि के घोंटने से चिकना बनाकर तथा विविध आकार–प्रकार में काटकर पेपर बनाया जाता था। वस्तुतः पेणीरस पौधे के ही कारण इसे पेपर कहा गया। जैसा मैंने निर्दिष्ट किया भारत में पंजाब में रूई से कागज बनने तथा ई.पू. दूसरी शती में।

(17) चर्मपत्र को भी लेखन का आधार बनाया गया है। इण्डोनेशिया, जिसे प्राचीनकाल में सुवर्णद्वीप के नाम से जाना जाता था, में आज भी चर्म ही वहाँ की वायांग–कला का प्राणतत्त्व है। इण्डोनेशिया के प्रमुख द्वीपों–जावा तथा बाली–जहाँ भारतीय संस्कृति ईसा की प्रारंभिक शती से 15वीं शती ई. तक विद्यमान रही, महिषचर्म (कुलित) से ही पौराणिक पात्रों को गढ़ने की कला विकसित हुई जो आज तक यथावत् विद्यमान है। चर्म को मलय भाषा में 'कुलित' कहते हैं अतः चर्मनिर्मित पुतलियों को भी **वायांग कुलित** कहा जाता है। जावा तथा बाली के डलंग (सूत्रधार) इन्हीं वायांगों के द्वारा रामायण–महाभारत आदि का प्रदर्शन पर्दे पर किया करते थे, जो आज भी इन द्वीपों में अत्यन्त लोकप्रिय हैं।[1]

(18) वृक्ष की त्वचा के ही समान कुछ वृक्षों के पत्ते भी आधार–सामग्री के रूप में प्रयुक्त किये गये। ताड़वृक्ष का पत्र इस दृष्टि से सर्वाधिक उपयोगी रहा है। भारत के विभिन्न अंचलों में इन्हीं ताड़पत्रों पर विशाल साहित्य लिखा गया मिलता है। विश्वप्रसिद्ध सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के **सरस्वतीभवन** में आज भी एक लाख चौदह हजार ताड़पत्रांकित पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं।

---

[1] चर्मपत्र (Parchment) के विषय में के विषय में डॉ. सत्येन्द्र ने 'पाण्डुलिपिविज्ञान' (पृ. 16) पर एक महत्त्वपूर्ण सूचना दी है। जब पर्गेमम के विश्वविद्यालय का विकास चरमशिखर पर पहुँच गया तब अलेक्जेण्ड्रिया के लोगों को चिन्ता हो गई कि हमारे ग्रंथागार का महत्त्व कहीं कम न हो जाय। फलतः (ईर्ष्यावश) उन्होंने पर्गेमम को पेपीरस देना बन्द कर दिया। तब पर्गेमम में लेखन–आधार के रूप में चर्मपत्र (Parchment) का अविष्कार किया गया।

परन्तु यह चर्मपत्र पेपीरस की तरह वर्तुलाकार लपेटकर खरीते (Scroll) के रूप में नहीं रखा जा सकता था, ठोस होने के कारण। अतः उन्हें पृष्ठानुसार व्यवस्थित किया गया तथा पन्नों की एक साथ (आधुनिक पुस्तक की तरह) सिलाई कर दी गई। चर्मपत्रों का वही स्यूत रूप कोडेक्स (Codex) के नाम से विख्यात हुआ जो आधुनिक जिल्दबन्द किताब का पूर्वरूप माना जाता है।

भारत के ही अनुकरण पर जावा तथा बाली में भी पाण्डुलिपियों का लेखन ताड़पत्र पर हुआ। मलय भाषा में ताड़ को **लोन्तार** अथवा **रोन्ताल** कहते हैं। 1987–89 में जब मैं बालीद्वीप के उदयन विश्वविद्यालय में भारत–सरकार की ओर से विजिटिंग प्रोफेसर नियुक्त था तब मैंने विश्वविद्यालय में 18000 पाण्डुलिपियों का संग्रह देखा एवं उपयोग किया था। इसी प्रकार का ताड़पत्रांकित पाण्डुलिपियों का विशाल संग्रह मैंने डचयुगीन बाली की राजधानी **सिंगराजा** के **गेडुंगकृत्य** नामक संस्थान में भी देखा। ये सारी पाण्डुलिपियाँ अत्यन्त मूल्यवान् हैं तथा भारतीय ज्ञान–विज्ञान की प्रतिच्छायामात्र हैं। अनेक दुर्लभ ग्रंथ, जो अब भारत में उपलब्ध नहीं हैं, बालीद्वीप के इन पाण्डुलिपि संग्रहालयों में आज भी सुलभ हैं जिनका अध्ययन किया जाना चाहिये।

इन सबके अनन्तर ही आधुनिक कागज का आविष्कार हो सका है जिसका श्रेय चीनवासियों को दिया जाता है।

प्रत्येक वस्तु की अपनी एक विशिष्ट रचना–प्रक्रिया होती है। एक कुम्हार भी जब पात्रनिर्माण करता है तो विविध प्रक्रियाओं से ही अग्रसर होता

है। उदाहरणार्थ, पात्र निर्माण योग्य मिट्टी लाना, मिट्टी को भिंगोना, मिट्टी को रौंदकर पात्रनिर्माण योग्य बनाना, मिट्टी से कंकड़–पत्तर को बाहर निकालना, चक्र की व्यवस्था करना, तदनन्तर चक्के पर मिट्टी का लोंदा रख कर इच्छानुसार पात्र गढ़ना आदि।

ठीक इसी प्रकार पाण्डुलिपियों के लेखन की भी अपनी एक विशिष्ट प्रक्रिया रही है जिसका सांगोपांग विवरण प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलता है। लेखन–विषयक ग्रंथों में इसका विस्तृत निरूपण किया गया है।

जब आज जैसे ग्रंथों के निर्माण की कला अज्ञात अथवा अविकसित थी तब भी ताड़पत्र पर लिखी पाण्डुलिपियों को ऊपर से नीचे तक तार द्वारा गूँथ (बाँध) दिया जाता था तथा ग्रंथ के ऊपर एवं नीचे लकड़ी के पट्टों से जिल्द बना दिये जाते थे। इस रूप में व्यवस्थित हजारों पाण्डुलिपि–ग्रंथ आज भी संग्रहालयों में विद्यमान हैं।

पाण्डुलिपि–निर्माण का प्रथम विन्दु है उसका **लेखक** तथा लेखन की **भौतिक सामग्री**। लेखक के अनेक पर्याय प्राचीन साहित्य में मिलते हैं।

राजकीय लेख (सल्तनतकालीन फरमान) लिखने वाले लेखक को **शासनिन्** कहा गया है– मत्स्यपुराण में।

मत्स्यपुराण में ही धार्मिक लेख लिखने वाले को **धर्मलेखिन्** कहा गया है। ये लेख मन्दिरों, जलाशयों, विश्रामालयों आदि के सन्दर्भ में लिखाये जाते थे नरपतियों अथवा धर्मप्राण धनकुबेरों द्वारा।

(19) कागज का निर्माण सर्वप्रथम भारत में अधिकांश विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि कागज का अविष्कार चीनियों ने सन् 105 ई. में किया। परन्तु इस तथ्य को स्वीकार करना, भारतीय कला–कौशल की अवमानना करने जैसा है। क्योंकि रूई (तूल) की लुगदी से कागज बनाने की विधि भारतीयों ने चीनियों से पूर्व ही खोज ली थी। ईसा से 127 वर्ष पूर्व सिकन्दर महान् का सेनापति निआर्कस, जो सिकन्दर के लौट जाने के बाद भी कुछ दिन पंजाब में निवास करता रहा था, नें अपने अनुभव लिखे हैं। उसने स्पष्ट लिखा है कि भारतीय लोग रूई कूट कर कागज बनाने में पारंगत थे। निआर्कस के इस अनुभव को एरियन ने अपने ग्रंथ इण्डिया में उद्धृत किया है।

निआर्कस तथा एरियन के ये प्रमाण सिद्ध करते हैं कि कागज का निर्माण सर्वप्रथम भारतीयों ने ही किया, चीनियों ने नहीं।

ईसा पूर्व द्वितीय शती में विद्यमान महाकवि कालिदास अपनी कृतियों में तीन पत्रों का उल्लेख करते हैं–

1. सेनापति पुष्यमित्र का पत्र अपने पुत्र अनिमित्र के लिये।
2. देवांगना उर्वशी का पत्र राजर्षि परुरवा के लिये।
3. शकुन्तला का मदन लेख महाराज दुष्यन्त के लिये।

इन पत्रों में **प्रथम पत्र** का आलेख (सन्देशाक्षराणि) तो ज्ञात है, परन्तु लेखनाधार अज्ञात है। इसका कोई संकेत नहीं मिलता कि पुष्यमित्र का पत्र **भूर्जपत्र** पर लिखा था अथवा कागज पर।

दूसरे पत्र में स्पष्टतः लेखनाधार का उल्लेख है। उर्वशी ने अपना पत्र भूर्जपत्र पर लिखा था तथा पत्र के अन्त में अपना हस्ताक्षर (स्वहस्त) भी किया था।

तीसरे पत्र में भी यद्यपि लेखनाधार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि वह पत्र सरस कमलिनी के पत्ते पर (नुकीले) नाखून से उत्कीर्ण किया गया था (एतस्मिन् सरसकमलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु)

परन्तु यहाँ कालिदास ने एक अद्भुत रहस्योद्‌घाटन किया है जो शोध की दृष्टि से, विद्वज्जनों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

शकुन्तला पत्र लिखने की मानसिकता में है। उसने पत्र की लेखनीय सामग्री (संदेशाक्षर) भी सोचली है। परन्तु लिखे तो कैसे? न लेखन का आधार उपलब्ध है, न ही उपकरण! तब सखी उसे परामर्श देती है कि तुम आधार (कागज) बना लो कमलिनी के पत्ते को और उपकरण (लेखनी) बना लो नाखून को। स्याही (मसि) की तो आवश्यकता ही नहीं। क्योंकि नख से मदनलेख लिखना तो है नहीं, बल्कि उसे पत्ते पर उत्कीर्ण (Inscribe) करना है।

यह सन्दर्भ व्यञ्जतया हमें बताता है कि शकुन्तला को अपना पत्र लिखने के लिये लेखनाधार (कागज अथवा भूर्जपत्र) तथा लेखनी–मसी आदि की अपेक्षा थी, परन्तु वे वस्तुें आश्रम में उपलब्ध नहीं थीं–

शकुन्तला– हसा, चिन्तितं मया गीतवस्तु किन्त्वसन्निहितानि पुनर्लेखन साधनानि।

अनसूया–एतस्मिन् शुकोदरसुकुमारे कमलिनीपत्रे नखेन निक्षिप्त वर्णं कुरू।

इस पूरे प्रकरण से, परोक्षरीत्या, हम यह अनुमान कर सकते हैं कि शकुन्तला को कर्गद (आधार) एवं लेखनी (उपकरण) की अपेक्षा थी जो उस युग में लेखन में प्रयुक्त होते थे। आश्रम में भूर्जपत्र की अनुपलब्धि को कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः **'असन्निहितानि पुनर्लेखन साधनानि'** का सीधा-सा अर्थ यही हो सकता है कि शकुन्तला के पास कागज और लेखनी नहीं थे।

इस प्रकार ईसा पूर्व द्वितीय शती में, भारतीय–समाज में कागज पर लिखने की परम्परा पूर्ण प्रचलन में थी।

लेखनाधार के रूप में कर्गद (कार्गज, कागद) के प्रयोग की यह पूर्व सीमा है। 11वीं शती ई. में उत्पन्न आचार्य हेमचन्द्र–प्रणीत **कुमारपाल प्रबन्ध** में कागद का स्पष्ट उल्लेख हुआ है– लेखनाधार के रूप में (एकदा प्रातर्गुरुन् साधूंश्च वन्दित्वा लेखकशाला विलोकनाय गतः लेखकाः **कागदपत्रकाणि** लिखन्तो दृष्टाः) यह कागद–प्रयोग की अपर सीमा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विक्रम की प्रथम सहस्त्राब्दी में भारत में लेखनाधार के रूप में कागज का प्रयोग प्रायुवर्षण होने लगा था। फिर भी, निश्चयपूर्वक यह बता पाना कठिन है कि कागज पर लिखी गई प्राचीनतम पाण्डुलिपि कौन है? इस विषय में अभी भी गहन अनुसन्धान की अपेक्षा है।

प्राचीन (उपलब्ध) पाण्डुलिपियों के परिचय–सन्दर्भ में इस विषय पर समुचित डाला जायेगा।

हमने भारतीय लेखन–परम्परा के विषय में, विभिन्न स्रोतों से सम्बद्ध कुल अठारह-उन्नीस प्रमाण एकत्र किये हैं। इनसे सिद्ध है कि भारत में लेखन परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल में ही विकसित हो गई थी। यह बात और है कि उसका प्राचीनतम उपलब्ध प्रमाण सम्राट् अशोक के 164 शिलालेख हैं जो अफगानिस्तान से लेकर भारत तक व्याप्त हैं। यह समय ई.पू. चौथी शती का है।

नागार्जुनकोण्डा से प्राप्त एक पाषाणोत्कीर्ण चित्रवीथी में भी किसी ज्योतिषी द्वारा सिद्धार्थ का फलादेश बताने का चित्रण है जिसे नीचे बैठा कोई व्यक्ति लिख रहा है। लेखन का यह शिलालेखीय प्रमाण ई.पू. प्रथमशती का है।

सम्पादन का वर्तमान अर्थ

किसी भी पाण्डुलिपि (अप्रकाशित कृति) अथवा ग्रन्थ (प्रकाशित कृति) का सम्बन्ध लेखक, सम्पादक, टीकाकार, भाष्यकार, समीक्षक अथवा पाठक से होता है। इनमें लेखक तथा पाठक तो पाण्डुलिपि अथवा ग्रंथ के अविच्छेद्य अंग हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने इन्हीं दोनों को कवि तथा सहृदय कहा है– **सरस्वत्यास्तत्त्वं काविसहृदयाख्यं विद्यामयते**!

मत्स्यपुराण में लेखक को कर्णिन् , शासनिन् तथा धर्मलेखिन् भी कहा गया है। ये संज्ञायें संकेतित करती हैं कि पत्र राजाज्ञापरक तथा धर्मपरक भी हुआ करते थे।

इन प्रकीर्ण साक्ष्यों के अनन्तर ही आता है लेखनविषयक स्वतंत्र ग्रंथों के प्रणयन का युग। संभवतः इस सन्दर्भ में प्राचीनतम स्वतंत्र ग्रंथ आचार्य क्षेमेन्द्र कृत **लोकप्रकाश** नामक ग्रंथ है जो 12वीं शती ई. का है।

विद्यापति–प्रणीत **लिखनावली** का समय 1418 ई. है। इसी प्रकार हरिदासकृत लेखकमुक्तामणि तथा लेखपञ्चाशिका भी स्वतंत्रग्रंथ हैं जिनमें लेखन–कला के विविध पक्षों का सांगोपांग विवरण प्रस्तुत किया गया है।

पालिवाङ्मय में लेखन को **तंत्रयुक्ति** कहा गया है तथा इसके पाँच संघटक अंग माने गये हैं–1.अभिकार (संगति), 2.मंगलाचरण, 3.हेत्वर्थ (ग्रंथलेखन का हेतु अथवा उद्देश्य), 4.उपदेश (कृतिकार के निजी उपदेश) तथा 5. अपदेश (दूसरे के मत का उद्धरण)।

परन्तु शोधप्रविधि में सर्वाधिक महत्त्व लेखक के बाद सम्पादक (Editor) का होता है। यह सम्पादक किसी पाण्डुलिपि का भी हो सकता है अथवा (पूर्व) प्रकाशित ग्रंथ का भी।

पाण्डुलिपि के सम्पादक का दायित्व ग्रन्थ–सम्पादक से दसों गुना अधिक होता है। उसका निम्न कारण है–

1. ग्रंथ पूर्व–प्रकाशित कृति होने के कारण आद्यन्त शुद्ध होते हैं। उनका पाठ भी अन्तिम रूप से निर्णीत एवं शुद्ध होता है। अतः उनके सम्पादन में

सम्पादक को विशेष श्रम नहीं करना पड़ता। बस पाठकों द्वारा निर्दिष्ट अशुद्धियों तथा कमियों को सुधार देना होता है। कभी–कभी पाठ का परिमार्जन, संशोधन एवं परिवर्धन भी करना होता है।

2. परन्तु पाण्डुलिपि के सम्पादक को तो उसकी समस्त प्रतियों को एकत्र कर पहले पाठालोचन करना पड़ता है। यह पाठालोचन **स्वैच्छिक, तुलनात्मक** अथवा **शास्त्रीय पाठनिर्धारण**–सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है। यह पाठालोचन **एकल** (केवल एक सम्पादककृत) अथवा **सामूहिक** दोनों प्रकार का हो सकता है। उदाहरणार्थ, कालिदास ग्रंथावली का आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी द्वारा किया गया सम्पादन **एकलकोटिक** है, परन्तु भण्डारकर ओ.रि. इन्स्टीटयूट, पूना द्वारा किया गया महाभारत का सम्पादन सामूहिक है क्योंकि उसमें डॉ. सुक्थांकर अथवा प्रो. ए.डी. पुसालकर के नेतृत्व में अनेक अन्य विद्वानों ने भी कार्य किया है।

सम्पादन प्रक्रिया

वस्तुतः ग्रंथ–सम्पादन की दो स्थितियाँ होती हैं–

1. मूलपाठान्वेषण (वंशवृक्ष एवं भाष्यादि द्वारा)

2.पाठ संस्कार (शुद्धपाठ–निर्धारण)

दूसरे शब्दों में इन्हीं दोनों का समन्वित रूप **पाठालोचन** भी कहा जाता है। पाठ के आलोचन का अर्थ है पाठ का संस्कार, पाठ की शुद्धि। संस्कृत में मूलग्रंथों की टीकाओं–उपटीकाओं ने पाठ संस्कार में विलक्षण भूमिका का निर्वाह किया है। टीकाकारों द्वारा स्वीकृत पाठों से हम मूल पाठ की संभावना

सरलता से कर लेते हैं। यदि किसी टीकाकार ने उससे पृथक पाठ स्वीकार किया है तो उसकी भी समीक्षा का अवसर मिल जाता है कि उसने ऐसा साम्प्रदायिक मतभेद वश किया है अथवा किसी अन्य कारण से। सम्पादन चाहे किसी पाण्डुलिपि का हो अथवा प्रकाशित ग्रन्थ का, यदि वह संस्कृत भाषा का ग्रंथ है तो निम्न विन्दुओं पर हमारा ध्यान जाना चाहिए–

1. ग्रन्थ में मंगलाचरण है या नहीं? प्रत्येक संस्कृत का काव्य अथवा शास्त्रग्रंथ बिना मंगलाचरण के प्रारंभ नहीं होता।

2. यदि ग्रन्थ कोई महाकाव्य है तो वह सर्गबद्ध है या नहीं।। प्रत्येक सर्ग के अन्त में पुष्पिका है या नहीं?

3. ग्रन्थ चाहे पद्यात्मक अथवा गद्यात्मक हो उसमें पंक्तिबद्धता है या नहीं? पंक्तिबद्धता का अर्थ है पाठसामग्री का सीधी पंक्ति में होना।

4. सम्मिलित पदावली (Joint Conformatiion) का पाठन किया गया है या नहीं। संस्कृत–लेखन में सन्धि अनिवार्य होती है। आप समस्त पद को तोड़ कर नहीं लिख सकते। संस्कृत में आप अपना नाम यूँ नहीं बता सकते–अहमस्मि आलोक कुमारः, अहमस्मि प्रियादर्शिनी। यह अशुद्ध होगा। शब्दों की पदसंज्ञा न होने के कारण (सुप्तिङ्न्तंपदम्) यह नियम है–

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।

नित्या समासै वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते।।

5. विराम–चिह्नों का यथावसर प्रयोग है या नहीं। संस्कृत में विरामचिह्न वाचिक होते हैं– अथ, इति, चेत, एव, भवतुनाम, हा हत्र, हल्प, हञ्जे, अयि, भोः, अरे, एवं चेत्, अपि नाम, आस्तां, तावत्, अलम्, इत्यलम्, कच्चित् आदि।

6. अङ्कन् है या नहीं? संस्कृत में अंकाङ्कन भी प्रतीकात्मक एवं वाचिक होता है। इसे आगे स्पष्ट किया जायेगा।

मिला कर लोकोपकार के लिये लिखे जाते थे उन्हें सम्पादित ग्रंथ कहते थे। उदाहरणार्थ–पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, व्यवहारमयूख, वीरमित्रोदय, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यमीमांसा आदि।

सम्पादन का वर्तमान अर्थ– धीरे–धीरे सम्पादन का स्वरूप बदलता चला गया। अब सम्पादित ग्रंथ का अर्थ परमत–संग्रह के साथ अपना ग्रंथ लिखना नहीं रह गया है। प्रत्युत सम्पादन का अर्थ है किसी विद्वान् की मौलिक कृति का ही एक ऐसा हृद्य–अनवद्य संस्करण तैयार करना जो आद्यन्त शुद्ध हो।

प्राचीनकाल में सम्पूर्ण राष्ट्र में प्रतिलिपिकार होते थे जो समुचित शुल्क लेकर ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तैयार करते थे। राजाओं के यहाँ तो वेतनभोगी स्थायी लिपिकार नियुक्त होते थे जो निरन्तर राजा द्वारा निर्दिष्ट ग्रंथ की प्रतिलिपि बनाते रहते थे। गुणग्राही तथा विद्याविलासी नरपतिगण इन प्रतियों का श्रेष्ठ विद्वानों को वितरण करते रहते थे।

इस प्रकार एक ही ग्रंथ की प्रतिलिपि काश्मीर, काशी, उज्जैन, काञ्ची, वलभी, कान्यकुब्ज, त्रिपुरी, अणहिलपट्टन आदि राजधानियों में एक ही साथ उपलब्ध होती थी। इन प्रतिलिपियों में, सावधानी बरतने के बावजूद अनेक त्रुटियाँ, भ्रान्तियाँ शेष रह जाती थीं।

ऐसे किसी ग्रंथ का जब आज कोई सुधी विद्वान् सम्पादन करना चाहता है तो सर्वप्रथम वह उस ग्रंथ की पाण्डुलिपियों का पता लगाता है कि वे संख्या में कितनी हैं और कहाँ–कहाँ उपलब्ध हैं? यह ज्ञान उसे प्राचीन सूचीपत्रों से ज्ञात हो पाता है। वह उन ग्रंथागारों में जाकर, अभीष्ट पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि प्राप्त करता है। तदनन्तर उनका प्रतिपद तुलनात्मक अध्ययन कर शुद्ध पाठ निश्चित करने का प्रयत्न करता है। शुद्ध पाठ निश्चित करना ही ग्रंथ के सम्पादन का प्राणतत्त्व है।

पाण्डुलिपियों (ग्रंथों) के स्त्रोत

पाण्डुलिपियाँ प्राचीन ग्रंथागारों, मठों, मन्दिरों के ग्रंथगारों अथवा विद्याविलासी विद्वानों एवं सेठों के घरों में सुरक्षित रही हैं।

अंग्रेजीराज में इन पाण्डुलिपियों की खोज एवं संग्रह का कार्य, एक आन्दोलन के रूप में प्रारंभ किया गया जिसमें देशी–विदेशी विद्वानों ने एक जुट होकर काम किया। फर्ग्युसन, व्युहलर, पीटर्सन, आफ्रेक्ट, कार्न, राजेन्द्रलाल मित्र, म.प. हरिप्रसाद शास्त्री आदि ने रात–दिन परिश्रम करके इन पाण्डुलिपियों का पता लगाया तथा उन्हें सुरक्षित किया। शासन की ओर से वाराणसी, मद्रास (चेन्नै), मैसूर, कोलकाता तथा अहमदाबाद आदि में राजकीय

पाण्डुलिपि–संग्रहालय स्थापित किये गये तथा इन केन्द्रों में सुरक्षित पाण्डुलिपियों के विवरणात्मक सूची पत्र प्रकाशित किये गये जिनकी परम्परा अभी तक अक्षुण्ण बनी है।

कुछ महत्त्वपूर्ण सूचीपत्र इस प्रकार हैं–

(1) ए क्लासीफाईड इण्डेक्स टू दि संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दि पैलेस ऑफ तंजोर।–ए.सी. वर्नेल, लन्दन, 1880–88

(2) लिस्ट्स ऑफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ ऑफ सदर्न इण्डिया।– गुस्ताव ओपर्ट (दो भाग) मद्रास, 1880, 1884

(3) रिपोर्ट ऑन संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स।– जी. व्युहलर, 1874–75

(4) डिटेल्ड रिपोर्ट ऑफ आपरेशन्स इन सर्च ऑफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दि बाम्बे सरकिल (तीन खण्डों में)–पीटर पीटर्सन, 1882–88

(5) ए कैटालॉग ऑफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी ऑफ एच.एच.दि महाराजा ऑफ बीकानेर।– राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, 1880–88

(6) नोटिसेज़ ऑफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स (नौ खण्डों में प्रकाशित)– राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता। 1871–1890

(7) ए कैटालॉग ऑफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स कण्टेण्ड इन प्राइवेट लाइब्रेरीज ऑफ गुजरात, काठियावाड, कच्छ, सिन्ध ऐण्ड खानदेश

(चार खण्ड)।– जी. व्युहलर के नेतृत्व में सम्पादित, बम्बई (मुम्बई), 1871, 73, 78

(8) ए सप्लीमेण्टरी कैटालॉग ऑफ संस्कृत, पाली ऐण्ड प्राकृत बुक्स इन लाइब्रेरी ऑफ ब्रिटिश म्यूजियम, एक्वायर्ड ड्यूरिंग दि इयर 1892–1906, एल.डी. बार्नेट (दो खण्डों में प्रकाशित), 1908, 1928

(9) ए डिस्क्रिप्टिव कैटालॉग ऑफ दि संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दि तंजोर महाराजा सरफोज़ीज सरस्वती महल लाइब्रेरी (सात भाग)।– पी.पी.एस. शास्त्री, 1930 (श्रीवाणीविलास प्रेस, श्रीरंगम)

(10) ए डिस्क्रिप्टिव कैटालॉग ऑफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दि गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल मैन्यूस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास (28 खण्ड)।–म. म. कुप्पूस्वामी शास्त्री एवं म.म. पी.पी. सुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा सम्पादित, 1938–40

(11) कैटालॉग ऑफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दि गवर्नमेण्ट ओरियेण्टल लाइब्रेरी, मैसूर (672 पृष्ठ), 1955

(12) दि न्यू कैटालॉगस कैटालॉगरम्। –डॉ. वी. राघवन् (मद्रास वि. वि.), 1949

(13) जिनरत्नकोश– डॉ.एच.डी. वेलंकर, 1944, पूना से प्रकाशित।

(14) कैटालॉगस कैटालॉगरम् (तीन खण्डों में प्रकाशित)।– थ्योडोर आफ्रेक्ट, 1891, 1896, 1903

(15) ए कैटालॉग ऑफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स ऐट दि डिपार्टमेण्ट ऑफ हिस्टारिकल ऐण्ड एण्टीक्वेरियन स्टडीज, गौहाटी (आसाम)।– डॉ. पी.सी. चौधरी, 1961

(16) दि कैटालॉग ऑफ दि ट्वण्टियथ सेञ्चुरी वर्क्स।– प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र, इलाहाबाद (प्रयागराज), 2002

अपनी डी.फिल्. शोध अवधि (इलाहाबाद यूनिवर्सिटी 1965–66) में मैंने इन सारे सूचीपत्रों को लाइब्रेरी में पढ़ा था और उनका विवरण एकत्र किया था, जो आज इस ग्रन्थ में प्रकाशित हो रहा है।[1] दुर्भाग्यवश अब सब कुछ नष्ट हो गया है। कुछ भी उपलब्ध नहीं।

अब इधर हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग तथा सरस्वती भवन ग्रंथागार (सम्पूर्णानन्द सं.वि.वि.), वाराणसी तथा अन्यान्य संस्थाओं ने नये सिरे से सूचीपत्रों का प्रकाशन प्रारंभ किया है। इन प्रकाशनों से किसी भी ग्रंथ की पाण्डुलिपि के बारे में सरलता से जाना जा सकता है।

ग्रंथों के सम्पादन में विविध–विषयक विश्वकोश भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। स्वामी चिदानन्द सरस्वती (परमार्थ–निकेतन, ऋषिकेश) के नेतृत्व में प्रकाश्य 18 खण्डों वाला **इनसाइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दू धर्म** तथा प्रो. डी. पी. चट्टोपाध्याय के सम्पादन में 52 खण्डों में पूर्ण होने वाली परियोजना **हिस्ट्री ऑफ साइंस, फिलॉसॉफी ऐण्ड कल्चर इन इण्डियन**

---

[1] दृष्टव्य–कैटलॉग ऑफ दि ट्वण्टियथ सेञ्चुरी संस्कृत वर्क्स–प्रो. राजेन्द्र मिश्र, इलाहाबाद, 2002

सिविलिजेशन इस दृष्टि से विलक्षण सारस्वत संकल्प हैं। इस ग्रंथकार ने दोनों ही परियोजनाओं में मूल्यवान सहयोग प्रदान किया है।

अन्यान्य स्फुट विश्वकोषों ने भी ग्रंथलेखन एवं सम्पादन का काम अत्यन्त सरल बना दिया है क्योंकि अब लेखक या सम्पादक को बहुत भटकना नहीं पड़ता सूचनाओं के लिये। विश्वकोषों में अभीष्ट सूचनायें तत्काल मिल जाती हैं। कुछ प्रमुख विश्वकोश हैं–

आचार्य बच्चूलाल अवस्थी कृत दर्शनकोश, जी.ए. जैकबकृत उपनिषत्कोश, द्वारकाप्रसाद शर्मा चतुर्वेदीकृत चरितकोश, डॉ. रामकुमार रॉयकृत महाभारतकोश, डॉ. नगेन्द्रकृत भारतीय साहित्य कोश, डॉ. राजवंश सहाय हीराकृत भारतीयसाहित्यशास्त्रकोश, केवलानन्द सरस्वतीकृत मीमांसाकोश, डॉ. रॉयकृत राजतरंगिणीकोश, वी.सी. दातारकृत सुश्रुतकोश, एस.वी.वर्णेकरकृत संस्कृतवाङ्मयकोश, डॉ. हीराकृत संस्कृतसाहित्यकोश, डॉ. राजबली पाण्डेकृत हिन्दूधर्मकोश, डॉ. रामस्वरूप कृत सर्वधर्मकोश, प्रो. आद्याप्रसाद मिश्र कृत कालिदासकोश आदि।

सम्पादन–सामग्री की बहुलता तथा संगणकीय सुविधाों ने अब ग्रन्थ–सम्पादन का कार्य अत्यन्त सुकर एवं उत्कृष्ट बना दिया है। प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित **कालिदासग्रन्थावली** इसका उत्कृष्टतम उदाहरण है।

परिणामस्वरूप आज दुर्लभतम टीकाओं के साथ मूलग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं। संगणकीय व्यवस्था में वेबसाइट तथा ई–मेल सुविधा के कारण सम्पूर्ण विश्व का संस्कृत विद्वत्समुदाय एकजुट हो गया है। हृदयसंवाद स्थापित करने

तथा सूचनाओं के आदान–प्रदान में एकक्षण भी नहीं लगता। फलतः ग्रन्थसम्पादन आज अपने भव्यतम रूप में सम्पन्न एवं प्रस्तुत हो रहा है।

सम्पादन के सहायक अंग

सम्पादन–कार्य में व्याख्या अथवा टीका (खण्डान्वय पद्धति/दण्डान्वय पद्धति) पदकृत्य, भाष्य, समीक्षा, फक्किका, क्रोडपत्र आदि का भी प्राचीन काल में अत्यधिक महत्त्व रहा है। आचार्य अभिनवगुप्त, नमिसाधु, जगद्धर, मल्लिनाथ, समुद्रबन्ध, वल्लभदेव, नारायण सरीखे उद्भट टीकाकार मौलिक लेखकों से भी कहीं अधिक प्रामाणिक एवं प्रतिष्ठित माने गये अपनी टीकाओं की अकुण्ठ वैदुषी के कारण। उन्होंने न केवल मूल का अन्तः सौन्दर्य निरूपित किया प्रत्युत समूची समीक्षा–परम्परा को अपनी टीका में जीवन्त बना दिया।

वस्तुतः संस्कृत विद्यापरम्परा में कवि एवं टीकाकार दोनों समवेत व्यक्तित्व हैं। उन्हें पृथक् करके देखा ही नहीं जा सकता।

मेरे विद्वान् मित्र प्रो. रहस विहारी द्विवेदी ने संस्कृत की उस समीक्षा–परम्परा को अपने एक आलेख में सुस्पष्ट किया है जिसे डॉ. गन्धे ने भी उद्धृत किया है अपने शोधालोक में। प्रस्तुत ग्रंथ को अत्यधिक उपादेय बनाने की दृष्टि से प्रो. द्विवेदी का वह आलेख आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. विशिष्ट ग्रन्थ–सम्पादन

आदाय कमपि ग्रन्थं मुद्रितं वा करांकितम् ।

अव्यवस्थितमालोक्य तदुद्धारसमीहया ॥1॥

तस्यानेकाः प्रतीर्लब्ध्वा सर्वाः सम्यङ्निरीक्ष्य च।

तासु सर्वाङ्गशुद्धा या प्रतिः प्रामाणिकी भवेत् ।।2।।

तामेव प्रमुखीकृत्य पाठान्तरपुरस्सरम् ।

पादटिप्पणसंकेतैः प्रकाशार्हा विधीयते।।3।।

आदौ ग्रन्थस्य कर्तुश्च परिचयोप्यत्र दीयते।

एतत्सम्पादनं प्रोक्तं कर्त्ता सम्पादको मतः।।4।।

अर्थात् किसी प्रकाशित अथवा पाण्डुलिपि के रूप में स्थित ग्रन्थ को, यदि वह अव्यवस्थित प्रतीत हो तो उसे, व्यवस्थित रूप में प्रकाशित करने की इच्छा से उसकी अनेक प्रतियाँ यदि उपलब्ध हो सके तो उन्हें प्राप्तकर सभी का सम्यक् रूप से तुलना करते हुए सम्पादन किया जाता है।

विशिष्ट प्रकाश्यकृति

(1) पाण्डुलिपि भी हो सकती है तथा (2) कोई प्रकाशित पुस्तक भी।

यदि वह पाण्डुलिपि है तो उसकी सारी उपलब्ध प्रतियों का पाठालोचन कर शुद्ध पाठ निर्धारण करना होगा तथा उसे प्रकाशन–योग्य घोषित करना होगा।

यदि वह प्रकाशित ग्रन्थ है तथा भिन्न टीकाओं से युक्त है तो उन टीकाओं की व्याख्या के साथ उसे प्रकाशित करना होगा।

इकाई–2

पाण्डुलिपियों के स्त्रोत

वस्तुतः लिखित सामग्री के दो रूप होते हैं, अप्रकाशित तथा प्रकाशित।

अप्रकाशित लिखित सामग्री को ही पाण्डुलिपि कहते हैं। यह प्रस्तर लेख, शवपेटिका लेख, विधिसंहिता सामान्य अभिलेख, राजकोष आदि किसी भी प्रकार हो सकता है। इसी प्रकार **प्रकाशित लिखित सामग्री को ग्रंथ** कहते हैं।

लेखन के सन्दर्भ में हमने सुमेर, बेबिलोन तथा मिस्त्र संस्कृति के साथ-ही-साथ वृहत्तर भारत (जावा) का भी प्रमाण दिया है जिससे **वैश्विक तथा भारतीय लेखनकला परस्पर जुड़ जाती है।** परन्तु सच बात तो यह है कि भारतीय लेखन कला सुमेर–संस्कृति से भी अधिक प्राचीन है– अस्तित्त्व की दृष्टि से इसे जानने के लिए हमें लिपि विज्ञान को भी जानना होगा।

पाण्डुलिपिविज्ञान (Manuscriptology) यद्यपि आधुनिक शैक्षणिक विषयों (Tutorial Disciplines) में गिना जाता है। परन्तु सत्य तो यह है कि भारतवर्ष की प्राचीन प्रचलित विद्याओं में यह एक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित रहा है। लिपिविज्ञान (Scriptology) शिलालेखविज्ञान (Epigraphy) पुरातत्त्व इतिहास एवं संस्कृति (Archealogy, History & Culture), ज्यौतिष (Astrology) साहित्यशास्त्र (Rhetoric or Reotic) पुस्तकालय विज्ञान (Library Science) शासकीय लेखविज्ञान (Diplomatics) तथा राजनीतिविज्ञान (Political Science) आदि पाण्डुलिपिविज्ञान के सहायक

शास्त्र माने जाते हैं। पाण्डुलिपि पुस्तकालयों तथा आधुनिक संग्रहालयों (Museums) को भी पाण्डुलिपि विज्ञान का ही प्रायोगिक अंग माना जाता है। इसी प्रकार, विविध क्षेत्रों से जुड़े प्रमाणपत्रों एवं सनदों के संग्रहालय भी पुराने हो जाने पर पाण्डुलिपियों के ही रूप में व्यवहृत होने लगते हैं।

लिपिविज्ञान एवं अभिलेख विज्ञान दोनों अन्तस्सम्बद्ध हैं। लिपिविज्ञान (Palaeography) में मुख्यतः कागज, चमड़े, पेपीरस तथा मोमपाटी पर लिखी लिपियों का अध्ययन किया जाता है। ये लिपियाँ विविध लिप्याधारों पर किन साधनों (Devices) से लिखी जाती है? वह साधन कूँची (तूलिका) है, अथवा मयूरपंख का शीर्षभाग अथवा शलाका? इन सब सन्दर्भों पर उत्कीर्ण का अध्ययन किया जाता है।

जैसे लिपिविज्ञान एवं अभिलेख अन्तस्सम्बद्ध हैं, ठीक उसी प्रकार पुरातव (Archealogy) तथा इतिहास एवं संस्कृति (History & Culture) भी मिथः सम्बद्ध हैं। साथ-ही-साथ पाण्डुलिपिविज्ञान के सहायक भी।

पाण्डुलिपिविज्ञान का क्षेत्र पुरातत्त्व का अधमर्ण (कर्जदार) होता है। जब प्राचीन ध्वंसावशेषों का उत्खनन (Excavation) होता है तो उसमें अन्यान्य वस्तुओं के साथ शिलालेख भी मिलते हैं। ऐसी मूर्तियाँ अथवा अन्य उपयोगी पदार्थ भी मिलते हैं जिन पर कुछ लिखा रहता है। इन समस्त उत्कीर्ण लेखों को हम पाण्डुलिपि के अन्तर्गत रखते हैं।

पाण्डुलिपि विज्ञान का दायरा अत्यन्त विशाल है। यह धरती के ऊपर विद्यमान प्राचीन प्रस्तरलेखों, शिलालेखों, मूर्तिलेखों, दफनाई गई ममियों (शवों

तथा शवलेखों) लिम्पूसूचियों (राजाओं की वंशावलियाँ, वेविलोन) तथा विधिसंहिताओं के बारे में तो बताता ही है, यह शास्त्र धरती के गर्भ में भी सुरक्षित इन वस्तुओं की व्याख्या करता है। सिन्धुघाटी (भारत), तेल अल अमर्णा (मिस्र), बोगाजकोई (टर्की) तथा ईराक के पुराने शहरों की खुदाई से अपार अध्ययन–सामग्री मिली है। यह सारा अध्ययन पाण्डुलिपिविज्ञान की सीमा में किया गया है।

इसी तरह इतिहास एवं संस्कृति के सहारे हम पाण्डुलिपियों का ऐतिहासिक सूत्र ढूँढते हैं कि यह किस काल–खण्ड में किस नरपति के द्वारा लिखाई गई अथवा किस संस्कृति से इसका सम्बन्ध है? भारत में सिन्धुघाटी के अतिरिक्त भी तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, वलभी, काशी, जगद्दल, ओदन्तपुरी, काञ्ची, नागार्जुनकोण्डा, नवद्वीप, मथुरा तथा श्रावस्ती आदि क्षेत्रों/केन्द्रों में ऐसी समुन्नत संस्कृतियाँ विद्यमान रही हैं जिनमें पाण्डुलिपियों का प्रभूत लेखन हुआ। इतिहास एवं संस्कृति के अध्ययन से हम इन तथ्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

ज्यौतिष (Astrology) के बिना तो पाण्डुलिपि का ज्ञान ही अधूरा रहता है क्योंकि पाण्डुलिपि की पुष्पिका में आये उसके रचनाकाल को हम बिना ज्यौतिषज्ञान के समझ नहीं सकते। तिथि, वार, घटी, करण तथा योग– इन पाँच अंगों से युक्त पञ्चाङ्ग (पत्रा) ही हमारी सहायता करता है पाण्डुलिपियों के ज्यौतिषीय उल्लेखों को समझने के लिये।

साहित्य (Literature) तथा साहित्यशास्त्र (Rhetroric) से भी पाण्डुलिपियों के अनेक तथ्य सुबोध हो जाते हैं। वस्तुतः छन्द (Prosody) भी इसी शास्त्र का अंग है जो वार्णिक एवं मात्रिक–दो प्रकार का होता है। प्रायः प्राचीन पाण्डुलिपियाँ छन्दोबद्ध हैं अतः छन्दःशास्त्र के सहारे इन छन्दों का, सन्दर्भानुसार रसौचित्य समझा जा सकता है। इसी प्रकार शब्दबोध में भी साहित्यशास्त्र सहायक होता है। पाण्डुलिपि में कौन शब्द अभिधा से, कौन लक्षणा या व्यञ्जना शक्ति से अर्थ दे रहा है? यह साहित्यशास्त्र के अध्ययन से ही समझा जा सकता है।

पुस्तकालयविज्ञान (Litrary Science) हमें पाण्डुलिपियों के रख–रखाव तथा उनकी उपयोगविधि के विषय में शिक्षित करता है। शासकीयलेखविज्ञान (Diplomatics) मूलतः लिपिविज्ञान की ही एक अभिन्नशाखा है जो मात्र पट्टों, परवानो, दान–पत्रों एवं शासकीय अभिलेखों से सम्बद्ध है। अतः वह लिपि में ही अन्तर्भूत है।

प्राचीन भारत में न केवल पाण्डुलिपिविज्ञान का अपितु उससे जुड़े उपर्युक्त समस्त शास्त्रों एवं विषयों का भरपूर विकास हुआ। यद्यपि लेखनविधा का प्राचीनतम रूप हम मिस्रदेश के पिरामिडों पर पाते हैं। यूनानी इतिहासकार **बोकह** ने इन्हें ईसापूर्व सातवीं सहस्राब्दी का माना है। इन लेखों में, जो कि तेल **अल–अमर्णा** की खुदाई में उपलब्ध हुए हैं, मिस्र देश के प्राचीन अट्ठारह राजवंशों का ऐतिहासिक विवरण लिखित रूप में मिलता है।

परन्तु इस प्रामाणिक दस्तावेज के बाद भी हम यह नहीं कह सकते कि भारतीय लेखनकला मिस्रवासियों से अर्वाचीन है। महर्षि पाणिनि (ई.पू. 7वीं शती) की अष्टाध्यायी में लेखनकला से जुड़ी सामग्रियों एवं क्रियाओं के वाचक अनेक शब्द विद्यमान हैं। लिख् धातु, टंक् धातु, रच् धातु, रूप धातु, कथ् ब्रू वद् गद् व्याहृ एवं भण् धातु आदि का परिचय हमें पाणिनि के धातुपाठ में मिलता है। ये सारी धातुएँ लेखनकला से ही सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार लेखनी, तूलिका, पट्ट, पीठ, पर्ण, सम्पुट, अक्षर, वर्ण, वाक्य, भाषा, वाङ्मय, साहित्य आदि सैकड़ों संस्कृत शब्द इस तथ्य के प्रमाण हैं कि भारतीयों को लेखनकला का ज्ञान मिस्रवासियों से भी पूर्व हो चुका था क्योंकि विश्व का प्राचीनतमग्रंथ वेद, स्वर्गीय बालगंगाधर तिलक (भारत) एवं हर्मन जैकोबी के अनुसन्धानानुसार प्रायः 6400 ईसापूर्व में ही लिखा जा चुका था।

चिरकाल तक भारतवर्ष में वेदविद्या का संरक्षण मौखिक परम्परा से होते रहने के कारण लेखनकला, सिद्धान्ततः ज्ञात होते हुए भी व्यवहार में, प्रभूत विलम्ब से आई। वह पिरामिडों के लेख जैसी प्राचीन तो नहीं ही है। यदि सिन्धुघाटी के उत्खनन से उपलब्ध लिपियों को अलग कर दिया जाय, तो संभवतः सम्राट् अशोक (ई.पू. चौथी शती) के खरोष्ठी एवं ब्राह्मीलिपि में लिखवाये गये शिलालेख ही भारतीय लेखनकला के प्राचीनतम प्रमाण माने जा सकते हैं।

वेदसंहिताओं की मौखिक अथवा वाचिक परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल में विकसित हो गई थी। मंत्रों की आनुपूर्वी तथा मंत्र में विद्यमान पदों की आनुपूर्वी को यथावत् बनाये रखने के लिये ही **विकृतियों** का आविष्कार हुआ।

पदपाठ के अनन्तर भी घनपाठ, जटापाठ, मालापाठ आदि उपायों (विकृतियों) के सहारे वेदमंत्रों को कण्ठस्थ किया जाता था। ये विकृतियाँ आज भी समूचे भारत में प्रचलित हैं। आज भी ऐसे वेदपाठी विद्वान् हैं भारत में जिन्हें इन्हीं विकृतियों के सहारे सम्पूर्ण वेदसंहिता कण्ठस्थ है। इस परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिये राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली (मानित विश्वविद्यालय), सान्दीपनि वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन, वेद विश्वविद्यालय तिरूपति (आन्ध्रप्रदेश) तथा अन्यान्य स्वायत्तसेवी संस्थायें पूर्णतः प्रत्यत्नशील हैं। वेदविद्या–प्रतिष्ठान, उज्जैन ने अनेक स्वनामधन्य वेदपाठियों का वेदपाठ ध्वनिपट्टिकाओं (कैसेट्स) में सुरक्षित कर रखा है।

वेद–तिथिविषयक पूर्वोक्त प्रमाण के बाद कुछ विद्वानों की यह अवधारणा कि, भारत में लेखनकला फारस से आई महत्त्वहीन प्रतीत होती है।[1]

लिपिशब्द का अर्थ एवं उसका क्रमिक विकास

संस्कृत की लिप् धातु से इ प्रत्यय लगाकर लिपि शब्द निष्पन्न होता है। पाणिनीय धातुपाठ के लिप् धातु का प्रयोग लेपन के अर्थ में निर्दिष्ट किया गया है। लिप्तिः (लिप्+क्तिन्) लेपः (लिप्+घञ्), लेपनम् (लिप्+ल्युट्), लेपकः (लिप्+ण्बुल्), लेप्ता अथवा लेपयिता (लिप्+तृच णिच्) आदि शब्द भी लिप् धातु से ही निष्पन्न होते हैं। दूसरी बात यह कि इसी अर्थ में एक अन्य धातु का भी (लिम्प्+धातु) प्रयोग मिलता है जो साहित्य में कम-से-कम ईसापूर्व चौथी

---

[1] किन्तु लिपि–लेखन अपने आप में एक कला का रूप ले लेता है। फारस में इस कला का विशेष विकास हुआ है। वहाँ से भारत में भी इसका प्रभाव आया, और फारसी लिपि में तो इस कला का चरमोत्कर्ष हुआ। - डॉ. सत्येन्द्र, पाण्डुलिपिविज्ञान (भूमिका)

शती का है। महाकवि भास ने अपने **दरिद्रचारुद्रत्तम्** नाटक में लिम्प् धातु का रमणीय प्रयोग किया है जिसे सातवीं शती ई. में आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में उत्प्रेक्षालंकार के उदाहरण–रूप में उद्धृत किया है। प्रयोग इस प्रकार है–

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाऽञ्जनं नभः।

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलताङ्गता॥

मृच्छकटिक प्रकरण के लेखक शूद्रक (ई. दूसरीशती) ने भी इस श्लोक को दरिद्रचारूदत्तम् से, जैसा का तैसा आहृत कर लिया है।

लिपि शब्द का क्या अर्थ हो सकता है? यह विचारणीय विषय है। धार्मिक कर्मानुष्ठानों में जमीन को गाय के गोबर से लीपने की बात कही गई है जिसे **'गोमयोपलेप'** कहते हैं। इसी प्रकार, किसी गन्दी या पुरानी दीवार को चूने से लेपने या पोतने की बात भी लोक में प्रचलित है जिसे **'सुधालेप'** कहा जाता है। लीपना तथा पोतना–दोनों क्रियाएँ प्रायः समानार्थक हैं इसीलिये दोनों का युग्म–प्रयोग अथवा युगपत्प्रयोग भी मिलता है। जैसे आजकल मकान की 'लिपाई–पोताई' चल रही है। लेपने तथा पोतने से दीवार या भूमि की गन्दगी दब जाती है, उसका मूलरूप अदृश्य हो जाता है तथा एक नया रूप उभर आता है। इसीलिये 'लीपा–पोती' के रूप में इसका व्यङ्ग्यात्मक प्रयोग भी व्यवहार में होने लगा। जब कोई व्यक्ति अवान्तर तर्कों से मूलतथ्य को छिपाने–झुठलाने लगता है तो हम कहते हैं– अब **लीपा–पोती** करने में लगे हैं।

इस प्रकार लिप् धातु का आशय है– अभिप्रायों को वर्णाक्षरों के माध्यम से फैलाना (जमीन अथवा दीवार को गोबर अथवा चूने के रंग में रँगने के समान)। अतः लिपि का तात्पर्य हो सकता है– अभिप्रायों की वर्णात्मक अभिव्यक्ति। अभिप्रायों को जब हम मुख से प्रकट करते हैं तब भी वर्णाक्षरों के द्वारा ही प्रकट करते हैं, परन्तु तब इन वर्णों को लिखने अथवा अंकित करने की आवश्यकता नहीं होती। हम श्रावण प्रत्यक्ष (Audible Perception) से ही काम चला लेते हैं, परन्तु जब इन अभिप्रायों के चाक्षुष प्रत्यक्ष (Visible Perception) का सन्दर्भ आता है तब वर्णाक्षरों के माध्यम से इनका अंकित किया जाना अनिवार्य हो जाता है।

मानवीय–समाज में लिपि की परिकल्पना कब हुई? प्राचीनतम लिपि कौन रही होगी? लिपि के उद्भव एवं विकास का प्रामाणिक इतिवृत्त क्या है? ये सारे प्रश्न संभवतः आज भी सन्देह के घेरे में ही हैं। विद्वानों ने शोधें की हैं, फिर भी हम उसे अन्तिम समाधान नहीं मान सकते। परन्तु जहाँ तक भारत का प्रश्न है, यहाँ तो एक निरक्षर ग्रामीण भी उस लिपि के बारे में अवश्य जानता है जो ब्रह्मा, प्रत्येक मनुष्य के ललाट पर, जन्म से पूर्व ही अंकित कर देता है। उसे ललाटलिपि, ललाटलेख, भाग्यलिपि, भाग्यलेख, अदृष्टलेख के नाम से जाना जाता है।

ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक जीव (मनुष्य) का जीवनभोग स्रष्टा द्वारा उसके मस्तक पर अंकित रहता है। उसका सुख–दुःख, यश–अपयश, लाभ–हानि, जीवन–मरण सब अंकित हो जाता है उसके जन्म से पूर्व ही। यही

भाग्यलिपि 'वैधसी लिपि' भी कही जाती है। इस सन्दर्भ के समर्थन में असंख्य सुभाषित एवं साहित्यिक उदाहरण मिलते हैं।

वही वैधसी लिपि (भाग्यलिपि) भाषिक लिपि की आधार–शिला है। जैसे विधाता मनुष्य के भाग्य को उसके भालपट्ट पर लिपिबद्ध करता है उसी प्रकार मनुष्य को भी, अपने अभिप्रायों की भाषिक अभिव्यक्ति के लिये लिपि की आवश्यकता पड़ी होगी। परन्तु प्रश्न यह है कि लिपि अस्तित्त्व में आई कैसे?

इस सन्दर्भ में दो दृष्टियाँ हैं। एक दृष्टि तो है पाश्चात्य वैज्ञानिक डार्विन के विकासवाद का समर्थन करने वाली और दूसरी है दैवी सिद्धान्त का पोषण करने वाली। डार्विन का विकासवाद मानवसभ्यता को पाषाणयुग, लौहयुग, ताम्रयुग आदि से संक्रान्त हुई मानता है। इसी तरह मानवरूप प्राप्त करने से पूर्व भी वह मनुष्य को वानर, चिम्पाञ्ज़ी, गुरिल्ला–वनमानुष आदि के रूप में स्थित मानता है। परन्तु दैवी सिद्धान्त की स्थापना यह है कि सृष्टि नित्य है। क्योंकि वेदों में भी कहा गया है कि महाविराट ने यह जगत् वैसा ही बनाया जैसा वह महाप्रलय से पूर्व में था– **यथापूर्वमकल्पयत्**।

जब भारतीय आर्षग्रन्थ–रामायण एवं महाभारत में विलक्षण दिव्यास्त्रों की प्रामाणिक चर्चा है, कुबेर (पुष्पक), कर्दम एवं साल्व (सौभ) के अद्भुत विमानों का विस्तृत वर्णन है, ऋग्वेद में सौ पतवारों से चलने वाली नाव का उल्लेख है (शतारित्रां नावम्) देवसेनानायक इन्द्र द्वारा असुरों के सौ लौह–दुर्गों को विनष्ट करने की गाथा वर्णित है– तो हम कैसे मान लें कि हमारा विकास

किसी पाषाणयुग अथवा वानरों से हुआ है? वस्तुतः डार्विन का सिद्धान्त एक मनगढ़न्त गल्प के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

चौथे अध्याय के प्रारंभ में हमने, भारत में लेखन–कला के विकास की प्रामाणिक समीक्षा करते हुए प्रभूत सूचनायें प्रस्तुत की हैं। महर्षि पाणिनि (ई.पू. पाँचवीं–सातवींशती) ने आनुक् प्रत्यय–विधान के सन्दर्भ में 'यवनानी लिपि' का संकेत किया है। महाकवि कालिदास (ई.पू. द्वितीयशती) ने भी उर्वशी, शकुन्तला तथा सेनापति पुष्यमित्र शुंग के पत्रलेखन का सन्दर्भ सविस्तार निरूपित किया है। सम्राट् अशोक (ई.पू. चौथीशती) के शिलालेखों में भी 'लिपिकार' शब्द की चर्चा है।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि ई.पू. सातवीं से दूसरी शती के बीच भारत में लोग लिपि तथा लेखनकला– दोनों से विधिवत् परिचित थे। अतः हमें यह 'सिद्धान्त' मस्तिष्क से निकाल ही देना चाहिये कि लिपि एवं लेखन पाश्चात्य संस्कृति की देन है। ज्ञान के प्रत्येक उन्मेष को भारतेतर संस्कृति का योगदान मानने का एक फैशन चल पड़ा है भारतीय विद्वानों में, विशेषकर उनमें जो संस्कृतभाषा के ज्ञान से शून्य हैं और यह सहज एवं स्वाभाविक भी है। क्योंकि विश्व की किसी भी प्राचीन संस्कृति से प्राचीनतर है भारतीय वैदिक संस्कृति जिसकी सारी उपलब्धियाँ मात्र (वैदिक एवं पाणिनीय) संस्कृत भाषा में सुरक्षित हैं। ऐसी स्थिति में, संस्कृतभाषा के ज्ञान से विरहित लेखक विवश हैं ग्रीक, लैटिन, सामी–हामी संस्कृतियों का 'वर्चस्व' स्वीकार करने के लिये। परन्तु ऐसा करके वे वस्तुतः लेखकीय अपराध तो कर रही हैं, एक सीमा तक राष्ट्र की अवमानना के भी वे दोषी हैं।

पाण्डुलिपिविज्ञान नामक ग्रंथ के यशस्वी लेखक डॉ. सत्येन्द्र ने प्राचीन भारतीय लिपिलेखों को पढ़ने के सन्दर्भ में किये गये पाश्चात्य विद्वानों के सारस्वत–श्रम का सांगोपांग विवरण दिया है।[1] सर्वप्रथम 1785 ई. में चार्ल्स विल्किंस ने, जिन्होंने लार्ड वारेन हेंस्टिग्ज की प्रेरणा से सर्वप्रथम श्रीमद्भगवद्गीता का अंग्रेजी अनुवाद किया था, दीनाजपुर जिले में उपलब्ध तथा बंगनरेश राजा नारायणलाल के समय में उत्कीर्ण एक स्तम्भलेख को पढ़ा था। तभी से प्राचीन लिपिलेखों के पढ़ने एवं प्रकाशित करने की परम्परा चल पड़ी। अगले चरण में श्री राधाकान्त शर्मा (1785), जे.एच. हेटिंग्टन (1785), कर्नल जेम्सटॉड (1818–1823 तक), बी.जी. वेविंग्टन (1828), कैप्टन ट्रॉयर (1834 प्रयाग की समुद्रगुप्त–प्रशस्ति), डॉ. मिले (1837, प्रयाग–प्रशस्ति एवं स्कन्दगुप्त का भीतरी स्तम्भलेख), डब्ल्यू. एम. बॉथ (1834, वलभी के अनेक दानपत्र), जेम्स प्रिंसेप (1837–38, एरन, अमरावती, गिरनार के स्तम्भलेख तथा द्वारलेख) ने प्राचीन लिपिलेखों को पढ़ने का उपक्रम आगे बढ़ाया।

उपर्युक्त विद्वानों ने जिन लेखों को पढ़ा उनके सन्दर्भ में तीन विन्दु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं–

(1) लिपिलेखों की उपलब्धि का क्षेत्र क्या था?

---

[1] सविस्तार दृष्टव्य- पाण्डुलिपिविज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, द्वितीय संस्करण 1989, पृ.183-189
जेम्स प्रिंसेप के अनन्तर जिन स्वनामधन्य पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों ने इस दिशा में स्मरणीय योगदान दिया उनके उनके नाम हैं– जेम्स फर्ग्युसन, मार्खम किट्टो, एडवर्ड टॉमस, अलेक्जेण्डर कनिंघम, वाल्टर इलियट, मेडोज टेलर, स्टीवेन्सन, डॉ. भाऊदाजी, भगवान लाल इन्द्रजी, राजेन्द्र लाल मित्र।

(2) लिपिलेखों का आधार क्या था?

(3) लिपियों का स्वरूप क्या था?

जहाँ तक क्षेत्र का प्रश्न है, ये लिपिलेख पश्चिम में अफगानिस्तान, उत्तर में नेपाल, पूर्व में बंगाल तथा दक्षिण में केरल तक व्याप्त थे। यदि सम्राट् खारवेल की खण्डगिरि–उदयगिरि में उपलब्ध हाथीगुम्फा प्रशस्ति उड़ीसा में मिली तो अनेक भारतीय ग्रीक मुद्रायें अफगानिस्तान में मिली हैं।

लिपिलेखों का आधार भी विविध प्रकार का है। ये लेख स्तम्भों, दरवाजों, मुद्राओं अथवा स्वतंत्र प्रस्तरशिलाओं पर लिखे गये हैं।

इकाई–2 (ख)

लिपियों का स्वरूप

लिपियों का स्वरूप भी परस्पर भिन्न हैं जिसके आधार पर इन्हें पृथक् नामों से बोधित किया जाता है– ब्राह्मीलिपि, खरोष्ठी लिपि, देवनागरी लिपि। इन प्राचीन लिपियों के अतिरिक्त नेपाल की नेवारी लिपि, काश्मीर की शारदालिपि, दक्षिणभारत की पल्लव तथा ग्रन्थ लिपि भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राचीनता की दृष्टि से प्रथम तीन लिपियों का महत्त्व सर्वाधिक है, अतएव इनका अपेक्षित परिचय दिया जा रहा है।

(क) ब्राह्मीलिपि– सम्राट् अशोक के शिलालेखों तथा जोगीमारा गुफाओं में जिस लिपि का प्रयोग किया गया है उसे ब्राह्मी कहते हैं। वस्तुतः इसी को समस्त उत्तरवर्ती (परिष्कृत) लिपियों की जननी माना जाता है। इस लिपि का सर्वप्रथम परिचय विद्वानों को 1795 ई. में मिला। परन्तु ग्रीक तथा रोमन अक्षरों के साथ इसके आंशिक साम्य के कारण, इसके पृथक् अस्तित्त्व पर शोधकर्त्ताओं का सन्देह बना रहा। सर चार्ल्स मैलेट ने 1795 ई. में ही ऐलोरा गुफाओं के ब्राह्मीलिपिलेखों को पढ़वाने का भरपूर प्रयत्न किया। इस सन्दर्भ में अनेक प्रवञ्चनात्मक घटनायें भी घटीं, परन्तु 1833 ई. में अन्ततः प्रिंसेप महोदय के प्राणपणात्मक प्रयत्न के बाद 'ब्राह्मीलिपि' के स्वरूप का यथार्थ बोध विद्वानों को हो पाया।

ब्राह्मीलिपि, देवनागरी तथा रोमन की ही तरह बायें से दायें लिखी जाती है। व्युहलर महोदय ने ब्राह्मी को दायें से बायें लिखे जाने का मत प्रतिपादित

किया था। उनका यह मत सम्राट् अशोक के एक लिपिलेख (येरगुडी, मद्रास) पर आधारित था। इसी प्रकार कनिंघम महोदय ने भी जबलपुर (म.प्र.) के एक सिक्के में ब्राह्मी को दायें से बायें लिखी सिद्ध किया है।

परन्तु ये दृष्टान्त क्वाचित्क तथा आकस्मिक ही माने गये हैं। सच यही है कि ब्राह्मीलिपि बायें से दायें ही लिखी जाती है जैसा कि जोगीमारा गुफा की गाथा में सुस्पष्ट है, जो इस प्रकार है–

आदिपयन्ति हृदयं सभावगरुका कवयो एतितियं।

दुले वसन्तिया हि सावानुभूए कुन्दस्ततं एवमालंगति॥

अशोककालीन ब्राह्मीलिपि की वर्णमाला इस प्रकार है–

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ अं

क ख ग घ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व श ष स ह

(ख) **खरोष्ठी लिपि**[1]– खरोष्ठी लिपि का प्रचलन भी ई.पू. तीसरी–चौथी शती में भारत के पश्चिमोत्तरभाग में था। सम्राट् अशोक के शहबाजगढ़ तथा मानसेहरा अभिलेखों में तथा अनेक शकक्षत्रपों तथा कुषाणवंशी नरपतियों की मुद्राओं में खरोष्ठी लिपि में ही लेख अंकित हैं। इसी प्रकार पार्थियन, वैक्ट्रियन, ग्रीक राजाओं की मुद्राओं तथा अनेक बौद्ध लेखों में भी खरोष्ठी का प्रयोग है।

खरोष्ठी लिपि के सन्दर्भ में अत्यन्त विस्तृत एवं प्रामाणिक विवरण डॉ. सत्येन्द्र ने पाण्डुलिपिविज्ञान में एकत्र किया है। इस विवरण में उन सारी कठिनाइयों का रोचक उल्लेख भी है जो खरोष्ठी लिपि के प्रत्यभिज्ञान में उत्पन्न हुई थीं। कर्नल टॉड ने वैक्ट्रियन् ग्रीक शक कुषाण तथा पार्थियन शासकों की मुद्राओं का वृहत् संग्रह एकत्र किया था जिनमें एक ओर ग्रीक लिपि में तथा दूसरी ओर खरोष्ठी में लेख उत्कीर्ण थे। ग्रीक अक्षरों की पहचान तो सरलता से हो गई। परन्तु खरोष्ठी लिपि के बारे में कठिनाइयाँ बनी रहीं। कर्नल टॉड ने 1824 ई. में सम्राट् कैडफिशस् के सिक्कों पर खुदे इन खरोष्ठी अक्षरों को 'ससेनियन्' अक्षर बताया। इसी प्रकार प्रिंसेप महोदय ने भी सन् 1833 में सम्राट् अपोलोडोटस् के सिक्कों पर उत्कीर्ण इन्हीं खरोष्ठी अक्षरों को 'पहलवी' अक्षर स्वीकार किया।सन् 1830 में जनरल वेंटुराँ ने मानिकिआल स्तूप का उत्खनन कराया तो उसमें भी खरोष्ठी–अंकित प्रभूत मात्रा में सिक्के तथा दो स्वतंत्र लेख प्राप्त हुए। अलेक्जेण्डर कनिंघम तथा बन्स आदि विद्वानों को भी

---

[1] खरोष्ठ विशुद्ध संस्कृत शब्द है। अतः कुछ विद्वानों के मतानुसार गधे के होंठ की तरह टेढ़ी–मेढ़ी होने के ही कारण इस लिपि को खरोष्ठी नाम दिया गया। इस नाम से इस लिपि का भारतीय होना सिद्ध है।

ऐसे अनेक सिक्के मिले जिनमें एक ओर तो सुवाच्य ग्रीकाक्षर थे, परन्तु दूसरी ओर एक अपरिचित लिपि थी।

इस प्रकार, चिरकाल तथा खरोष्ठी की पहचान को लेकर विद्वज्जगत् में शंका–सन्देह का वातावरण बना ही रहा। खरोष्ठी को पहचानने का प्रयत्न चलता ही रहा। अन्ततः 1838 ई. में प्रिंसेप, कनिंघम एवं नॉटिस के समवेत प्रयत्न से खरोष्ठी के समस्त वर्णों की पहचान हो गई और इस लिपि के विषय में निम्नलिखित सर्वसम्मत निर्णय सामने आये–

(1) खरोष्ठी आर्येत्तर परिवार की लिपि है। वस्तुतः यह सेमेटिक परिवार से सम्बद्ध आर्मेइक लिपि की उपज है।

(2) यह लिपि फारसी की तरह, दायें से बायें लिखी जाती है।

(3) भारत में उपलब्ध खरोष्ठी के लिपिलेखों में प्रयुक्त भाषा, ब्राह्मी की ही तरह प्राकृत भाषा है, पहलवी नहीं। वस्तुतः खरोष्ठी लिपि में लिखे लेख पाली भाषा के हैं। यह निश्चय प्रिंसेप महोदय ने तब किया जब 1838 ई. में उन्हें कुछ बैक्ट्रियन–ग्रीक सिक्कों पर पाली का लेख मिला। इसी के साम्य पर उन्होंने यह निश्चय किया कि ग्रीक तथा खरोष्ठी–उभयलिपि–मण्डित सिक्कों में भी खरोष्ठी के लेख पाली के ही होंगे। उनकी यह धारणा एकदम सही निकली।

खरोष्ठी लिपि की वर्णमाला का स्वरूप इस प्रकार है–

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ अं

क ख ग घ च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण त थ द ध

न प फ ब भ म य र

ल व श ष स ह

(ग) देवनागरी लिपि– देवनागरी अथवा नागरी लिपि वही है जो वर्तमान संस्कृत भाषा में तथा अन्यान्य भारतीय प्रान्तीय भाषाओं (मराठी, गुजराती आदि) में उपलब्ध एवं प्रयुक्त हो रही है। डॉ. सत्येन्द्र ने विकास की दृष्टि से देवनागरी लिपि की भी तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है–

(1) गुप्तलिपि (गुप्तकाल, ई.पू. 500 से 350 ई. तक)।

(2) कुटिल लिपि (छठीं से दसवीं शती ई. तक)।

(3) देवनागरी (दसवीं शती ई. के अनन्तर)।

सम्राट् अशोक के अधिकांश मैदानी लिपिलेख गुप्त लिपि में ही लिखे गये हैं। वस्तुतः देवनागरी लिपि की उपर्युक्त तीनों स्थितियाँ उसकी सुडौलता को लेकर कल्पित की गई हैं। वर्तमान देवनागरी में कुल 42 वर्ण हैं–

अ (आ) इ (ई) उ (ऊ) ए ऐ ओ औ (अं अः) ऋ (ॠ) ऌ	**नौ स्वर**
क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म	**25 स्पर्श व्यंजन**

य र ल व श ष स ह (क्ष त्र ज्ञ)	**अन्तःस्थ एवं ऊष्म व्यंजन**

भारतवर्ष की इन तीन प्रमुख लिपियों के अतिरिक्त अन्य प्रचलित लिपियाँ (नेवारी, ग्रन्थ, शारदा, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम, तमिल, गुरुमुखी, बंगाली, असमी, उड़िया आदि) परवर्ती कालखण्ड की हैं। इनमें से अधिकांश भाषादृष्टया संस्कृत से तथा लिपिदृष्टया देवनागरी से प्रभावित हैं। बौद्ध ग्रंथ ललितविस्तर में जिन चौसठ लिपियों का उल्लेख मिलता है उनमें प्रथम एवं द्वितीय अर्थात् ब्राह्मी और खरोष्ठी तो वही हैं, जिनका ऊपर परिचय दिया गया है। **मनुष्यलिपि** अथवा **देवलिपि** को देवनागरी माना जा सकता है। द्राविड़, कनारी, बंग, दक्षिण, को हम तमिल, कन्नड़, बँगला तथा मलयालम से समीकृत कर सकते हैं। दरदलिपि काश्मीर भाषा की हो सकती है। नाग, यक्ष, गन्धर्व, देव, किन्नर, महोरग, असुर, गरुड तथा मृगलिपियाँ क्रमशः तत्तत् देवयोनियों एवं पक्षियों (गरुड) एवं पशुओं की मानी जा सकती हैं। चीन तथा हूण लिपियाँ चीनी तथा हूण भाषा की हो सकती हैं। इस समवाय में परिगणित अन्य अनेक लिपियँ या तो कल्पना मात्र हैं (जैसे चक्रलिपि, वायुमरूलिपि, भौमदेव लिपि, अन्तरिक्षदेवलिपि, उत्तरकुरुद्वीप लिपि, अपरगौडादि लिपि आदि) या फिर लिपि न होकर मात्र लेखन–विधियाँ हैं। जैसे–निक्षेप लिपि, विक्षेप लिपि, प्रक्षेप लिपि, अध्याहारिणी लिपि, विमिश्रित लिपि आदि।

लिपियाँ, विश्व के किसी भी भाग अथवा राष्ट्र की हों, लेखन की दृष्टि से तीन ही प्रकार की पाई गई हैं–

(1) **बायें से दायें–** देवनागरी, रोमन आदि।

(2) **दायें से बायें** – अरबी, फारसी, उर्दू तथा अन्यान्य सामी भाषायें।

(3) **ऊपर से नीचे**–चीनी भाषा।

अधिकांश विद्वानों का मन्तव्य है कि लिपियों का निर्माण अत्यन्त लम्बी प्रक्रिया के अनन्तर ही सम्भव हो सका होगा। डार्विन के विकासवाद का दम भरने वाले लोग, जो प्रत्येक विकास का आरम्भ शून्य से स्वीकारते हैं, उनकी यही सोच है कि असभ्य वनमानव ने पहले संकेतों तथा चेष्टाओं के काम चलाया होगा। अगले चरण में उसने चित्रों के माध्यम से अपना भाव व्यक्त करना सीखा होगा और अन्ततः इन्हीं चित्रों से लिपि का उद्भव हुआ होगा। इस प्रकार की चित्रात्मक भाषा के सजीव प्रमाण हमें इन्का जाति की संस्कृति (मेक्सिको) तथा भारत में समान रूप से मिलते हैं।

विक्रम विश्वविद्यालय के इतिहास–प्रोफेसर डॉ. वाकणकर ने, जिन्हें प्राचीन द्वारका के अवशेषों को प्रकाश में लाने का श्रेय प्राप्त है, होशंगाबाद के पास गहन अरण्यों में 'भीमवेटका' के गुहाचित्रों की खोज की थी, जिन्हें देखने का सुयोग इस लेखक को भी प्राप्त हुआ है। यह स्थान पाण्डवों के अज्ञातवास का स्थल माना जाता है। भीमवेटका यानी भीम का बैठका (भीम की विश्रामस्थली)। यहाँ पर्वतशिलाओं को प्रकृति ने एक–दूसरे से इस प्रकार सम्पृक्त

किया है कि उनके भीतर एक प्राकृतिक, हवादार कक्ष बन गया है। इस कक्ष की दीवारों पर अनेक चित्र उत्कीर्ण हैं। कुछ ज्ञात तथा कुछ काल्पनिक। यह कहना कठिन है कि ये चित्र चित्रमात्र हैं अथवा चित्रों के माध्यम से उत्कीर्ण कोई रहस्यमयी भाषा है। यदि यह भाषा है तो निश्चय ही इसे चित्र–लिपि माना जा सकता है।

मानवजाति आज ज्ञान–विज्ञान तथा यान्त्रिक अभ्युन्नति के शिखर पर है। विज्ञान ने आज मनुष्य को चन्द्र–धरातल पर भेजने का स्वप्न पूर्ण कर लिया है। अनेक समर्थ उपग्रह मंगल एवं वृहस्पति जैसे ग्रहपिण्डों के भी रहस्यों को या तो जान गये हैं या फिर जानने में लगे हैं। तथापि मनुष्य को भविष्य के गर्भ में विलीन उन रहस्यों को जानने में सफलता नहीं ही मिल पाई है जो भारतीय साधकों को मात्र अपने अतीन्द्रिय ज्ञान (Transcendental Knowledge) अध्यात्म विद्या एवं तपश्चर्या से प्राप्त हुआ था। पाश्चात्य विद्वानों के पास आज भी, भारतीयों की इस उपलब्धि की कोई विवेकसम्मत व्याख्या नहीं है कि – गंगा और तमसा के संगम पर (मेजा तहसील) इलाहाबाद, उ0प्र0 बैठ कर रामायण की रचना करने वाले महर्षि वाल्मीकि को बृहत्तर भारत के द्वीपों की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान कैसे हुआ? उल्लेखनीय है कि वाल्मीकि रामायण का यह सन्दर्भ इतना प्रामाणिक, सटीक एवं विश्वसनीय है कि आश्चर्य होता है।

(घ) शारदालिपि– शारदालिपि मूलतः काश्मीर–क्षेत्र में प्रचलित लिपि थी। प्रत्येक लिपि के नामकरण की पृष्ठभूमि में कुछ–न–कुछ रहस्य विद्यमान है। खरोष्ठी के सन्दर्भ में हमने यह देखा है कि खर (गर्दभ) के ओष्ठ

की तरह टेढ़ी–मेढ़ी (विरूप) होने के कारण ही संभवतः उसे खरोष्ठी कहा गया। बौद्धग्रंथ ललितविस्तर में देवलिपि का उल्लेख मिलता है। यह नामकरण सिद्ध करता है कि यह लिपि दोनों को प्रिय रही होगी। संभवतः इसी को कालान्तर में देवनागरी भी कहा गया। इसी प्रकार 'ब्राह्मी' नामकरण, उस लिपि की विशेषता को प्रकट करती है कि वह ब्रह्म अर्थात् विद्वज्जनों को प्रिय रही होगी।

अनेक लिपियों का नामकरण उनके प्रयोग–क्षेत्र अथवा उद्भव–क्षेत्र पर आधारित रहा है जैसे नेवारी लिपि का अर्थ है नेवार (नेपाल) की लिपि। सिन्धुलिपि का अर्थ है सिन्धु क्षेत्र की लिपि। पल्लवलिपि का अर्थ है पल्लव साम्राज्य (काञ्ची क्षेत्र) क्षेत्र की लिपि।

शारदालिपि का नामकरण भी इसके प्रयोग क्षेत्र अथवा उद्भव क्षेत्र पर आधारित है। पौराणिक वाङ्मय तथा प्राचीन साहित्यिक ग्रंथों में काश्मीर को शारदादेश कहा गया है। महाकवि विल्हण (11वीं शती ई.) जो स्वयं काश्मीर के निवासी थे, ने अपने महाकाव्य विक्रमाङ्क देवचरित (प्रथम सर्ग) में इस तथ्य का उल्लेख किया है–

सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।

न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मयाप्ररोहः॥ विक्रमा. 1.21

यही शारदादेश काश्मीर भी कहा गया है। वस्तुतः शारदा देश कहने का रहस्य यह है कि काश्मीर में भगवती सरस्वती (शारदापीठ) की प्रतिष्ठा

सर्वोपरि थी। सम्पूर्ण विद्वान् कवि तथा पण्डित शारदा पीठ आया करते थे अपने ग्रथों की गुणवत्ता-परीक्षा के लिये। आज भी यह शारदापीठ अत्यन्त जीर्ण–शीर्ण तथा हतभाग्य (श्रीहीन) स्थिति में पाकअधिकृत काश्मीर के मुजफ्फराबाद जनपद में विद्यमान है।

इसी शारदादेश की लिपि होने के कारण उस लिपि को शारदालिपि कहा गया। ललितविस्तर में जिस दरदलिपि का उल्लेख है संभवतः वह भी शारदालिपि ही हो। आज इस लिपि के दो भिन्न रूप मिलते हैं–

(1) जम्मू–काश्मीर क्षेत्र की शारदालिपि।

(2) गिल्गित क्षेत्र की शारदालिपि।

शारदालिपि का स्वरूप क्या है? अब इस तथ्य पर प्रकाश डाला जा रहा है। शारदालिपि में कुल 12 स्वर तथा 33 व्यञ्जन हैं, जिनका स्वरूप इस प्रकार है–

देवनागरी– अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः

शारदा– अ अु ड ठै उ ऊ अं –

देवनागरी–क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण त थ द ध न

शारदा देवनागरी – प फ ब भ म, य र ल व श ष स ह ऋ

वर्तमान जम्मू–कश्मीर क्षेत्र की अधिकांश प्राचीन पाण्डुलिपियाँ शारदालिपि में ही लिखी प्राप्त होती हैं। शिमला (हि.प्र.) के पार्श्ववर्ती उपनगर

मशोवरा में निवास करने वाले संस्कृत के अनन्य सेवक तथा विद्वन्मूर्धन्य राष्ट्रपति सम्मानित आचार्य दिवाकर दत्त शर्मा के व्यक्तिगत संग्रह में शारदालिपि–मण्डित अत्यन्त मूल्यवान् ग्रंथ सुरक्षित हैं। आचार्य श्री ने मुझे स्वयं गिल्गित क्षेत्र की शारदालिपि में लिखी शालिहोत्र–विषयक एक पाण्डुलिपि देखने को दी जो पूर्णतः सुरक्षित थी।

(ङ) सिन्धु सभ्यता लिपि– विज्ञान के दर्प की अकिञ्चित्करता का ही एक जीता–जागता निदर्शन है सिन्धुसभ्यता का लिपि–विषयक अज्ञान। सारा विश्व आज संगणकीय शक्तिमत्ता का दम भरता है फिर भी सिन्धुघाटी की सभ्यता (मोहञ्जोदड़ो, हडप्पा तथा अन्यान्य स्थल) में प्रयुक्त लिपिलेख को अभी भी कोई पाश्चात्य अथवा पौरस्त्य विद्वान् यथार्थतः पढ़ नहीं सका है। हाँ यह अवश्य हुआ है कि पाश्चात्य विद्वानों ने सिन्धुसभ्यता को आर्येत्तर अथवा द्रविड सभ्यता मान कर समूचे भारत को भावनात्मक स्तर पर खण्डित एवं विभक्त करने का दुश्चक्र अवश्य चलाया। परन्तु अधिकांश विद्वानों ने इस नस्लवादी विद्वेषात्मक दृष्टिकोण का घोर विरोध किया है।

डॉ.सत्येन्द्र ने इस सन्दर्भ में डॉ.नीलकण्ठ शास्त्री (भारतीय) ए.एल.बाशम (पाश्चात्य) के मतों को उद्धृत किया है। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ.नीलकण्ठ शास्त्री लिखते हैं–आर्य तथा द्रविड का जाति सूचक पद के रूप में प्रयोग, नृवंशशास्त्र के प्रज्ञावान् छात्रों के लिये सर्वथा अज्ञात है (आर्यों एवं द्रविडो के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध)।

ए.एल.बाशम लिखते हैं– न तो कोई द्रविड जाति है और न ही आर्य (बुलेटिन ऑफ दि इन्स्टीयूट ऑफ हिस्टॉरिकल रिसर्च), 1963 मद्रास, भाग–2।

वस्तुतः सिन्धुघाटी की सभ्यता को द्रविड सभ्यता घोषित करने वाले तथा आर्यों को भी मध्येशिया से अक्रान्ता के रूप में भारत में आने वाला, बताने वाले सारे विद्वान् विदेशी ही हैं, भारतीय एक भी नहीं। जबकि इस निराधार अवधारणा का कोई औचित्य नहीं है। इस सन्दर्भ में महान् इतिहासविद् डॉ.राजबली पाण्डे का मन्तव्य निश्चय ही अभिनन्दनीय है जिसे विस्तारपूर्वक प्रो.सत्येन्द्र जी ने समीक्षित किया है।[1]

प्रो. सत्येन्द्र, सिन्धुलिपि के विषय में तीन प्रमुख विकल्प प्रस्तुत करते हैं जो मननयोग्य हैं। वे इस प्रकार हैं –

(1) पहला, पृष्ठभूमि, इतिहास, परम्परा आदि की दृष्टि से एक ओर यह माना गया कि यह आर्यों के भारत में आने से पूर्व की संस्कृति की लिपि है। आर्य–पूर्व भारत में द्रविड थे, अतः यह द्रविड–सम लिपि है और द्रविड–सम भाषा की प्रतीक है।

(2) दूसरा विकल्प यह रहा कि आर्यों से पूर्व या 4000 ई.पू. यहाँ सुमेर लोग निवास करते थे और यह उन्हीं की लिपि है।

(3) तीसरा विकल्प यह कि इस क्षेत्र के निवासी आर्य या उन्हीं की एक शाखा के 'असुर' थे। यह उन्हीं की भाषा और लिपि है।

---

[1] सविस्तार द्रष्टव्य- पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ.-195

सिन्धुलिपि–विषयक डॉ. सत्येन्द्र के ये विकल्प अनेक विद्वानों की शोधपूर्ण खोजों तथा उनके निष्कर्षों पर आधारित हैं जिनका विस्तृत व्याख्यान स्वयं उन्होंने ही किया है। जी0आर0 हंटर महोदय (द स्क्रिप्ट ऑफ हडप्पा एण्ड मोहञ्जोदड़ो एण्ड इट्स कनेक्शन विद अदर स्क्रिप्ट्स) का समुद्धृत मत इस प्रकार है –

''इससे कोई भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि यह मान्यता बलवती ठहरती है कि हमारी लिपि, कुछ तो मिस्त्र से ली गई है और कुछ मेसोपोटामिया से। किंबहुना, एक अच्छे अनुपात में ऐसे चिह्न भी हैं जो तीनों में समान हैं जैसे– वृक्ष, मछली, चिड़िया आदि के चिन्ह। किन्तु ऐसा होना सम–आकस्मिक (Concidental) है, और अनिवार्य भी है क्योंकि लिपि की प्रवृत्ति चित्रात्मक है।''

हण्टर महोदय यह संभावना भी प्रस्तुत करते हैं कि संभव है मिस्त्री, प्रोटोएलामाइट तथा सिन्धुघाटी इन तीनों ही लिपियों की जनक या मूल कोई चौथी भाषा–लिपि रही हो, जो इनसे भी पूर्ववर्ती हो।

श्री कृष्णराव तथा डॉ. फतेह सिंह, उन भारतीय विद्वानों में शीर्षस्थ हैं जिन्होंने सिन्धुलिपि के सन्दर्भ में अथक परिश्रम किया है। इन दोनों का मंतव्य है कि सिन्धुलिपि ब्राह्मीलिपि का पूर्वरूप है तथा इसकी भाषा भी प्राग्वैदिक संस्कृत ही है।

डॉ. राजबली पाण्डे का निष्कर्ष यह है कि निश्चय ही सिन्धुघाटी की लिपि का जन्म भारत में ही हुआ और यहीं से वह सुमेर एवं मिस्त्र की ओर गई। वहाँ इस लिपि का प्रभूत विकास हुआ।

डॉ. हाल, डॉ. ए.एल्. बाशम, बाशम तथा बेदैल, साइन, इलियट स्मिथ तथा राजबली पाण्डे ने स्पष्टतः बताया कि सुमेरियन लोग इण्डो आर्य थे। ये बलूचिस्तान, फारस होते हुए मेसोपोटामिया पहुँचे थे। डॉ. हाल ने स्पष्टतः कहा कि सुमेर संस्कृति तमिलों की है जो समुद्र के रास्ते, फारस की खाड़ी होते हुए दजला और फरात की अन्तर्वेदी तक आये थे। सिन्धु, सुमेर, वेविलोन, असुर मिस्त्र, हित्ती तथा मितानी संस्कृतियों की एकमूलकता के कुछ और कारण हैं –

1. इन सारी संस्कृतियों के देवता वही हैं जो ऋग्वेद में हैं।

2. ऋग्वेद में प्रधानता इन्द्र की है जो देवसेनानायक हैं। सुमेर का सर्वश्रेष्ठ देवता **एनलिल** तथा वेविलोन का **मर्दुक** भी मूलतः इन्द्र ही है।

3. इन सारी संस्कृतियों में महाप्रत्यय का वर्णन समान है।

डॉ. पाण्डे यह भी मानते हैं कि या तो आर्य लोग (स्वयम्) अथवा उनके 'असुर' नाम के बन्धुओं ने सिन्धुलिपि का निर्माण किया। वे ही उसे पश्चिम एशिया तथा मिस्त्र में ले गये (इण्डियन पेलियोग्राफी पृ. 34)।

वस्तुतः मिस्त्र की चित्रलिपि, सुमेरलिपि का भारतीय ब्राह्मीलिपि के साथ प्रभूत साम्य है। इससे यह कल्पना की गई कि मिस्त्र एवं सुमेर लिपियों ने ब्राह्मी

से शब्दों एवं वर्णों को उधार लिया। यह पारस्परिक आदान–प्रदान अथवा अधमर्णता–उत्तमर्णता असंभव नहीं है क्योंकि ऐतिहासिक परम्पराओं से भी इसका समर्थन होता है। **मास्पियर** तथा **स्मिथ** ने कहा है कि मिस्त्र सभ्यता के निर्माता पश्चिमी एशिया से ही मिस्त्र को गये थे। **हेरोडोटस** ने लिखा है कि फोनेशियन लोग समुद्रयात्रा–दक्ष तथा स्वसंस्कृति–प्रसारक लोग थे। वे त्यर में उपनिवेश बना कर रहते थे जो पश्चिमी एशिया का विशाल बन्दरगाह था। सी.एल.वाली ने लिखा है कि स्वयं सुमेरियन लोग भी, समुद्र के रास्ते बाहर से आकर, सुमेरिया में बसे थे (दि सुमेरियन्स, पृ. 189)।

पार्जिटर महोदय ने भी लिखा है, भारतीय पुराणों तथा महाकाव्यों में दी गई प्राचीन ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुसार आर्य जातियाँ उत्तर–पश्चिम भारत से उत्तर तथा पश्चिम की ओर गई थी।

डॉ.एम्. शेषन् ने भी अपने एक आलेख[1] में तथा अपने स्वतंत्र ग्रंथ में यह आस्था व्यक्त की है कि तमिल के लोग सुमेर से ही आये थे। दोनो वर्गों के नामों में प्रभूत साम्य है।

मैं प्रो. शेषन के मत में इतना ही संशोधन करना चाहता हूँ कि सुमेरियन तमिलनाडु नहीं आये प्रत्युक्त तमिल लोग ही प्राचीन काल में (संभवतः महाभारत युद्ध की विभीषिका में) सुरक्षा हेतु सुमेर तथा अक्काद गए और तभी से (ई.पू. चौथी सहस्त्राब्दी) ही दोनों देशों गमनाऽगमन बना रहा। द्रविड संस्कृति तथा भाषा की पृथक्कता का भी यही मूलकारण है।

---

[1] द्रष्टव्य : पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ.-196

इकाई–3

सम्पादन एवं लेखन के सहायक अंगः विशिष्ट ग्रन्थ सम्पादन

जब आप कोई ग्रंथ लिखने अथवा सम्पादित करने में प्रवृत्त होते हैं तो आपको लेखनधर्म का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। यह लेखनधर्म हमें तद्विषय–प्रतिपादक ग्रन्थों एवं परम्परा से प्राप्त हो जाता है। जैसा कि प्रारंभ में बताया गया है, भारतीय शिक्षाप्रेमी नरपतियों के राजकुलों एवं ऋषियों–महर्षियों के गुरुकुलों में ग्रन्थलेखनार्थ सम्यक् प्रबन्ध होता था। स्याही बनाना, लेखनी बनाना, ग्रंथ निर्माण करना नित्य का कार्य था। चक्रवर्ती शास्तागण निरन्तर प्रशस्तियाँ, शिलालेख, दानपत्र, राजाज्ञा तथा पत्रादि का लेखन कराते थे। लेखनधर्म का पालन न करने से ग्रंथ में दोष पैदा हो जाते थे। वे लेखनधर्म इस प्रकार थे–

सुस्पष्ट लेख एवं अक्षर– यदि लेख साफ–सुथरा नहीं है तो लिपिकार नाना प्रकार के त्रुटियाँ करता जाता है। प्रायः लिपिकार भाषा के मर्मज्ञ नहीं होते थे। आज भी वही स्थिति है। साइनबोर्ड बनाने वाले प्रायः धन्यवाद को **धन्यावाद**, आशीर्वाद को **आर्शीवाद**, हनुमते को **हनुमतये**, विश्वविद्यालय को **विश्वविधालय**, बिल्वकेश्वर को **बिल्केश्वर** लिख ही देते हैं। लिपिकार तो वही लिखने का प्रयत्न करेगा जो मूल में लिखा है। अब यदि मूललेख में ही अक्षर साफ न हों, परस्पर सिमट गये हों, मात्रायें स्पष्ट न हों, मात्रायें छुट गई हों, समस्त पद काट–काट कर लिखे गये हों अथवा पृथक् अक्षरों को मिला कर लिख दिया गया हो तो बेचारा लिपिकार क्या करे? वह अशुद्ध लिखने

को बाध्य है। सुस्पष्ट लेख को ही लिपिसौष्ठव भी कहते हैं।

लिपिसौष्ठव के सन्दर्भ में प्राचीन ग्रंथों में कहा गया है–

समशीर्षाण्यक्षराणि वर्तुलानि घनानि च।

परस्परमलग्नानि यो लिखेत्स हि लेखकः॥

समानि समशीर्षाणि वर्तुलानि घनानि च।

मात्रासु प्रतिबद्धानि यो जानाति स लेखकः॥

शीर्षोपेतान् सुसम्पूर्णान् शुभश्रेणिगतान् शुभान।

अक्षरान् वै लिखेद्यस्तु लेखकस्स वरः स्मृतः॥

अर्थात् लेख के अक्षर समशीर्ष, वर्तुल तथा सघन (परन्तु) परस्पर अलग (अर्थात् चिपटे हुए नहीं) होना चाहिये। यथोचित मात्राओं से उन्हें युक्त होना चाहिये। अक्षर सीधी रेखा में लिखे हुए, परिपूर्ण तथा शीर्ष से युक्त होने चाहिये। अक्षरों को **विकल** अर्थात् अधूरा, कटा हुआ, अपूर्ण नहीं होना चाहिये। ऐसा लेख लिखने वाला लिपिकार ही श्रेष्ठ माना जाता है।

संस्कृत के सन्दर्भ में यह लेख–सौष्ठव विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि संस्कृत यौगिक भाषा है। इसमें दो–दो पंक्ति लम्बे समस्त पद बन सकते हैं जो परस्पर मिला कर ही लिखे जा सकते हैं जैसे–

(1) कलिकालभयपुञ्जीभूतकृतयुगानुकारिणी = 6 शब्द

(2) जलावगाहनावतारितजयकुञ्जरकुम्भसिन्दूरसन्ध्यायमानसलिलया = 9

शब्द

(3) मज्जन्मालवविलासिनीकुचतटास्फालनजर्जरितोर्मिमालया = 9 शब्द

(4) सुभटोरः कपाटविघटितकवचसहस्रान्धकारमध्यवर्तिनी = 9 शब्द

(5) करिकरटगलितमदजलासारदुर्दिनासु = 7 शब्द

महाकवि बाणभट्ट–प्रणीत कादम्बरी के कथाभाग से उद्धृत उपर्युक्त पाँच वाक्य हैं तो मात्र एक–एक समस्त पद (अर्थात् एक शब्द) परन्तु उन्हें क्रमशः 6,9,9,9 तथा 7 अंगभूत शब्दों को जोड़कर एक शब्द बनाया गया है।

यदि ये समस्त पद जो सचमुच एक शब्द हैं क्योंकि कारक–सूचक विभक्ति इन शब्दों के अन्त में ही आई है और संस्कृत में पृथक् स्वतंत्र–पद का बोध उसकी विभक्तयन्तता मात्र से होता है। यदि कोई शब्द निर्विभक्तिक है तो वह संस्कृत भाषा का शब्द माना ही नहीं जायेगा। **सुप्तिङन्तंपदम्**–अष्टाधायी। अर्थात् सुप् अथवा तिङ् प्रत्ययों से युक्त प्रतिपदिक ही पद होता है। समस्तपद यदि परस्पर मिलाकर न लिखें जाँय तो इनकी 'समस्तपदता' ही नष्ट हो जायेगी, साथ–ही–साथ, पृथक् लिखने पर (जैसे कलि काल भय पुञ्जीभूत आदि) **निर्विभक्तिक** होने के कारण ये निरर्थक हो जायेगे।

इसी प्रकार, यदि नियमों का पालन मूल पाण्डुलिपि में नहीं किया गया है तो अन्यान्य पाण्डुलिपियों में ये दोष जैसे–के–तैसे बने रहेंगे। संभव है, उन दोषों में और भी वृद्धि हो जाय। लेख का अ–सौष्ठव नाना प्रकार की त्रुटियों को जन्म दे सकता है।

(1) <u>लेखकीय अज्ञान</u>–रसत्नसमुच्चय में औषधिनिर्माण (कारखाना) में रत कर्मचारियों तथा मत्स्यपुराण एवं गरुडपुराण में लिपिलेखकों की योग्यता का अत्यन्त सूक्ष्मविवेचन किया गया है। यदि लिपिकार को भाषा का ज्ञान नहीं है तो लिपि–निर्माण में वह पदे–पदे स्खलन करेगा। आज तो संगणकों (Computer) ने हमारा काम अत्यन्त सरल कर दिया है, किसी भी अशुद्ध शब्द को संगणक पर ही शुद्ध कर लिया जाता है। परन्तु कुछ दशक पूर्व ही, लाख प्रयत्न करने के बाद भी कम्पोजीटर कुछ–न–कुछ अशुद्धियाँ कर ही देते थे। अन्तिम शुद्धिपत्र (Last Proof) में भी निर्दिष्ट त्रुटियाँ या तो जैसी–की–तैसी रह जाती थीं या फिर निर्देश को ठीक से न समझ पाने के कारण एक के स्थान पर दो या तीन त्रुटियाँ पैदा कर देती थीं।

परन्तु संगणक भी क्या करेगा? यदि भाषा का ज्ञान ही नहीं है तो संगणक–प्रयोक्ता अनाप–शनाप तो टाइप करेगा ही। हाँ, यदि विद्वान् स्वयं संगणक पर हो तो निश्चय ही प्रथम उपक्रम में ही वह सर्वशुद्ध सामग्री प्रस्तुत कर सकेगा।

मत्स्यपुराण में लेखक के विषय में कहा गया है–

सर्वदेशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः।

लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै।।

शीर्षोपेतान् सुसम्पूर्णान् शुभश्रेणिगतान् समान्।

अक्षरान्वै लिखेद्यस्तु लेखकस्स वरः स्मृतः।।

उपायवाक्यकुशलः सर्वशास्त्रविशारदः।

बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्यान्नृपोत्तम।

नानाऽभिप्रायतत्त्वज्ञो देशकालविभागवित्।

अनाहार्यो नृपे भक्तो लेखकः स्यान्नृपोत्तम।।

गरुडपुराण में भी अत्यन्त संक्षेप में लेखक का परिचय दिया गया है–

मेधावी वाक्पटु प्राज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः।

सर्वशास्त्रसमालोकी ह्येष साधुस्स लेखकः।।

ये दोनों ही सन्दर्भ, यद्यपि राजदरबार में लेखक–पद पर नियुक्त व्यक्ति के प्रतीत होते हैं जिन्हें धर्मलेखी अथवा शासनी भी कहा जाता था। ये लोग प्रायः राजाज्ञायें अर्थात् शाही फर्मान (Administrative Orders) अथवा धार्मिक लेख (दानपत्रादि) लिखने का कार्य करते थे। उसी दृष्टि से इनके वैशिष्टयों का उल्लेख किया गया है। मस्त्यपुराण के लेखक–लक्षण में प्रयुक्त 'नाहार्यः' तथा 'नृपेभक्तः' ये दो विशेषण यही संकेतित करते हैं कि लेखक को राजा के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु (समर्पित एवं विश्वस्त) तथा अनाहार्य होना चाहिये। अनाहार्य का अर्थ है किसी भी कीमत पर (उत्कोचादि से) न फूटने वाला, विश्वासघात न करने वाला। गरुडपुराण भी लेखक के सद्गुणों का वर्णन करता है परन्तु ये गुण दरबारी लेखक के नहीं प्रतीत होते। ये लेखक के सामान्य गुण हैं।

मत्स्य तथा गरुड दोनों मे लेखक को 'सर्वशास्त्र–विशारद' तथा

सर्वशास्त्र–समालोकी बताया गया है। गरुडपुराण जहाँ लेखक के चारित्रिक गुणों को रेखांकित करता है वहीं मत्स्यपुराण उसकी व्यावहारिक अर्हताओं को। गरुड की दृष्टि में लेखक को मेधावी, वाक्पटु, प्रतिभासासम्पन्न, सत्यवादी, जितेन्द्रीय तथा सर्वशास्त्र–पारंगत, समस्त शास्त्रों में निष्णात, सुलेख–दक्ष, मिताक्षरभाषी, राजभक्त, विश्वस्त तथा देश–काल का ज्ञाता होना चाहिये।

इनमें अधिकांश वैशिष्ट्य पाण्डुलिपियों के लिपिकार–लेखकों के भी हो सकते है। यदि लिपिकार सर्वशास्त्र–विशारद नहीं, प्रतिभाशाली नहीं, सुलेख में दक्ष नहीं, नाना देशों की लिपियों का ज्ञाता नहीं तो निश्चय ही वह त्रुटिपूर्ण पाण्डुलिपियाँ बनायेगा। कुण्ठित–बुद्धि, अशास्त्रज्ञ, तथा लेख–सौष्ठव से विरहित लिपिकार निश्चित रूप से सदोष पाण्डुलिपि निर्मित करेगा जो उत्तरोत्तर भ्रम की सृष्टि करेंगी।

1. **लेखन परम्परा का अ–पालन (उपेक्षा)–** पाण्डुलिपि लेखन की कुछ सर्वमान्य परम्परायें रहीं हैं। यदि कोई लिपिकार उन परम्पराओं का निष्ठापूर्वक पालन नहीं करता तो उस स्थिति में भी 'पाठदोष' उत्पन्न होने की संभावना बनी रहती है। कुछ प्रमुख परम्परायें हैं– लेखन की दिशा, पंक्तिबद्धता, मिलित पदबन्ध, विरामचिन्ह्, पृष्ठाङ्कन, मंगलाचरण तथा पुष्पिका।

इन सात परम्पराओं के अतिरिक्त एक आठवाँ वैशिष्टय भी महत्त्वपूर्ण है, और वह है–पाण्डुलिपि के रचनाकार का निर्देश।

यदि लिपिकार इन परम्पराओं का पालन नहीं करता है तब भी 'पाठदोष'

उत्पन्न होने की संभावना बनी रहती है।

(क) लेखन की दिशा (Direction of Script–Writing) का तात्पर्य है कि पाण्डुलिपि में लेखन किस दिशा से किस की ओर किया जा रहा है। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि दायें से बायें लिखा जा रहा है अथवा बायें से दायें। इस सन्दर्भ में पहले ही बताया जा चुका है कि ब्राह्मी, देव नागरी लिपियाँ बाई ओर से दाई ओर लिखी जाती है जबकि खरोष्ठी तथा अन्य सैमेटिक लिपियाँ (अरबी–फारसी) दाई ओर से बाई ओर लिखी जाती हैं।

इस विषय का पालन प्रतिलिपिकार को करना ही चाहिये। यदि वह दिशा बदल कर लिखने लगे तो पाण्डुलिपि, पाठक के लिये सर्वथा दुर्बोध हो जायेगी। संस्कृत भाषा में चित्रकाव्यान्तर्गत आई अनुलोम–विलोम कविता इसका अपवाद मानी जा सकती है क्यों कि उसमें बायें से दायें अथवा दायें से बायें पढ़ने पर एक ही पदावली का बोध होता है तथापि, लेखनियम का परिपालन यहाँ भी द्रष्टव्य है क्योंकि प्रत्येक वाक्य बायें से दायें ही लिखा जाता है। हाँ समान पदावली के कारण यह भ्रान्ति अवश्य हो सकती है कि इसकी कोई पंक्ति दायें से बायें भी लिखी गई है। उदाहरण–

यानमानय माराविकशोनानजनासना।

यामुदारशताधीनामायामायमनादि सा।।

सादिनामयमायामा नाधीता शरदामुया।

नासनाजनना शोकविरामायनमानया।।–काव्यादर्श

यहाँ लेख की दिशा नहीं बदली है, वह तो चारों चरणों में बायें से दायें ही है। परन्तु कविता के प्रथम एवं द्वितीय चरणों के अक्षर विन्यास–क्रम की दिशा तृतीय एवं चतुर्थ चरण में अवश्य ही दायें से बायें लिखी प्रतीत होती है। वस्तुतः यह दायें से बायें लिखने का **आभासमात्र** कहा जा सकता है अनुलोम–विलोम पद्धति का समाश्रय लेने के कारण।

(ख) पंक्तिबद्धता का अर्थ है लेख को सीधी पंक्ति में लिखना। बचपन में जब अक्षरारंभ कराया गया था तब भी काठ की पट्टी पर सीधी पंक्ति में लिखने का अभ्यास अध्यापक एवं (घर पर) अभिभावकों द्वारा कराया जाता था। बढ़ई से बनवाई गई काठ की पटरी पर दीपक के काजल एवं सरसों के तेल का सम्मिलित लेपकर, पहले धूप में सुखाया जाता था। सूखने के बाद किसी चिकने पत्थर अथवा टूटी शीशी की पेंदी से उसे 'घोंटा' (रगड़ा) जाता था। जिस कपड़े से तेलमिश्रित काजल हम पोतते थे उसे **'पोतनारा'** तथा जिस शीशी या बोतल की पेंदी से घोंटते थे उसे **'घोटनारा'** कहा जाता था। पोतनारा–घोटनारा हम बहुत सँभाल कर किसी गवाक्ष में रखते थे ताकि आवश्यकता पड़ने पर सरलता से मिल जाय।

घोंटने से काली काठ की पटरी, तेल की चिकनाई के कारण, चमचमा उठती थी। अब तीसरा चरण था इस पटरी पर सीधी रेखा खींचने का। एतदर्थ खड़ियामिट्टी (जिसे हम दुद्धी कहते थे) के गाढ़े घोल में धागा भिंगोकर हम, किसी की सहायता से पटरी पर सीधी रेखायें खींचते थे। घोल में डूबी डोरी

को पटरी के दोनों छोरों पर रख कर, बीच का भाग थोड़ा ऊपर उठाकर जब मुक्त छोड़ दिया जाता था तो उसके हल्के आघात से पटरी पर रेखा बन जाती थी। इन रेखाओं के सूखते ही, पटरी लिखने के योग्य हो जाती थी। अध्यापक द्वारा बोली गई कविता अथवा गद्यांश (इमला) को हम इन्हीं सीधी रेखाओं पर लिखते थे।

बचपन का यही अभ्यास, परवर्ती अध्ययनकाल में, सीधी पंक्ति में लिखने का अभ्यास करा देता है। गोकि समुन्नत कक्षाओं में तो विद्यार्थियों को रेखांकित (रूलदार) कापियाँ मिलने लगी हैं, फलतः पंक्ति टेढ़ी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु सीधा लिखने में अभ्यस्त लोग सादे पन्ने पर भी एकदम पंक्तिबद्ध ही लिखते हैं। वस्तुतः पंक्तिबद्ध लेखन नयनाभिराम होने के साथ–ही–साथ, लेखक के लिपि–सौष्ठव को भी प्रकट करता है।

अन्यथा तो ऐसे अ–पंक्तिबद्ध लेखक भी मिल जायेगे जो कि प्रारंभ करेंगे इलाहाबाद से और पहुँचेंगे वाराणसी की बजाय गोरखपुर! यह उपहासास्पद भी प्रतीत होता है, साथ–ही–साथ लिपि के आधारभूत कागज का अपव्यय अथवा दुरूपयोग भी। क्योंकि अ–पंक्तिबद्ध लिखने के कारण एक पृष्ठ पर कुछ गिनी–चुनी पंक्तियाँ ही लिखी जा सकेगी।

(ग) सम्मिलित पदबन्ध (व्दगहू ण्दस्ज्देग्गदह) का अर्थ है लिपिलेख के शब्दों (अथवा अक्षरों) को मिलाकर लिखना। डॉ. सत्येन्द्र ने 'दि इन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना' (खण्ड 21 पृ. 166) के हवाले से बताया है कि प्राचीन यूनानी पाण्डुलिपियों में भी मिलित पदशय्या का ही प्रयोग होता

था। भारतवर्ष में तो प्रारंभ से ही मिलित पदावली के प्रयोग की ही परम्परा रही है। आज जिस तरह से संज्ञापद, सर्वनामपद, क्रियापद एवं अन्यान्य वाक्यघटकों को विरामचिन्हादि (कॉमा, हाइफन, कोलन, डैश, पूर्ण विराम, प्रश्न चिन्ह, इन्वेंटड कामाज़ आदि) से चिन्हित कर, एक–दूसरे से पृथक् दशार्ते हुए लिखा जाता है, वैसा प्राचीन भारत में नही था।

भारत में मिलितपदावली की लेखन–परम्परा का औचित्य भी था जो विश्व की अन्य भाषाओं में नही ही है। उदाहरणार्थ यदि अंग्रेजी वाक्य की पदावली मिलाकर लिख दी जाय तो अंग्रेजी का विद्वान् भी क्षण भर के लिये संकटापन्न तो हो ही जायेगा शब्दों को पृथक् करने में। उदाहरणार्थ– All the perfumes of arabia can not Sweeten this little hand (Mac beth).

All the perfumes of Arabia cannot sweeten this little hand.

यह वाक्य शेक्सपियर–प्रणीत मैकबेथ नाटक का है। मैकबेथ की पश्चात्ताप में डूबी पत्नी, हत्याओं के रंग में रंगी अपनी हथेली को लक्षित कर आह भर रही है कि अरब देश की सारी इत्र–सुरभि भी इस नन्हीं हथेली को (अब) मँहका नहीं सकती।

परन्तु वाक्य सर्वप्रथम मिलित पदावली में लिखा होने के कारण, पहेली सा प्रतीत होता है। समझ में नहीं आता कि लिखा क्या है? परन्तु जब उसी को पृथक् पदावली में लिख दिया गया तो वह सुबोध बन जाता है।

संस्कृत में ऐसा नहीं है क्योंकि इस भाषा में किसी भी (सुबन्त या तिङनत) पद की पूरी शिनाख्त उसके अन्त में जुड़े प्रत्ययमात्र से हो जाती है। अतः संस्कृत शब्दों को चाहे जितना मिलाकर (सम्पृक्त कर) लिखा जाय, अर्थबोध में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। दूसरी बात यह कि समस्तपदो को तो मिलितपदसमवाय के ही रूप में विन्यस्त किया जा सकता है क्योंकि समस्त–पद चाहे आठ शब्दों को जोड़कर बना हो, चाहे अठारह अक्षरों को जोड़कर–प्रत्यय तो समस्तपद के अन्तिम पदांश के ही साथ जुड़ेगा और उसी से पूरे पद की पहचान भी होगी कि वह कर्त्ता है या कर्म या करण आदि।

संस्कृत भाषाकी इसी विलक्षण वैज्ञानिकता के कारण प्रतिभाशाली कविगण छान्दसी जादूगरी में माहिर होते रहें हैं। क्योंकि उन्हें यह चिन्ता नही रहती (अंग्रेजी वाक्य की तरह) कि कर्त्ता के बाद क्रिया ही आये। वे तो बस छन्दोलक्षण को दृष्टि में रखकर शब्दो को विन्यस्त करते चलते है, फिर तो वह चाहे संज्ञा हो अथवा विशलेषण, सर्वनाम, क्रिया अथवा अव्यय! एक उदाहरण देखें-

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः

शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।

यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु

स्निग्धच्छायातरूषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु।। –मेघ. पद्य1

यहाँ वाक्यगत शब्दक्रम इस प्रकार है–कान्ताविरहगुरुणा वर्षभोग्येण शापेन अस्तङ्गमितमहिमा, स्वाधिकारात् प्रमत्तः कश्चित् यक्षः

जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छायातरूषु रामगिर्याश्रमेषु वसतिं चक्रे।

इस शब्दक्रम से ही पद्य का वाक्यार्थ –बोध सुकर हो सकता है अन्यथा वाक्यार्थ–बोध में कठिनाई ही होगी। फिर भी किसी संस्कृतज्ञ को रञ्चमात्र भी कठिनाई इसलिए नहीं होगी क्योंकि वह शब्दों के प्रत्ययों को पहचान कर, क्षण भर में ही इस विपर्यस्त पदावली को क्रमानुसार व्यवस्थित कर लेगा। इसी को तकनीकी तौर पर 'अन्वय' करना कहते हैं।

इस प्रकार संस्कृतभाषा में मिलितपदावली का होना दुषण नहीं, प्रत्युत भूषण ही है। गोकि कालान्तर में संस्कृत में भी असम्पृक्त पदावली (Separated Composition) का ही प्रयोग होने लगा। तथापि प्राचीन शिलालेखों, स्तम्भलेखों, दानपत्रों तथा पाण्डुलिपियों में सम्मिलित पदशय्या का ही प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ, शकक्षत्रप रूद्रदामन् के गिरनार शिलालेख (150ई.) का एक वाक्य द्रष्टव्य है–

'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तसमयोदारलंकृतगद्यपद्य आदि।'

इसी प्रकार हरिषेण–प्रणीत सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग–प्रशस्ति में भी मिलित पदावली का ही प्रयोग किया गया है।

> यदि लिपिकार पाण्डुलिपि की प्रति बनाते समय इस परम्परा का पालन नहीं करता तो निश्चय ही महान् त्रुटि होगी। शब्द तो एक दूसरे से पृथक् हो जायेंगे परन्तु प्रत्ययविहीन होने के कारण वे निरर्थक माने जायेंगे। अतएव मिलितपदावली को उसी रूप में उपन्यस्त करना अनिवार्य है।

(घ) विरामचिन्ह भी लेखन–परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसे अंग्रेजी में Punctuation भी कहा जाता है। संस्कृत–लेखन में विरामचिन्हों का प्रयोग अब भूयस्त्वेन होने लगा है। परन्तु अधिकांश विरामचिन्ह अंग्रेजी के प्रभाव अथवा साम्य के कारण प्रयोग में आये हैं। मूलतः संस्कृत–लेखन में विरामचिन्हों का प्रयोग अत्यल्प होता था। इस सन्दर्भ में पंचम अध्याय में मेरे द्वारा प्रस्तुत की गई विरामचिन्ह–विषयक सामग्री अध्येतव्य है। डॉ. सत्येन्द्र ने प्रतिपादित किया है कि संस्कृत में पाँचवीशती ई.पू. से ईसवी सन् के प्रारंभ तक केवल एक विरामचिन्ह का प्रयोग होता था और वह था दण्ड अथवा छन्दः शास्त्र में प्रयुक्त लघुताबोधक आड़ी लकीर वत्सभट्टि–प्रणीत मन्दसौर–प्रशस्ति (473–78ई0) में इन विरामचिन्हों का व्यवस्थित प्रयोग देखने को मिलता है। इसमें श्लोक की अर्धाली पर एक खड़ी पाई तथा चरणसमाप्ति पर दो खड़ी पाई का प्रयोग मिलता है।

वस्तुतः पाणिनीयव्याकरण में भी विरामचिह्न बोधक अनेक अव्यय दिये गये हैं जो स्वयमेव पर्याप्त होते थे प्रारंभ, अन्त, अर्धविराम (कॉमा) तथा प्रश्नात्मकभाव बताने के लिये) प्रारम्भ के लिये संस्कृत में अथ, अन्त या समापन के लिये इति, अधविराम के लिये चेत् तथा प्रश्न के लिये किम्, कथम्, कच्चित्, किमु आदि का प्रयोग मिलता है। निम्नलिखित उदाहरणों से इन विराम–चिन्हों का स्वरूप स्पष्ट हो जायेगा–

(क) अथ (प्रारंभ)

1. अथ पजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्रहितगन्धमाल्याम्।

वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच।।–रघुवंशम्2/1

2. अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।

प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुद्यम्य पाण्डवः।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।–श्रीमद्भगवदगीता1/20

3. अथ चेत्त्वमिमं धमर्यं संग्रामं न करिष्यसि।

थतः स्वर्धर्मंकीतिंच हित्वा पापमवाप्स्यसि।।–श्रीमद्भगवदगीता2/30

1. द्रष्टव्य–पाण्डुलिपिविज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 34,35

4. **अथ** ते मुनयो दिव्याः प्रेक्ष्य हैमवतं पुरम।

स्वर्गाभिसन्धिसुकृतं वञ्चनामिव मेनिरे।।कुमार.6/47

(ख) इति (अन्त)

जैसे **'अथ'** किसी वाक्य के प्रारंभ को सूचित करता है उसी प्रकार 'इति' वाक्य की समाप्ति को। आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की स्वोप की स्वोपज्ञ लोचनटीका में 'इति' की व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा है–

'इतिशब्दो निखिलवाक्यपरामर्शको भवति।'

अर्थात् 'इति' शब्द मात्र से (पूर्ववर्ती) समूचे वाक्य के अभिप्राय का बोध हो जाता है। इसका उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है–

5. इदमत्रोत्तरं न्याय्यमिति बुद्धय्या विमृश्य सः।

आददे वचसामन्ते मङ्गलालङ्कृतां सुताम्।।–कुमार.6/87

6. अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरूमा स्म नम्र।

तया तु तस्यार्धशरीरभाजा पश्चात्कृताः स्निग्धजनाशिषोऽपि।।–कुमार.7/28

7. यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्सि भावस्थमिमं जनं कथम्।

इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः।।–कुमार.5/57

8. इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नबल्कला।

स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः समाललम्बे वृषराजकेतनः।।–कुमार.5/84

9. अद्यप्रभत्यवनताङ्गि! तवास्मि दासः

क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।।

अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।।–कुमार.5/76

(ग) चेत् तथाहि, किमुत (अर्धविराम)

प्रारम्भ एवं समाप्ति–सूचक 'अथ एवं इति' अव्ययों के ही समान दो वाक्यों संस्कृत–लेखन में प्रचलित रहे है जो आधुनिक विरामचिन्ह 'कामा'

के स्थानापत्र माने जा सकते है। ऐसे शब्दों में चेत्, तथाहि, किञ्च आदि मुख्य हैं। इनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

10. अतोऽथ कि किञ्चिद्भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपचालः।

अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने न चेद् रहस्यं प्रतिवत्तुमर्हसि।।

11. सखी तदीय तुवाच वर्णिनं निबोध साधो! तव चेत् कुतूहलम्।

यदर्थमम्भोजमिवोष्णवरणं कृतं तपः साधनमेतया सपुः।।– कुमार.5/52

12. तमेग्यं नयः पिबन्त्यो नार्यो न जमुर्विषयान्तराणि।

तथाहि, शेन्द्रयवृत्तिरासां सर्वात्मवा चक्षुरिव प्रविष्ट।।– कुमार.7/64

13. स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्थमपर्णया पेलवयापि तप्तम्।

या दास्यमप्यस्य लभेत नारी सा स्यात्कृतार्था, किमुताङ्कशय्याम्।। कुमार.7/65

उपर्युक्त समस्त श्लोकों का हिन्दी में अभिप्राय लिखा जाय तो न चेत्, चेत्, तथाहि तथा किमुत शब्दांशों का वही उपोग सिद्ध होगा जो 'कामा' का होता है। फलतः हम इन अव्ययों का 'कामा' का स्थानापत्र मान सकते हैं।

(ङ) पृष्ठङ्कन भी प्राचीन लिपिलेख का महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। डॉ. सत्येन्द्र का कहना है कि प्राचीन पाण्डुलिपियों में पृष्ठांख्या नहीं दी जाती थी,

बल्कि पर्णसंख्या का प्रयोग होता था, जो कि पन्ने की पीठ पर अंकित होता था। इसे साङ्कपृष्ठ कहते थे। इस पृष्ठांकन के भिन्न–भिन्न रूप भी मिलते हैं–

(क) कुछ ताडपत्रांकित जैनग्रंथों में हाशिये हमें दाहिनी ओर तो अक्षरात्मक अंक तथा बाईं ओर अंकात्मक (Figures) अंक होते थे।

(ख) शिलालेखों तथा दानपत्रों में सभी अंक एक ही पंक्ति में लिखे जाते थे परन्तु हस्तलिखित ग्रंथों में ऊपर से नीचे के क्रम में लिखे जाते थे चीनी भाषा की तरह।

(ग) कुछ प्राचीन पाडुलिपियों में एक ही पृष्ठ पर, हाशिये पर, ऊपर दाहिनी ओर अक्षरात्मक तथा नीचे दाहिनी ही ओर संक्ष्यात्मक पृष्ठंकन होता था। इन्हें क्रमशः अक्षरपल्ली तथा अंकपल्ली कहा जाता था।

इन प्रमुख विरामचिन्हों के अतिरिक्त प्राचीन पाण्डुलिपियों में कुछ अवान्तर प्रयोग भी मिलते है। जैसे–संशोधन–चिह्न, उपेक्षितांश–पूर्तिचिन्ह, अस्पष्टताबोधक चिन्ह (जैसे स्वस्तिक अथवा कुण्डलना) संक्षिप्ति–चिन्ह (Abbreviations) अंङ्काङ्कन चिन्ह तथा मंगलाचरण–चिन्ह आदि।

सशोंधन–चिन्ह पाण्डुलिपि में त्रुटित अक्षर के ऊपर लगाये जाते थे। त्रुटियाँ नाना प्रकार की होती थीं। यदि संशोधन–चिन्हों का प्रयोग कर मूल पाण्डुलिपिकार उन्हें ठीक न कर देता तो प्रतिलिपिकार, निश्चित ही भ्रष्टपाठ प्रस्तुत करता।

---

1. सविस्तर द्रष्टव्य–पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. 35

2. सविस्तर द्रष्टव्य–वही, पृ./38–45

उपेखितांश की पूर्ति हंसपद, मयूरपद अथवा काकपद काकपद का चिन्ह लगा कर हाशिये पर कर दी जाती थी। यह उपेक्षित अंश मात्रा, शब्द, वाक्य अथवा वाक्यांश कोई भी हो सकता है। सकता है। काकपद–चिन्ह का रूप होता था–

अस्पष्टाबोधक चिन्ह स्वस्तिक अथवा कुण्डल अथवा वृत्त होता था। ये चिन्ह पाण्डुलिपि का प्रतिलिपि का प्रतिलिपि–लेखक तब प्रयुक्त करता था जब उसे मूल पाण्डुलिपि का कोई अक्षर, पदांश अथवा पद स्पष्ट नहीं हो पाता था। तब वह उस मूल शब्द या शब्दांश को वृत्त से घेर देता था, जो उसकी अस्पष्टता का प्रतीक माना जाता था। इसे कुण्डलना कहते थे।

कुण्डलना किस प्रकार अस्पष्टाा अथवा त्रुटि (स्खलन, प्रमाद) का प्रतीक मानी जाती थी इसकी अत्यन्त मनोरम साहित्यिक व्याख्या कविपण्डित श्रीहर्ष ने अपने महाकावय नैषधीयचरितम् में की है। सन्दर्भ राजानल के अनिन्ध्य रूप एवं ऐश्वर्य के निर्माण का है। जैसे कोई चित्रकार मनोऽभिलषित रूपाकृति को अन्तिम स्वीकृति देने से पूर्व उसके प्रारूपों को बना–बना कर 'कुण्डली–निर्माण' द्वारा झूठलाता रहता है उसी प्रकार विधाता ने भी नल के ओजस् एवं यश को अन्तिम रूप से स्वीकार करने से पवूर्व, उसके अनेक प्रारूप (सूर्य–चन्द्र) बनाये तथा उन्हें 'कुण्डलना' द्वारा अग्राह्य घोषित किया। वही कुण्डलना सूर्य एवं चन्द्रवृत्त के रूप में आकाश में दृष्टिगोचर हो रही हैं–

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरूते यदा–यदा।

तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि।।

यहाँ टीकाकार नारायण ने स्पष्ट लिखा है– 'कुण्डलनां वैयर्थ्यसूचकं

नैषघ.1/14

रेखामण्डलं करोति।'

(च) संक्षिप्ति–चिन्ह को संकेताक्षर भी कहा जाता है। वस्तुतः इस संक्षेपणणप्रक्रिया का प्रारंभ महर्षि पाणिनि–प्रणीत अष्टाध्ययी में हुआ प्रत्याहारसूत्र (आदिरन्त्येन सहेता) के माध्यम से। इस सूत्र की व्याख्या है–

आदिः अत्येन इता सह स्वस्य च मध्यगानां च संज्ञा भवति।

अर्थात् पाणिनि–प्रोक्त चौदह माहेश्वर–सूत्रों में कोई भी वर्ण इत्संज्ञक (अर्थात् हलन्त) वर्ण से जुड़कर स्वयं अपना तथा बीच में आने वाले अन्य वर्ण का बोध कराता है। उदाहरणार्थ–अच् प्रत्याहार।

1. माहेश्वरसूत्र अइउण्। एओङ्। ऐऔच्। हयवरट्। लण्। ञमङणनम्। इभञ। घढधष्। जबगडदश्। जबगडदश्। खफछठथचटतव्। कपय्। सशष्ट् लू।

अच् प्रत्याहार अकार का (स्वस्य) तथा इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ तथा और (मध्यगानाम्) का बोधक माना जायेगा।

इस प्रकार प्रत्याहार को ही विश्व का प्राचीन संक्षेपण माना जा सकता है जो अन्यन्त वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

संसकृत व्याकरण में व्याख्या सन्धि समास भी एक सीमा तक संक्षिप्तीकरण–प्रक्रिया के ही साधन है। जब हम चन्द्रः शेखरे यस्य सः सरीखे विस्तृत शब्दार्थ को चन्द्रशेखरः मात्र से प्रकट करते हैं तो यह विस्तार का संक्षेप ही तो हुआ। एक और रोचक उदाहरण है–माता च पिता चेति **पितरौ। पितरौ** मात्र कहने से माता एवं पिता दोनों का बोध हो जाता है, समसन–प्रक्रिया से। इससे भी अधिक सटीक उदाहरण है– रामश्च रामश्चेति रामाः। अर्थात् तीन बार रामः न कहकर रामाः द्वारा तीनों का युगपत् बोध करा देनाा।

इस प्रकार एकशेष (द्वन्द्व) जैसी समास–प्रक्रिया तथा बहुवचनत्व– ये दोनों ही संक्षिप्तीकरण के ही मानक हैं। 'समास' का अर्थ ही है– समसनं समासः अर्थात् ही संक्षिप्तीकरण के ही मानक हैं। 'समास' का अर्थ ही है– समसनं समासः अर्थात् संक्षिप्तीकरण (Compounding)।

व्याकरणशास्त्र की भाँति संस्कृ में ज्योतिष्शास्त्र भी **संक्षेपण** में अग्रेसर रहा है। ज्यौतिष में वार, नक्षत्र, योग, पक्ष, मास, ऋृतु, अयन तथा राशि आदि सैकड़ों शब्द संक्षेपण के ही प्रतीक हैं। उदाहरणार्थ–

वार – रविवार, सोमवार, भौमवार, बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार, शनिवार।

नक्षत्र – अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफल्गुी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा,

स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येश्ष्ठा, मूल पूर्वाषाढ, उत्तराषाढ़, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिष, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद, रेवती।

योग – मुशल, शुभ, मृत्यु, पद्म, छत्र, श्रीवत्स, सौम्य, कालदण्ड, सुस्थिर, मातंग, अमृत, काण, लुम्ब, मित्र, वज्र, केतु, केतु, धाता, आनन्द, चर, गद, ध्वांक्ष, धूम्र, प्रवर्धमान, रक्ष, सिद्धि, उत्पात, मानस, मुद्गर।

तिथि/पक्ष – प्रतिपद्, द्वितीय, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, अमावस्या (कृष्णपक्ष) पूर्णिमा (शुक्ल)।

मास – चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, भाद्रपद, आश्विन, कात्तिक, मार्गशीर्ष (अग्रहायण) पौष, माघ, फाल्गुन।

अयन – उत्तरायण, दक्षिणायन।

राश वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन।

उपर्युक्त मे सात वारों, सत्ताईस नक्षत्रों, अट्ठाईस योगों पन्द्रह तिथियों दो पक्षों, बारह मासों अयनों तथा बारह राशियों के लिये एक ही संक्षिप्तीकृत शब्द दिया गया है जो उन सामूहिक बोध कराता है।

बदि, शुदिलकी षमः शब्द भी क्रमशः बहुलपक्ष (कृष्ण पक्ष) शुक्लपक्ष तथा अस्मिन् वर्षे के लिय संक्षिप्तीकृत संकेताक्षर हैं।

इस प्रकार संक्षेपण की प्रक्रिया संस्कृत भाषा में अत्यन्त प्राचीन काल में ही प्रयुक्त होने लीए।। कालान्तर में यही पाण्डुलिपियों भी प्रयुक्त होने लगी। वर्तमान काल में ग्रथों के प्रथमाक्षर को लेकर, समस्तपदों के प्रथमाक्षर को लेकर जाने लगी है जैसे नाट्यशास्त्र = ना.शा.। चतुर्वर्गचिन्तामणि = च.चि.। निराकरण संस्करण = नि.सा.सं.। ध्वन्यालोक = ध्व. आदि।

डॉ. सत्येन्द्र का मन्तव्य है कि भारत में शिलालेखों तथा पाडुलिपियों में संकेताक्षरों की परम्परा आन्ध्रों एवं कुषाणों के समय में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। कुद बहुशः प्रयुक्त संकेताक्षरों इस प्रकार हैं– संवत्सर=सम्व., संव. अथवा स.। दिवस = दि. = पा., श्लोक = श्लो.।

(छ) अङ्काङ्कन का अर्थ है प्रष्पिका में ग्रंथरचना की कालसूचना। यह परम्परा भी संस्कृत पाण्डुलिपियों में अत्यन्त प्राचीनकाल में ही प्रारंभ हो गई थी। परन्तु अंकों का यह अंकन संख्या में (Figures) में न करके शब्दों में किया गया है जो सांकेतिक हैं। सांकेतिक होने का अर्थ यह है कि ऐसे शब्दों द्वारा संख्या का बोध कराना जो उस संख्या के अर्थ में रूढ हों। जैसे चन्द्र, पृथ्वी = 1, नेत्र–युग्म = 2, नेत्र (शिव के) गुण, अग्नि = 3, दिशा, कोण, पुरुषार्थ, आश्रम = 4, बाण, महाभूत, प्राण, तत्व, इन्द्रिय = 5, रस, रिपु, ऋतु, = 6, पर्वत, स्वर, ऋषि, अश्व, द्वीप = 7, वसु, नाग, सिद्धि = 8, नन्द, अंक, इन दिा, ग्रह = 9 आकाश = 0, रूद्र = 11 आदित्य = 12, मनु, विद्या, भुवन, रत्न = 14 तिथि = 15 उपचार = 16।

इन्हीं सांकेतिक शब्दों के माध्यम से पाण्डुलिपिकारों ने पाण्डुलिपि का रचनाकाल निर्दिष्ट किया है। इस कालनिर्देश की दूसरी विशेषता यह है कि संवत्सरबोधक से उल्टी (प्रतीप) लिखी गई है। उदाहरणार्थ यदि यह बताना है कि कृति वि.सं. 1885 से लिखी गई तो शब्दों के माध्यम से लिखा जाये 1581। इस रूप में संख्यानिर्देश का मूल आधार है यह नियम–अङ्कानां वाम तिः। अर्थात् अंकों की प्रतीप गति होती है अर्थात् वह सीधी न होकर उल्टी होती है इस सन्दर्भ में कुछ और भी अवान्तर सूचनॉए दी जा रही है जिन्हें दृष्टि में रखना चाहिये–

0= शून्य या आकाश तथा तत्पयाय। ख, गगन, स्वः इत्याद। ''अंकानां वामतो गति''। यह एक सामान्य नियम है। इसका अर्थ है कि अंकों की गणना दाईं से बाईं ओर की जाती है।

उपर्युक्त दो नियमों के आधार पर–

1. चन्द्रग्रहशरपक्षाः = (1,9,5,2) = 2591
2. नेत्र–नयनाक्षिचन्द्राः = (3,3,3,1) = 1333
3. चन्द्रपक्षनेत्रवेदाः = (1,2,3,4,) = 4321
4. शर–नाग–वसु–चन्द्राः = (5–7–8–1) = 1875
5. ग्रहनक्षत्रनेत्रशशांकाः = (9–9–3–1) = 1399
6. खनगनेत्रणि = (0–7–3) = 370
7. बसुबाणवेदेन्दवः = (8–5–4–1) = 1468

8. शून्यलोकचन्द्र–सोमाः (0,7,1,1) = 5170

अंको की सूचना कई वार अंक वाचक शब्दों में दी जाती है। इस सूचना को भी दों से बों पढ़ना चाहिए।

1. अष्टोत्तर–शतम् = आठ ऊपर सौ = 108

2. अशीत्युत्तर–द्रिंसहस्त्रम् = अस्सी ऊपर दो हजार = 2080

3. द्वाविंशति = दो और बीस = 22

4. षट्चत्वारिंशत् = 6+40 = 46

5. पञ्चाशीतिः = 5+80 = 85 इत्यादि।

कभी–कभी इन इंकों की सूचना सीधी तरह भी दी जाती है।

द्विसहस्त्र द्विशतं च नवपञ्चाशदुत्तरम्।।

=2000+200+59 = 2259

एकादशशतं चैव त्रयस्त्रिंशदनन्तरम्।।

=1100+33=1133

(ख) दिनांक की सूचना तिथि, नक्षत्र या पर्वो द्वारा दी जाती है।

(अ) तिथि 15 होती हैं। प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा अथवा अमावस्या।

(आ) नक्षत्र 27 होते हैं। पुष्पिकाओं में प्रायः विशेष नक्षत्रों के नाम ही दिए जाते हैं। यथा–

''विशाखानक्षत्रे पूर्णेन्दौ''। अर्थात् विशाखा नक्षत्र में जिस दिन पूर्णमासी थी। नियमानुसार वैशाख मास की पूर्णिमासी को चन्द्र विशाखा नक्षत्र में होता है। अतः यह दिन वैशाख मास की पूर्णिमा तिथि है। बारह मासों की पूर्णमासी के बारह नक्षत्र निम्नलिखित हैं।

मास	नक्षत्र	मास	नक्षत्र
1. वैशाख	विशाखा	7. कार्त्तिक	कृत्तिका
2. ज्यैष्ठ	ज्येष्ठा	8. मार्गशीर्ष	मृगशिराः
		(इस मास को 'अग्रहायन' भी कहते हैं।)	
3. आषा	अषाढ़ा	9. पौष	पुष्या
4. श्रावण	श्रवणा	10. माघ	मघा
5. भाद्र	भद्रपदा	11. फाल्गुन	फल्गुनी
6. आश्विन	अश्विनी	12. चैत्र	चित्रा

(अ) पर्व–विशेष द्वारा तिथि, नक्षत्र का वार (दिन) की सूचना न देकर केवल किसी पर्व का नाम लिख देता है जिसके लिये एक विशेष विधि निश्चित होती है। इस नियमानुसार पर्व के मास एवं दिन का बोध हो जाता है पत्रचाङ्ग द्वारा।

रामचन्द्र कवि– 'प्रणीत रोमावलीशतक का रचनाकाल संवत् 1574 वि. है जो ग्रंथ में इस प्रकार दिया गया है–

श्रीमल्लक्षमणभट्टसूनुरनुजः श्रीवल्लभश्रीगुरो

अध्येतुः सममग्रजो गुणिमणेः श्रीविश्वनाथस्य च

अब्दे वेदमुनीषुचन्द्रगणिते श्रीरामचन्द्रः कृती

रोमालीशतकं व्यधात्सकुतुकादुर्वीधरप्रीतये।।

वेद–मुनि–इषु–चन्द्र=4751। अब इसे वामतः (उल्टा) लें तो 1574 आयेगा। यही ग्रंथ का रचनाकाल है।

इसी प्रकार अकालकवलित अपने पुत्र श्री चन्द्रशेखर भट्ट की कृति वृत्तमौक्तिक को विद्वान् पिता नक्षमीनाथ भट्ट ने वि.स. 1667 में पूर्ण किया जिसकी सूचना ग्रंथ के अन्त में इस प्रकार दी गई है–

रसमुनिरसचन्द्रैर्भाविते वैक्रमाब्दे

सितदलकलितऽस्मिन्कार्तिके पौर्णमास्याम्।

अतिविमलमतिः श्रीचन्द्रमौलिर्वितेने

रुचिरतरपूर्वं मौक्तिकं वृत्तपूर्वम।।

यहाँ रस–मुनि–रस–चन्द्र का अर्थ है–6761 जिसे वामतः पढ़ने पर 1676 आयेगा। यही ग्रंथ का प्रणयनकाल हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा अन्यायन्य काश्मीर आचार्यों ने तो प्रायः **गतकलि** (कलियुग के इतने वर्ष बीतने पर अर्थात् कलिसंवत्) के माध्यम से ही ग्रंथों का रचनाकाल बताया है।

(ज) मंगलाचरण एवं पुष्पिका का अर्थ है ग्रंथ या पाण्डुलिपि का प्रारंभ एवं समापन। पाण्डुलिपियों का प्रारंभ मंगलाचारणात्मक वाक्य, प्रतीक तथा मंगलात्मक पद्य से होता है। महाभाष्यकार पतंजलि (ई.पू. द्वितीयशती) मंगलाचरण का अभिप्राय एवं उसकी अनिवार्यता बताते हुए लिखते हैं–

मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च काव्यानि प्रथन्ते अर्थात् प्रारंभ, मध्य एवं अन्त्य मंगल से युक्त काव्य श्रेयस्कर होते हैं तथा इनके रचनाकार एवं पाठक भी दीर्घायु तथा भाग्यशाली होते हैं।

---

1. श्री लक्ष्मणभट्ट के पुत्र रामचन्द्रभट्ट श्रेष्ठकवि एवं विद्वान् थे। इनके दो ज्येष्ठ अग्रज नारायणभट्ट तथा महाप्रभुवल्लभाचार्य) तथा एक अनुज (विश्वनाथभट्ट) था।

2. आचार्य अभिनवगुप्त उत्पलप्रणीत ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की विमर्शिनी नामक टीका की रचना का समय बताते हैं– नवतितमेऽस्मिन् वत्सरानये युगान्ते आदि।

नाटकों में यह आदि मंगल नान्दीपद्य तथा अन्तमंगल भरतवाक्या के रूप में के रूप में व्यवस्थित होता है। श्रव्यकाव्यों (महाकाव्य, खण्डकाव्य) तथा मिश्रकाव्यों (चम्पू) में भी देववन्दना के रूप में यह मंगलाचरण उपन्यस्त किया जाता है।

वैदिक परम्परा के लेखकों ने शिव, विष्णु (राम एवं कृष्णा) गणपति तथा पार्वती (शक्ति) को प्रणाम अर्पित कर मंगलाचरण सम्पन्न किया है तो आर्हत तथ सौगत रचनाकारों ने तीर्थङ्करों एवं शाक्यमुनि (बुद्ध) को। मंगलाचरण–पद्यों के साथ–ही–साथ पाण्डुलिपियों में मंगलात्मक चिन्ह या वाक्य भी अंकित होते रहे हैं। मंगलात्मक प्रतीक प्रायः स्वस्तिक तथा सपल्लव कलश के रूप में मिलते है। मंगलात्मक वाक्यों में मुख्य हैं– ओऽम् स्वस्ति, गणपतये नमः, ओऽम् नमो गणपतये, श्रियै नमः, श्रीः, ओऽम् श्रीः, ओम् सिद्धम् आदि।

जैन– परम्परा में नमो जिनाय, नमो वीतरागाय, नमः सरस्वत्यै, नमः सर्वज्ञाय तथा बौद्धधर्म में नमः श्रीसिद्धार्थसुताय, नमस्तथागताय, नमः शाक्यमुनये, नमो बुद्धाय आदि प्रयोग मिलते हैं।

वस्तुतः मंगलाचरण की तीन प्रमुख विधियाँ साहित्यिक ग्रंथों में प्रचलित रहीं आदौ नमस्क्रियाऽशीर्वा निर्देशो वाऽपि तन्मुखम् अर्थात्।

(1) देव नमस्कार (2) आशीर्वितरण तथा (3) कथावस्तु का (सीधे) निर्देश।

देव–नमस्कार में प्रत्येक ग्रन्थकार अपने अभीष्ट कुलदेवता को प्रणाम अर्पित करता था। यह देव–नमस्कार प्रायः श्रव्यकाव्य के गद्य–पद्य चम्पूभेदों में अर्थात् कथा, आख्यायिका, महाकाव्य, खण्डकाव्य एवं चम्पु में मिलता है।

कथा (कादम्बरी) में महाकविवाणभट्ट त्रिदेव–वन्दना करते हैं। आख्यायिका में प. अम्बिकादत्त व्यास भगवती की वन्दना करते हैं। महाकाव्य (रघुवंशम्) में कालिदास पार्वती–परमेश्वर को प्रणाम अर्पित करते हैं। चम्पू (नलचम्पू) में त्रिविक्रमभट्ट शिव की वन्दना करते हैं।

---

1. रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमः स्पृशे।

   अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयय त्रिगुणात्मने नमः।। कादम्बरी, मंगला.।

2. विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्–श्रीमद्भागवतम् 10.25

   पं अम्बिकादत्तव्यास का यह मंगलाचरण भागवत से गृहीत हैं, उनका स्वोपज्ञ नहीं।

3. वागर्थविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये

   जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।–रघुवंशम् मंगला.

4. जयति गिरिसुतायाः कामसन्तापवाहिन्युरसि रसनिषेकश्चान्दन श्चन्द्रमौलिः।

   तदनु च विजयन्ते कीर्तिभाजां कवीनामसकृदमृतविन्दुस्यन्दिनो वाग्विलासाः।

   –नलचम्पूः मंगला.1

आशीर्वाद–वितरण की पक्रिया दृश्यकाव्यों (नाटक, प्रकरण आदि) में मिलती है जिसमें सूत्रधार नान्दीश्लोक के माध्यम के माध्यम से देवमुखे आशीः वितरण करता है। परन्तु यहाँ भी आशीः उसी देवता के माध्यम से वितरित

होता है जो ग्रन्थकार का अभीष्ट है। कालिदास के तीनो ही नाटकों में देवाधिदेव शिव आशीः के स्रोत हैं तो महाराज हर्षदेव–प्रणीत नागानन्द में भगवान् तथागत (बौद्ध जिनो पातु वः)

देववन्दना तथा आर्शीर्वितरण के अतिरिक्त तीसरे प्रकार का मंगलाचरण है सिधे कथावस्तु निर्देश भी प्रायः किसी मंगलात्मक शब्द से ही प्रारंभ होना चाहिये। उदारणार्थ–

श्रियःकुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।

स वर्णिलिङ्गी विदितस्समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः।।

–किरातार्जुनीयम्1/1

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।

वसन्ददर्शाऽवतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः।।

–शिशुपालवधम्1/1

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालये नाम नागाधिराजः।

पूर्वाऽपरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।।–कुमार.1/1

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथास्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।

नलस्सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः।।

–नैषधीय.1/1

उपर्युक्त उदाहरणों में श्री (लक्ष्मी) देवता तथा रस (आनन्द) अदि शब्द या तो देवतावाचय हैं अथवा भद्रवाचक। अतः उनसे काव्यांरभ किया गया है। महाराज नल का तो नामसमरण ही मंगलमय है, जैसा कि टीकाकार नारायण ने लिख है– 'अत्र पुण्यश्लोकनलरूपविशिष्टवस्तुनिर्देशने।

~~पाण्डुलिपिलेखन का अन्तिम~~ चरण है– पुष्पिका। पुष्पिका में लेखक अपना

1. इस सन्दर्भ में एक शास्त्रीय निर्देश यह है कि जो शब्द देवतावाचक हों (त्रिदश, विबुध, अमृतान्धस्, सुर, अमर्त्य, अमर, देव, शिव, विष्णु, हरि, गणपति, उमा आदि) अथवा कल्याण–मंगल सूचक हों वे लेखन में प्रशस्त माने जाते हैं। अतः इतिवृत्त का अरम्भ (यदि पूर्ण नमस्कार–पद नहीं प्रयुक्त हो रहा है तो) ऐसे ही शब्द से होना चाहिये।

   देवतावाचकः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः।

   ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युः स्वरतो लिपिताऽपि वा।।

   प्रतिष्ठापरक सारस्वत–परिचय देता हुआ ग्रंथ का समापन करता है। पुष्पिका में अनेक प्रकार की सूचनायें होती हैं जो इस प्रकार हैं–

   (1) ग्रन्थकार के पितामह कौन हैं, पिता कौन हैं? उनकी उपलब्धियाँ क्या रही हैं! विद्वज्जगत् एवं समाज में उनकी स्थिति क्या रही है?

(2) ग्रन्थकार का वंश क्या था? गोत्र क्या था? वह वंश या गोत्र किस बात के लिये अथवा किस क्षेत्र में प्रख्यात था?

(3) ग्रन्थकार ने किस उद्देश्य की पूर्ति के लिये (राजप्रसादन, देवपरितोष, आत्मतोष अथवा व्यक्तिविशेष का परितोष) गंथ–रचना की?

(4) ग्रन्थ की फलश्रुति क्या है? अर्थात् इस ग्रंथ के पारायण से पाठकों सहृदयों को क्या उपलब्धि होगी?

(5) ग्रन्थकार के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व की क्या विशेषतायें हैं?

(6) ग्रन्थ–रचना की तिथि क्या है?

वस्तुतः पुष्पिका को संक्षिप्त आत्मवृत्त ही मानाम चाहिये। कुछ ग्रंथकारों ने तो इतनी ऐश्वर्य–मण्डित पुष्पिका लिखी है कि पढ़ते ही बनती है।

पाण्डुलिपियों की पुष्पिका में थोड़ा और वैशिष्ट्य होता है। प्राचीनकाल में पाण्डुलिपि–लेखन अत्यन्त पवित्र धर्मकार्य माना जाता था। अतः समर्थ शासकगण अथवा धार्मिक प्रवृत्ति के धनकुबेर, महत्त्वपूर्ण धार्मिकग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ बनवाकर पवित्रतीर्थों में विद्याविनयमण्डित ब्राह्मणों को दान करते थे अथवा मन्दिरों–चैत्यों को देते थे।

पाण्डुलिपि के प्रतिलिपिकार पुष्पिका में इन तथ्यों का भी उल्लेख करते थे कि किस राजा की आज्ञा से किस प्रतिलिपिकार ने इस पाण्डुलिपि का लेखन किया और कब किय? इन पुष्पिकाओं में पाण्डुलिपि बनवाने वाले, बनाने

वाले, पाण्डुपिपिनिमार्ण का उद्देश्य, अवसर, स्थान आदि वृहद् सूचनाओं का संग्रह होता था।

पाण्डुलिपिपरिचय के लेखकों पुष्पिका के सन्दर्भ में कुछ अवान्नर, उपादेव सामग्री प्रस्तुत की है जिसे सामाज मुक्त किया जा रहा है–

'पुष्पिका' शब्द का मुख्य अर्थ है 'ऊपर का आच्छादन' या बाह्य आवरण'। इस शब्द का गौण अर्थ है 'वृद्धि'। आयुर्वेद में शरीर पर निकलने वाले मस्से तथा फलवेरी जैसे दिखाई देने वाले बदसूरत धब्बों को पुष्पिका कहा गया है। किन्तु, वर्तमान सन्दर्भ में पुष्पिका शब्द का अर्थ है अध्याय अथवा ग्रंथ के अन्त में अध्याय सम्बन्धी अथवा ग्रंथ सम्बधी विशेष सूचना देने वालें किन्तु मुख्य पाठ से अतिरिक्त वाक्य। जैसे श्रीमद्भगवद् गीता के प्रथम अध्याय के अन्त में–

"इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णाजनसंवादेऽर्जु नविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।।"

यह वाक्य गीता के प्रथम अध्याय के पाठ से अतिरिक्त है। यह वाक्य मुख्य ग्रंथ गीता के विषय में यह सूचना देता है कि श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के बीच में होने वाले संवाद स्वरूप ये गीत ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र के समान उपनिषद् हैं। यहाँ तक प्रथम अध्याय है जिसका नाम अर्जुनविषाद–योग है। इस प्रकार की पुष्पिकों गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में प्राप्त होती हैं।

प्रायः पाडुलिपियों के अन्त में दो प्रकार की पुष्पिकों प्राप्त होती हैं।

(क) मूल ग्रंथ की पुष्पिका जो ग्रंथ तथा अन्तिम अध्याय सम्बन्धी विशेष सूचना देती है।

(ख) लिपिकार प्रदत्त प्रुष्पिका जिसमें प्रतिलिपि की आदर्श प्रति, लिपिका का परिचय, प्रतिलिपि का समय व स्थान आदि विषयों पर सूचना प्राप्त होती है। यथा–

''इति पुण्यतमेऽडस्मिन् पुण्यसलिलातीरे सदाविमुक्तभूमौं काश्यां शून्य–ग्रहपर्वचन्द्र–संख्याके विक्रमसंवत्सरेऽक्षयतृतीयायां तिथौ पुण्यविग्रहस्य काशिराजस्याज्ञया तदीयपुस्तक मया पुरोहितप्रवरस्य श्री–गंगानाथ–शर्मणः पुत्रेण लिपिकलाकुशलस्य श्रीविद्याप्रतिलिपिकारस्य शिष्येण श्री–शिवदत्तशर्मण लिखितोऽयं ग्रंथः समाप्तः। शभमस्त्।''

इस पुष्पिका में कई महत्त्वपूर्ण सूचनों हैं।

(1) यह पाडुलिपि काशीराज की आज्ञा से उन्हीं के पुस्तकालय में लिखी गयी थी।

(2) इसकी समाप्ति सं. 1970 के वैसाखी शुक्ल तृतीया को हुई थी।

(3) इसका लिपिकार पुरोहित श्री गंगा राम शर्मा का बेटा तथा श्री विद्यापति नामक किसी लिपिकार का शिष्य शिवदत्त शर्मा था।

पुष्पिका में समय के विवरण को छोड़कर शेष सब कुछ स्पष्ट है। समय के विवरण को प्रस्तुत करने की यह प्रथा प्राचीन हैं। इस प्रथा के अनुसार

संख्या अंकों में न देकर शब्दों में प्रकट की जाती है। दिन की सूचना तारीखों में न देकर तिथियों द्वारा या विशेष पर्वों (त्योहारों) के नाम द्वारा दी जाती है।

(क) अंको की सूचना शब्दों द्वारा निम्नलिखित प्रकार से दी जाती है :

1 = चन्द्र या चन्द्र का पर्याय। जैसे, निशपति, निशाकर, तारानाथ आदि।

2 = पक्ष, श्रंग (अयन) या इनके पर्याय।

3 = नेत्र या इसका पर्याय। चक्षुः, अक्षि, नयन, आदि।

4 = वेद या तत्पर्याय। श्रुति, आगम=इत्यादि।

5 = वाण, शर, इषु इत्यादि।

6 = ॠतु।

7 = समुद्र, पर्वत, नाग, लोक या इनके पूर्णय। उदधि, नग, सर्प इत्यादि।

8 = वसु।

9 = ग्रह तथा तत्पर्याय। तारक, नक्षत्र इत्यादि।

10 = दिशों।

निरीक्षण करना चाहिए। उसमें जो प्रति सबसे शुद्ध प्रतीत हो उसे प्रमुखता देते हुए तथा अन्य प्रतियों में जो भिन्न पाठ हो उसका पाद–टिप्पणी में उल्लेख करते हुए उसे प्रकाशित करने योग्य बनाया जाता है। प्रारंभ में ग्रन्थ

तथा उसके लेखक का परिचय भी दिया जाता है, इसे ही सम्पादन कहते हैं तथा सम्पादन करने वाले को ही सम्पादक कहा जाता है।

इकाई 4

समीक्षात्मक व्याख्यापद्धति

या लीनमर्थं प्रथते सुबोधं लुप्तं सदर्थं स्फुटितं विधत्ते।

अल्पं च शास्त्रं विदधात्यनल्पं व्याख्या समथैर्विवृतिः पदैःसा।।1।।

जो लीन अर्थ को विस्तारित कर सुबोध बनाती है, जो लुप्त हुये वास्तविक अर्थ को प्रकट करती है और जो संक्षिप्त शास्त्रीय पंक्तियों को विस्तृत करती हैं– शास्त्रीय शब्दों का, समानार्थ–प्रतिपादक शब्दों द्वारा उनकी व्युत्पत्ति आदि का निरूपण करने वाली वही विधा, व्याख्या कही जाती है। भाषावृत्तिविवृति के प्रारंभ में सृष्टिधराचार्य ने व्याख्यान को पंचलक्षण से समन्वित बताया है–

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजनम्।

पूर्वपक्षसमाधनं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम्।।

किन्तु प्रततोद्योत में इसके छह प्रकार बताए गए हैं–

पदच्छेदः पदार्थश्च विग्राहो वाक्ययोजना।

आक्षपेश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं स्मृतम्।।3।।

उक्त दोनों पद्धतियाँ व्याकरण की दृष्टि से बताई गई हैं। न्याय की त्रिविध प्रवृत्ति होती है–

त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः।

उद्देश्य लखणं परीक्षा च।।

न्यायशास्त्र में प्रमाता, प्रमिति, प्रमेय और प्रमाण इन चार के आधार माना गया है। उसी दृष्टि से व्याख्या की जाती है तथा शास्त्र को समझाने का प्रयास किया जाता है।

वेदान्त में एक सूत्र को लकर उसका पदविभाग किया जाता है। उसके बाद प्रतिपाद उसका अर्थ किया जाता है फिर उसके तात्पर्य को विशद किया जाता है। सूत्रतात्पर्य तथा पूर्वापर विषयग्रन्थों से सम्बन्ध अवधारित किया जाता है।

साहित्यशास्त्र में काव्य का लक्षण निर्धारित कर उससे घअकों का सम्यक् व्याख्यान किया जाता है जैसे–

तददोषौ शब्दार्थो सग्रणावतलङ्कृती पुनः कतापि।

–काव्यप्रकाशः।

यहाँ आचार्य मअठ सर्वप्रथम निर्दोश शब्द एवं अर्थ, तदनन्तर गुणों तथा अन्न में अलंकारों को उपन्यस्त्र करते हैं। शब्दार्थ ही मूलतः काव्य है जबकि उनकी गुणवत्ता तथा अलंकारयुक्तता धर्ममात्र है। चूँ कि दोष मुख्यार्थ (रस) का हतिः (विनाशक) है अतएव उसे सर्वप्रथम रखा गया है।

शब्दार्थों सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।

यहाँ कुन्तक ने पहले शब्द और अर्थ, फिर साहित्य, पनः वक्रकविव्यापार, बंध और आह्लाद आदि पर क्रमशः विचार किया है। इसी प्रकार मम्मटादि आचार्यों ने भी काव्यस्वरूप के घटकों का ही समग्र में विस्तृत रूप से व्याख्यान किया है।

वस्तुतः काव्यग्रन्थों की व्याख्या–पद्धति इस प्रकार है–

सन्दर्भोऽथ प्रसङ् गश्च विग्रहश्चान्वयक्रमः।
कवेरिष्टश्च शब्दार्थौ गुणालङ्काररीतयः।।
रसो ध्वनिश्च वक्रोत्तिः शास्त्रसन्दर्भसूचना।
छन्दः कोशादिसंकेतो भावसाम्यप्रदर्शनम्।।
इत्येतान्येव तत्त्वानि यथालब्धनि काव्यतः।
काव्यव्याख्यासु चीयन्ते मल्लिनाथादिसूरिभिः।।

इस प्रकार व्याख्या विस्तृत विश्लेषण पर आधारित होती है जो प्रतिपाद्य विषय का स्पष्ट अवबोध कराने में सहायक होती है।

खण्ड 3 इकाई 5

मूलग्रन्थ अथवा शास्त्र का भाष्य

आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा है– आक्षिप्य भाषणाद्भाष्यम्। वैयाकरणों ने इस भाष्य का स्वरूप इस प्रकार बताया है–

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।

स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।।

प्रतिपाद्य–विषय के स्पष्टीकरण में तत्त्वान्वेषक आचार्य द्वारा जो भी मत प्रस्तुत किया गया हैं, उन पर जिन आरोपों अथवा प्रश्नों की संभावना होती है उन्हें भाष्यकार पूर्व–पक्ष के रूप में स्वयं उपस्थापित कर उसका समाधान करता है। व्याख्या में प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट रूप से समझाया जाता है। किन्तु भाष्य में सम्भावित प्रश्नों के समाधान भी किए जाते हैं। भाष्य में भाष्यकार की अपनी मान्यता भी समाहित रहती है। जैसे एक वेदमंत्र 'चत्वारि शृंगा' का सायण यज्ञपरक और सूर्यपरक भाष्य करते हैं वहीं महाभाष्यकार पतंजलि उसका व्याकरणपरक भाष्य करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता का शंकराचार्य अद्वैतवेदान्तपरक भाष्य करते हैं तो अन्य आचार्य द्वैतवादी भाष्य करते हैं। इस प्रकार भाष्य व्यापक रूप से शास्त्र को समझने और उस पर होने वाली शंकाओं के समाधान के लिए किया जाता है।

भारत में प्रांटय से ही सारी परम्पराओं को देवमूलक माना गया है। देवसृष्टि का प्रतिबिम्ब है यह मानवस्टाष्टि। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सरीखे पुरुषार्थों

तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य वानप्रसथ एवं संन्यास जैसे आश्रमों की परिपूर्ति में भी देवता ही अग्रगण्य माने गये है। इसीलिये उन्हें 'पूर्वजन' भी कहा गया है।

ज्ञान, मेघा, तपस्या तथा आचरण की पवित्रता से ओत प्रोत ब्राह्मणों के पृथ्वी का देवता (असुर, महीसुर) अथवा अग्रजन्मा माना गया है क्यों कि उनमें देवत्व सर्वाकिक मात्रा में संमान है। विद्या, ज्ञान, अध्ययन, अध्यापन, घइ, दानदि के अधिकारी प्रारंभ से ही ब्राह्मण ही रहे अपने सांस्कारिक सम्प्रभत्व के धारण। ऐसा नहीं कि उपर्युक्त सारगुण उन्होनें किसी से छीने हो या ब्लाक अधिकार कर लिया हो, वस्तुतः उनका जीवन ही एतभिमित्तक था। वे सारे भौतिक सुखों, ऐश्वर्यों तथा सुविधाओं को तिलांजलि देकर लोकहिताय तप और ज्ञान का कष्टकाकोर्ण मार्ग चुनते थे। उनकी कोई भी उपलब्धि स्वार्थपूर्ति के लिये नहीं थी– समाज, राष्ट्र विश्व एवं ब्रह्मंण के कल्याणर्थ थी। भगवान मन ने स्पष्टतः कहा–

ब्राह्मणस्य शरीरं हि क्षुद्रकामाय नेष्यते।

ब्राह्मण की महिमा–गरिमा का ज्ञान वैदिक गुण से ही होता चला आ रहा हैं। ईष्यालु तथा देवी जन इन प्रशंसाओं से तो उद्विग्न होते हैं परन्तु उसकी निरीहता, अकिञ्चनता तथा सर्वस्वत्यग पर उनकी हाष्ट नहीं जाती। जिस आत्मार्जित तप से वह स्वयं स्वर्गोपत सुख एकत्र कर सकता है उसी को लुटा देता है समाज एवं राष्ट्र के लिये।

उन्ही तपःपुत्र ऋषियों ने चतुर्दश विद्यास्थानों का पल्लवन किया। ज्ञान की उस जटिक, दुर्ग्राहय् तथा कठिन संवित्र को सर्वबोद्यगम्य बनाने के लिये

प्रयत्न भी उन्होने किय।

वेदमंत्र दुर्बोध एव रहस्यमय बन गए तो उन्हें समझाने के लिये ऋषियों ने वेदांगों की रचना की।

वेदांगों से भी जब वेद **सुबोध** नहीं बन पाये तब उन्होने इतिहास तथा पुराण का अविष्कार किया–

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं सम्रपवृंहयेत्।

बिभेत्यत्वश्रृताद् वेदो मामसं प्रहरिष्यति।।

–वेदव्यास।

पहले ऋषियो ने सारे शास्त्र सूचशैली में लिखे कपिल का सांख्यसूत्र पतञ्चलि का योगसूत्र, जैमिनि का मीमांससूत्र, बादरायण का ब्रह्मसूत्र, गौतम का न्यायसूत्र तथा कणाद का वैशेषिक सूत्र। षड्दर्शन के सूचों की पद्धति पर महार्षि, पाणिति ने व्याकरणसूत्र (अष्टध्ययी) वात्यायन ने कामसूत्र, पिङ्गल ने छन्दःसूत्र तथा बोधायन, आपस्त्रम्ब तथा पारस्करादि ने धर्म एवं ग्रहय्सूत्र लिखे।

परन्तु इन सूत्रों का अर्थ समझाने के लये आगे चल कर सूत्रों पर टीका, भाष्य, पञ्जिका, फक्किका तथा क्रोउपयादि लिखने की परम्परा चल पड़ी। यह सब मात्र इसी लिये हुआ ताकि मूलग्रंथ का अभिप्राय जन–जन तक पहुँच सके। भारत में ज्ञानवितरण की मह अधुन प्रणाकी अत्यत्र प्राचीन काल में विकसित हो चली थी। फलतः पूरा राष्ट्र राजनैतिक हार्ष्ट से पृथक् तथा विभन्न होने के बावजूद सारस्वत्र–हष्ट्या पूर्णतः सझना था।

आचार्य भारत दक्षिण भारत के, भारत के नाटय् शास्त्र की टीका (काशमीरी अभिनवगुप्त द्वारा प्रणीत) उत्तर की, परन्तु उसका अध्ययन–अध्यापन समूचे भारत में समान रूप से।

यदि मूलशास्त्रज्ञान वृक्ष की जड़ है (सूत्र) तो टीका यार्त्रिक, भाष्य एवं उपभाष्यादि उस ज्ञानवृक्ष स्कन्ध, वृत्त, पुष्प फल हैं इन शब्दों का परिभाषिक स्वरूप थी हमें देख लेना चाहिए। उन्हें क्रमशः प्रस्तुत करते हैं–

1. सूत्र – अल्पाक्षरयसन्दिग्धं सारवाद् विश्वतोमुखम।

   अस्तोममनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

   जो अल्पासरयुक्त, सन्देहरहित, सारयुक्त, सांगोयांग

   दोषरहित तथा प्रशस्त्र हो उसे सूत्र कहते हैं।

2. वार्तिक – उक्ताऽनुत्तदुरूकतानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।

   तं ग्रंन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिण।।

   जिसमें मूल सेरयक द्वारा उक्त, अनुक्त (न कहे गये, गल्ती से छोड दिये गये) तथा दुरूक्त (गलत ढंग से कहे गये) तथ्यों की चिन्ता (समीक्षा) हो बार्तिक कहा जाता है।

   दोषरहित तथा प्रशस्त्र हो उसे सूत्र कहते हैं।

3. भाष्य – सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूचानानुसारिभिः।

   स्वपदानि च दर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।।

भाष्य उसे कहते हैं जिसमें सूत्र का अर्थ उसके प्रति

पद व्याख्यान से तो बताया ही जाय, अपनी ओर से भी अभिप्राय को समझाये जाय अपनी शब्दावली द्वारा,

4. उपदेश – धातुसत्रगणोणादि वाक्य लिङ्गानुशासनम्।

आगमप्रस्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः।।

द्याततु–सूत्र–गण– आदि वाक्य लिङ्गनुशासन, आगम, प्रत्यय तथा आदेश को उपदेश कहते हैं (अतएव ये यथावत– ही ग्राहय् होते हैं।

आक्षिप्य भाषणाद्भाष्यं दृश्यते सूरिसम्मतम्।

दृढीकर्तुं स्वशास्त्रस्य मतं सम्यक प्रभाष्यते।।1।।

पूर्वपक्षं समुद्भाव्य तत्समाधिपुरस्सरम्।

संक्षिप्तस्य च शास्त्रस्य विस्तुतिरत्र साध्यते।।2।।

क्वचित् स्वमतपोषार्थं शास्त्रभाष्यं विधीयते।

गीतायाः पुरस्कर्त्ता चाद्वैते शंकरो यथा।।3।।

इकाई–6

ग्रंथ–समीक्षा का स्वरूप

अन्तर्भाष्यं समीक्षाऽऽस्ते भाष्यावान्तरगर्भितम्।

अर्थमुन्मील्यमौचित्यैः कल्पनया समीक्ष्यते।।1।।

सन्निरीक्ष्य कृतिं तस्या प्रस्तुतं विषयं पुनः।

लोकशास्त्रदिशा सम्यग् बधैरस्यां विचार्यते।।2।।

आचार्य राशेखर ने समीक्षा का स्वरूप इस प्रकार बताया है काव्यमीमांसा मे– 'अन्तर्भाष्यं समीक्षा'। भाष्य के बारे में कहा है– 'आक्षिप्य भाषणाद् भाष्यम्'। इस प्रकार भाष्य में सम्भावित आक्षेपों की कल्पना कर उन्हें प्रस्तुत करते हुए शास्त्रकार के सिद्धांत की पुष्टि की जाती है। किन्तु भाष्य के अवान्तर और गर्भित अर्थों का स्पष्टीकरण और विषिष्ट कल्पना समीक्षा कही जाती है।

समीक्षा अथवा ईक्षण का अर्थ सम्यक् निरीक्षण है। अमरकोषकार ने ईक्षण का पर्याय इस प्रकार बताया है– **'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्'।** इस प्रकार निर्वर्णन, निध्यान, दर्शन, आलोकन और ईक्षण ये सभी शब्द सम्यक् अवलोकन से सम्बद्ध हैं। वामन ने पदों के समावेश, अनुपयुक्त पदों के अपसारण को पदाधानोद्धरण कहा है। इन दोनों के परीक्षण को उन्होनें अवेक्षण कहा है–

'पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्'।–काव्यालंकारसूत्रम

काव्य के किसी दृश्य या विधा का सम्यक् अवलोकन कर उकी विधा, वस्तु, पात्र, आस्वादक तत्व, वर्णानात्मक प्रसंग, भाषाशिल्प और प्रभाव आदि की दृष्टि से विचार कर उसकी विशेषताओं और कमियों का उद्घाटन करना समीक्षा कही जाती है।

समीक्षा करने वाले को भवक, सहृदय, समीक्षक कहा जाता है। यह भावयित्री प्रतिभा से युक्त होता है। राजशेखर आदि आचार्यों ने भावक के अनेक प्रकार बताए हैं। उनमें तत्वभिनिवेशी श्रेष्ठ समीक्षक होता है–

तत्त्वाभिनिवेशी तु मध्येसहस्त्रं यद्येकः तदुक्तम्–

शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधनामोदते सूक्तिभिः,

सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।

पुण्यैः संघटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां,

केषामेंव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः।।

तत्त्वाभिनिवेशी समीक्षक हजारों में एक होता है। सच्चे समीक्षक के अभाव में हृदय में अत्यन्त दुःख होता है। किसी कवि को बड़े पुण्यप्रभाव से काव्यरचना के परिश्रम को जानने वाला विद्वान् समीक्षक व्यक्ति मिलता है, जो शब्दों की रचनाविधि का भलीभाँति विवेचन करता है, सूक्तियों की अनोखी सूझों से आह्लादित होता है, काव्य के सघन रसामृत का पान कारता है और रचना के गूढ़ तात्पर्य को ढूँढ निकालता है।

जीवन और कालदर्शन का ज्ञापन और उसका समन्वय समीक्षा का आधार है। जिज्ञासा, विवेचना और विवेकपूर्ण दृष्टि समीक्षा के आवश्यक तत्त्व हैं। उदात्त जीवन जीने की प्रेरणा देना, आनन्द प्रदान करना साहित्यकार का ध्येय–वाक्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह सृजन करता है, सौन्दर्य की प्रतिष्ठा और आह्लाद के लिए विशिष्ट वस्तु, पात्र, लोकव्यवहार को आधार बनाता है। इसमें वह कहाँ तक सफल हुआ है इसी का परीक्षण करना समीक्षा सही जाती है।

प्रो. रहसविहारी द्विवेदी ने यद्यपि सम्पादन, व्याख्यापद्धति, भाष्यपद्धति एवं सीमक्षा–पद्धति की शास्त्रसम्मत व्याख्या की है जिनका सम्पादन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। तथापि आनुषंगिक रूप से ये सब ग्रन्थ–सम्पादन में सहायक होते हैं। अतः सम्पादक को इन सबका भी युक्तियुक्त ज्ञान होने ही चाहिये।

प्राचीन काल में सभी शिलालेख, साम्यलेख, प्रस्तरलेख भिन्नलेख तथा पाष्ड्लिपियाँ ब्राहनीलिपि में है। लिखी गई, फलतः सम्पूर्ण भारत वर्ष में ब्राह्मी सर्वमाना लेखन–लिपि बनवाई कालान्तर में यही ब्राह्मी विभिन्न प्रान्तों या मूखड़ों में विञ्चित् परिवर्तित होकर पृथक् नाम से प्रसिद्ध हुई फलतः ब्राह्मीलिपि में ही अंकित ग्रंथ उन उन प्रान्तों में लिप्यन्तरित हुए, कहीं ग्रंथ लिपि में तो कहीं शारदा में, कहीं वे वारी में तो कहीं देवनगरी में।

अधिकांश विद्वानों का प्रतिमत है कि सम्राट् पृथ्वी राज चौहान के शासन काल (12वीं शदी ई.) तक प्रायः सभी भारतीय लिपियाँ प्रस्तित्त्व में आ चुकी थी। संस्कृत का लेखन तो देवनागरी में होता रहा। हाँ आश्चलिक भाषाओं में

भी रचना होती रही संस्कृतेतर प्राकृतों की। फिर एक ऐसी स्थिति आई भि संस्कृत कृतियों (अर्थात् देवनागरी) का आश्चलिक लिपियों में परिवर्तन किया जाने लगा। नियन्त्रण की इस प्रक्रिया में ही अनेक भ्रान्तियों के कारण, पाठ में दो की संख्या बना बनी। इस पाठ भेद केक्षुए क रोचक उदाहरण पाण्डुलिपि–परिचय के लेखक ने दिये है– पद विभाजन की भ्रन्तिवश उभरे पाठभेद।

का में मुङ्गता (मूलताठ) वाक्य में पदविभाजन की भ्रन्ति के कारण चार पादभेद संभव हो सकते–

का में भ्रजंगता।

कामे भ्रजंगता।

का मे भ्रजं गता।

कामे भ्रजं गता।

इसी विद्वान् ने कुछ और भी कारण प्रस्तुत किये हैं पाठभेद के, जो लित्यन्तरण अन्य हैं। उन्हें साभार, यथावत् उध्दृत किया जा रहा है।

2. संयुक्ताक्षरों की संदिगता के कारण। उद्गर्तः=उद्वर्तः।

3. आकृतिसाम्य।

शारदा देवनागरी

जामुनम् > लसुनम्

जवः > लवः

सुदन्तः > भुदन्तः

शशकः > ममकः इत्यादि

बंगला देवनागरी उड़िया देवनागरी

3 : 7 2 : 7 7 : 1

4. एक ही लिपि के अक्षरसामय से भी पढ़ने में भाँति हो कसती है।

(क) देवनागरी

प्रपाणम्=प्रयाणम्=प्रमाणम्। उषयलानि=उष्पलानि (अथर्ववेद)।

धर्मः=धर्मः। वृंहणम्=वृंहणम्। चरः=नरः=वरःइत्यादि।

(ख) वंगला–

ओकारेण=त्तकारेण। एकारः=त्रकारः। (प्राचीन अक्षरों से होने वाली भ्रांति) या=सा। नद्धम्=लब्धम्। पाता=धाता इत्यादिः।

(ग) गुयमुखी–

अनीकम्=अलकम्। अलातम्=(>अनातम्>) अनायम्। हासः रसाः। हे=रे। इत्यादि।

1. इस सामग्री को यथावत उद्धृत करने के लिये लेखक मूल ग्रंथकार के प्रति आभारी है। लेखक।

जब यूरोप के विद्धानों ने संस्कृत ग्रंथो का सम्पादन अपने हाथों में लिया तो उन्हें कई प्रकार की समस्यओं का सामना करना पड़ा।

(क) यूरोप में देवनागरी टाइप का अभाव।

(ख) देवनागरी अक्षरों से सुपरिचित लिपिकारों, कम्पोजिटरों तथा प्रूफ रीडरों का अभावं।

(ग) यूरोप में इस लिपि के पाठकों का अभाव। इत्यादि।

इन समस्याओं के समाधान हेतु उन्होंने रोमन लिपि में संस्कृत लिखना आरम्भ किया। हम सभी यह जानते है कि रोमन में स्वरचिह्नों का कुछ अभाव है। एक ही स्वरचिह्न द्वारा विभिन्न प्रकार के उच्चारणों को दर्शाया जाता है (Put, but, buy; pet, net; note, now; big, bird; syllabi, hydro)। इतनी अनिश्चितताओं के होने पर भी यूरोप की अनेक भाषों इसी लिपि में लिखी तथा पढ़ी जाती है। किन्तु, संस्कृत के पदों का सम्यक, निर्देशन इस अनिश्चितता की स्थिति में संभव नहीं है। अतः, यूरोपीय विद्वानों ने रोमन लिपि में अल्पाधिक परिवर्तन करके संसकृत भाषा के स्वरों के सम्यक् प्रदर्शन हेतु कतिपय नूतन प्रतीक बनाए जो नीचे लिखे जा रहे हैं।

Roman देवनागरी Roman

देवनागरी

शुद्ध स्वर **मिश्रित**

स्वर

a — अ e —

ए

ā — आ	ai — ऐ
i — इ	o — ओ
ī — ई	au — औ
u — उ	
ū — ऊ	
ṛ — ऋ	
ṛ — ऋ	

कवर्ग	चवर्ग	टवर्ग	तवर्ग	पवर्ग
k—क्	c—च्	ṭ—ट्	t—त्	p — प्
kh—ख्	ch —छ्	ṭ h—ठ्	th—थ्	ph — फ्
g—ग्	j—ज्	ḍ— ड्	d—द्	b—ब्
gh—घ्	jh—झ्	ḍh—ढ्	dh—ध्	bh—भ्

अनुनाकिस	अयोगवाह	अन्तःस्थ
ṅ, — ङ्	ं (अनुस्वा = ṁ	y = य्
ñ — ञ्	ँ (अनुनसिक) = m	r = र्
ṇ — ण्	ः (विसर्ग):= ḥ	1 = ल्
n — न्		v = व्

m — म्

ऊष्म			संयुक्ताक्षर		
ś	—	ङ्	kṣa	=	क्ष
ṣ	—	ञ्	tra	=	त्र्
h	—	ण्	jña	=	ज्ञ्

रोमन की इस विकसित वर्णमाला द्वारा संस्कृत लिखना व पढ़ना सरलतर हो गया है। साथ ही, इसमें भ्रान्ति पैदा होने की संभावना भी कम हो गयी है। उदाहरण के लिए निम्न श्लोक दिये जा रहे हैं।

परन्तु इन उदाहरणाों को प्रस्तुत करने का यह अर्थ कत्तई नहीं लिया जाना चाहिये कि लिप्यन्तरण मात्र संस्कृत एवं अंग्रेजी (देवनागरी) तथा रोमनलिपि के बीच की कोई रूढ प्रतियां है।

सच तो यह है कि लिप्यन्तरण सम्भव है किन्हीं दो लिपियों के बीच। हम संस्कृत को बँगला गुरुमुखी, तेलग्र, कन्नड़, मलयालम, तमिल– किसी भी लिपि में अन्तार कर सकते है।

लिप्यन्तरण (Translitteration)

लिप्यन्तरण का शाब्दिक अर्थ है लिपि का अन्तरण (किसी अन्य लिपि लिपि में परिवर्तन) लिप्यान्तरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो दो भाषाओं की शत्-प्रतिशत पृथक्ता को 50 प्रतिशत अर्थात् आधा कर देती है। क्योंकि दो पृथक लिपियाँ बाच्यता तथा अर्थबोध– दोनों ही दृष्टि से पूर्णतः पृथक् होती है। परन्तु

यदि दोनों की लिपि एक कर दी जाय तो वाच्यता सम्बन्धी आधी पृथक्ता स्वयं समाप्त हो जाती है। मात्र अर्थ बोध–सम्बन्धी पृथक्ता बचती है।

जावा में नवीं शती ई. के अन्तिम चरण में मतराम–नरेश महाराष्ट्र वतुकुर बलितुंग को आश्रित महाकवि योगीश्वर ने, वाल्मीकि रामायण एवं महिकाव्य के आधार पर, **'रामायणककविन्'** नामक महाकाव्य लिखा, जिसमें छब्बीससर्ग तथा 2778 श्लोक हैं। यह ग्रंथ कविभाषा में लिखा गया जो एक कृत्रिम साहित्यिक भाषा है– संस्कृत एवं जावा–बाली की स्थानीय भाषा– मलय के मिश्रण से बनी। इस भाषा की लिपि भी जानी लिपि है जो भारत की पल्लवलिपि से प्रभावित है।

मैंने अपने बालीद्वीपीय प्रवास में इस ग्रन्थ का देवनागरी लिप्यन्तरण किया। पहले तो यह ग्रंथ अपठनीय लिपि तथा अज्ञात अभिप्राय के कारण– उभय या हमारी पहुँच से बाहर का था। यद्यपि श्लोकों में अनेक शब्द संस्कृत के थे, तथापि लिपि का ज्ञान न होने के कारण हमें उनका परिचय प्राप्त नहीं था। परन्तु, अब देवनागरी लिपि में अन्तरण हो जाने के कारण वे श्लोक तो पूर्णतः सुवाच्य बन ही गये, संस्कृत शब्दों के परिचयवश अर्थबोध की सरल हो गया। इसका एकसरीक उदाहरण दे रहा है। महाकवि यदि अपने महाकाव्य (रावणवधम्) में शरदऋतु का वर्णन करते हुए एकावली अंलकार से युक्त एक रमणीय पद्य लिखते हैं–

न तजनल पत्र सुचारूपङ्कजं

न पङ्कजं तद्यतलीनषट्पदम् ।

न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्जयः कलं

न गुञ्जितं तन्त्र जहार यन्मनः।।

यवद्वीपीय कवि योगीश्वर ने भी, इसी अलंकार के प्रयोग के साथ, कविभाषा में पद्य रचना की–

सक्वेह् निकङ् तलग तन्हन तन् पतुञ्जुङ्

तुञ्जुङ्न्य तन्हन कुरङ् पदमेसि कुम्बङ।

कुम्बङन्य कख मुनि तन्हन तन् पशब्द

शब्दन्य कर्णसुक तन्हन तन् मनोज्ञ।।

जावी भाषा के श्लोक में प्रयुक्त तलग (तड़ाग) मुन, शब्द, कर्णसुक (कर्णसुख) तथा मनोज्ञ शब्द विशुद्ध संस्कृत शब्द हैं। इस प्रकार, देवनागरी लिप्यन्तरण मात्र से जावीभाषा का यह श्लोक प्रायः बोध गम्य हो जाता है। वस्तुतः भारत की भी समस्त प्रान्तीय भाषों यदि एक ही लिपि (देवनागरी) में लिखी जाँच तो भाषिक अपरिचय प्रायः समाप्त हो सकता है।

	देवनागरी	**Roman**
1.	धर्मक्षेत्र कुरूक्षेत्र	dharma–ksetre kuruksetre
	समवेता युयुत्सवाः।	samveta yuyutsavah
	मामकाः पाण्डवाश्चैव	mamakah pandavas caiva
	किमकुर्वत सञ्जय।।	kim akurvata sanjaya

2. न खलु न खलु वाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्

मृदुनि मृगशरीरे तुलराशाविवाग्निः।

क्व बत हरिणकानां जीवनं चातिलोलम्

क्व च निशितनिपाता वज्रसारा शरास्ते।।

na Khalu na Khalu vanah sannipatyo yamasmin

mrduni mrgasarire tularasavivagnih

kuva pata harinakanam jevanam catilolam

kva ca nisitanipata vajrasara saraste.

3. क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।

तितीषुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ।।

kva suryaprabhavo vamsah kva calpavisaya matih

titirsurdustaram mohadudupenasmi sagaram

4. सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ।।

Sarve bhavantu sukhinah sarve santu niramayah

sarve bhadrani pasyantu ma kascid dukhamapnuyat

5. ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्चित् जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्त न भुजीथा मागृध कस्यस्विद् धनम् ।।

Isavasyam idam sarvam yat kincit jagatyam jagat

tena tyaktena bhumjitha ma grdha kasyasvid dhanam

6. अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।

तत एव भुयस्तमो ये च विद्यायां रताः।।

andham tamah pravisanti ye avidhyam upsate

tata eva bhuyas tamo ye ca vidyayam ratah

7. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। जन्माद्यस्य यतः। शास्त्रयोनित्वात् । तत्तु

समन्वयात् । ईक्षतेर्नाशब्दम् । गौणश्चेन्नात्मशब्दात् । तन्निष्ठस्य

मोक्षोपदेशात् हेयत्वावचनात्व। स्याप्ययात् । गतिसामान्यात् ।

श्रु त्वाच्च। आनन्दमयोऽभ्यासात् । 1–12

athato brahma jijnasa. janmadyasya yatah, sastrayonitvat.

tattu samanvayat. iksaternasabdam. gaunas cen

natma–sabdat. tan–nisthasya moksopadesat heyatvava

canacca svapyayat gatisamanyat. srutatvacca

anadamayo bhyasat. (1–12)

8. ॐ आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथ्वी पूता पुनातु माम् ।

पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर ब्रह्मपूता पुनातु माम् ।

यदुच्छिष्टमभोज्यञ्च यद्वा दुश्चरितं मम।

सर्वं पुनन्तु मामापो असतां च परिग्रहम् , स्वाहा।।

om, apah punantu prthivim prthivi puta punatu mam

punantu brahmanspatir brahmaputa punatu mam

yaducchistam abhojyanca yadava duscaritam mama

sarvam punantu mamapo asatam caparigraham, svaha.

९. ऊँ आपो हिष्ठा मयोभुवः। ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे। यो वः शिवतमो रसः। तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः। तस्मा अरं गमाम वः। यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः स्वाहा।।

om apo hi stha mayobhuvah ta na urje dadhatana. mahe ranaya caksase. yo vah sivatamo rasah tasya bhajayateha nah usatiriva matarah. tasma aram gamama vah. yasya ksayaya jinvatha. apo janayatha ca nah, svaha.

पाण्डुलिपियों की सुरक्षा के उपायों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं– पारम्परिक तथा वैज्ञानिक (अथवा यान्त्रिक)

पारम्परिक उपायों में वे साधन या विधियाँ आती हैं जिनकी सहायता से प्राचीनकाल में पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित रखी जाती थी, वस्तुतः इन साधनों का उपयोग पाण्डुलिपि–लेखन से ही प्रारंभ हो जाता था। उदाहरणार्थ स्याही में ही इस प्रकार के औषधीय गुण युक्त पदार्थ पिलाये जाते थे जो स्वभावतः कीटनाशक होते थे। इस प्रकार की स्याही से लिखी गई पाण्डुलिपियों में कीटों का भय अत्यन्त अथवा पूर्णरूपेण नहीं ही होता था। स्याही के अनन्तर लेखनाधार का स्थान आता है। पाण्डुलिपियाँ ऐसे आधार (पेपीरस, भोजपत्र अथवा कागज) पर लिखी जाती थीं जिनके निर्माण में भी कीटनाशकों का उपयोग होता है। हल्दी, नौसादर, कपूर तथा तूतिया आदि कितनी ही ऐसी औषधियाँ थीं जो कीटनाशक में समर्थ थीं और इन्हें किसी न किसी रूप में लेखनाधार के निर्माण में शामिल कर लिया जाता था।

पाण्डुलिपियों की रक्षा के कुछ अवान्तर उपाय भी थे– जैसे पाण्डुलिपियों को काष्ठ पट्टिकाओं के बीच में रखना। ऐसा करने से आर्द्रता या सीलन का प्रवेश पाण्डुलिपियों में नहीं हो पाता था। दूसरा उपाय का पाण्डुलिपि को सूखे कपड़े में बाँधकर रखना। आमतौर पर इन्हें लालरंग के वस्त्र (तून) में कई बार लपेट कर बाँधा जाता था जिससे बाह्य आर्द्रता, कीटों तथा चूहों आदि के प्रभाव से, एक सीमा तक बचे रहें।

इन्हीं अवान्तर उपायों में पाण्डुलिपियों की अवसरोचित देखरेख भी शामिल है। भारतीय गाँवों में आज भी परम्परा है वर्षा ऋतु में घर के वस्त्रों, विस्तरों तथा लिहाफ आदि को समय–समय पर धूप दिखाते रहना ताकि उनमें कीटादि का दुष्प्रभाव प्रभावी न हो सके। इसी प्रकार गाँव–गिराँव के पुरोहित पण्डित अथवा वैयक्तिक ग्रंथागारों के स्वामी भी ग्रंथों तथा पाण्डुलिपियों को समय–समय पर धूप में रखते थे ताकि उनमें आई रही–सही आर्द्रता समाप्त हो जाय। धूप दिखाने की प्रक्रिया का प्रभाव पाण्डुलिपियों पर दुहरा होता था– एक तो पहले से विद्यमान आर्द्रता अथवा उत्पन्न कीटों का नाश। दूसरा आगे की उस प्रकार की संभावना का न रह जाना। एक बार शुष्क एवं निष्कीट हुई पाण्डुलिपि चिरकाल के लिये सुरक्षित बन जाती थी। अवान्तर उपायों का तीसरा विन्दु है– पाण्डुलिपि रखने का स्थान पाण्डुलिपियाँ ऐसे कक्ष में व्यवस्थित की जाती थीं जिनमें खिड़कियों के मार्ग से भरपूर सूर्य का प्रकाश एवं ऊष्मा आती हो तथा कक्ष पूर्णतः हवादार हो। कक्ष को किसी भी प्रकार तालाब अथवा अन्य किसी भी जलस्रोत से सटा नहीं होना चाहिये कि खिड़की खोलने पर, तालाब की ठंडी हवायें कक्ष में प्रविष्ट हों। प्रायः तेज हवायें तालाब अथवा नदी की लहरों का स्पर्श करतीं, उनकी फुहारों को भी अपने भीतर समेट लेती हैं। इस प्रकार जलसीकारों से मुक्त हवाओं की आर्द्रता (गीलापन) पहले सी अधिक हो जाता है। इस प्रकार जलाशय अथवा अग्नि का सम्पर्क वायु के गुण को बदल देता है। इसका अनुभव हम स्वयं कर सकते हैं किसी नदी, सरोवर, सागर अथवा जलती चिता के पास खड़े होकर।

शीतल हवाओं से विकार कैसे पैदा होता है इसका एक अत्यन्त विलक्षण वर्णन महाकवि कालिदास ने उत्तरमेघ में किया है। वह लिखते हैं कि वायु के द्वारा प्रेरित बादल, अलकापुरी के गगनचुम्बी भवनों के ऊपरी कक्षों में वातायन–ऊर्जा से प्रविष्ट हो जाते हैं तथा अपनी आर्द्रता से कक्ष की दीवारों पर बने चित्रों को विकृत कर देते हैं। और फिर उन्हीं खिड़कियों से निकल भागते हैं बाहर भयभीत होकर, जैसे कोई अपराधी चोर, खिड़की फलाद कर, घर से बाहर भागता है–

नेत्रा नीताः सततगतिना यद् विमानाग्रभूमी

रालेख्यानां सलिलकणिकादोषमुत्पाद्य संघः।

शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै–

र्धूमोदगारा ऽनुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति।।

इस प्रकार, पाण्डुलिपियों के रक्षणार्थ विशिष्ट कोटिक भवन का होना अनिवार्य है। पाण्डुलिपि ऐसे कक्ष में कत्तई नहीं होनी चाहिये जिसमें निरन्तर अन्धकार रहता हो (कीड़े–मकोड़े, छिपकली, चूहे आदि स्वभावतः अन्धकार के प्रेमी तथा प्रकाश से भयभीत होते हैं। (2) जो समतल जमीन से नीचे हो अथवा जिसके पार्श्वभाग में ऊँची चार दीवारी हो (3) तथा जिससे प्रकाश न आता हो किसी दिशा से, या फिर वायु की संक्रान्ति न होती हो।

पाण्डुलिपियों की सुरक्षा के ये देसी उपाय कहे जा सकते है, जो किसी भी प्रकार, आज के तथाकथित वैज्ञानिक उपायों से कम प्रभावी नहीं थे। वस्तुतः विज्ञान के नाम पर प्रचलित औषधियों में भी प्रायः वही सारी वस्तुं शामिल हैं

जो गाँव–गिराँव के प्रयुक्त होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे नीम की पत्तियों को उबालकर जल से नहाना अथवा नीम साबुन लगाकर नहाना। बात तो एक ही हुई। हमारे बचपन में प्रायः वर्षा एवं शीत में समय–समय पर नीम की डालियों–पत्तियों को जलाकर धुआँ किया जाता था। फलतः अगले दस–पन्द्रह दिन तक घर के आस–पास मच्छरों का नामोनिशान तक नहीं रह जाता था। कपड़ों की सन्दूक में भी नीम की पत्तियाँ रखी जाती थीं और वस्त्रादि उसके प्रभाव से पूर्णतः कीटमुक्त रहते थे।

दूसरा उपाय है पाण्डुलिपि सुरक्षा का आधुनिक यन्त्र। आज यन्त्रों के माध्यम से हम कुछ ही क्षणों में पूरी पाण्डुलिपि की फोटोप्रति बनाकर, उस चिरकाल के लिये सुरक्षित कर सकते हैं। पाण्डुलिपियों को लैमिनेशन विधि से सुरक्षित किया जा सकता है। लैमिनेशन वह प्रक्रिया है जिससे पाण्डुलिपि को ऊपर तथा नीचे – दोनों और प्लास्टिक से भर दिया जाता है। इस प्रकार प्लास्टिक मढ़ा कागज, साधारण कागज की तुलना में कई गुना अधिक सुरक्षित हो जाता है क्योंकि इस पर कीटादि का प्रभाव नहीं पड़ता है।

इसी प्रकार, ई–मेल, वेबसाइट तथा इण्टरनेट डॉट कॉम आदि आधुनिक यान्त्रिक पद्धतियों सेमी पाण्डुलिपियों को अनन्तकाल के लिये सुरक्षित रखा जा सकता है, उन्हें सम्पूर्ण विश्व में प्रचारित–प्रसारित किया जा सकता है।

इकाई—6

सम्पादन प्रक्रिया

सम्पादन—पाठालोचन का पर्यायत्व

वस्तुतः सम्पादन एवं पाठालोचन एकार्थक हैं। पाठालोचन अप्रकाशित पाण्डुलिपियों का होता है। क्योंकि राष्ट्र के विभिन्न स्थानों से प्राप्त पाण्डुलिपियों में विभिन्न पाठों तथा अशुद्धियों की संभावना होती है। अतः पाठों का आलोचन कर सर्वशुद्ध रूप निर्धारण ही उनका सम्पादन है।

पाठालोचन का अर्थ है एक ही ग्रंथ की अनेक पाण्डुलिपियों में लिखित पाठों की तुलनात्मक समीक्षा करके सर्वशुद्ध पाठ का निर्धारण करना। इस प्रक्रिया को कुछ मानक सिद्धान्तों के अनुसार सम्पन्न किया जाता है। परन्तु प्रक्रिया को सम्पन्न करने में अर्थात् उसके प्रयोग में अनेक समस्यों भी उठ खड़ी होती हैं, अनेक विघ्न—प्रत्यवाय भी उत्पन्न हो जाते हैं। इन समस्त तथ्यों की छान—बीन प्रस्तुत अध्याय में की जा रही है।

वस्तुतः पाण्डुलिपियों के पाठालोचन को कई प्रकल्पों में व्यवस्थित किया जा सकता है जो परस्पर सम्बद्ध हैं। इनमें से किसी भी प्रकल्प को दूसरे से, एकदम अलग कर नहीं देखा जा सकता। वे इस प्रकार हैं—

(1) पाठालोचन के विविध सिद्धान्त।

(2) पाठदोष—प्रकार एवं कारण।

(3) पाठदोष—सुधार एवं शुद्धपाठ निर्धारण

(4) वंशवृक्ष–निर्माण

(5) पाठालोचन माध्यम से सम्पादित प्रमुख संस्कृत ग्रंथों का परिचय

पाठालोचन के विविध सिद्धान्त

किसी भी ग्रंथ की पाण्डुलिपि, अपने प्रारंभिक चरण में एकमात्र (अकेली) होती है। चाहे वह स्वयं रचनाकार द्वारा बनाई गई हो अथवा उसके निर्देशन–संरक्षण में, उसके किसी सहायक द्वारा बनाई गई हो। जब कोई ग्रंथकार अपनी कृति की पाण्डुलिपि स्वयं बनाता है तो उसकी दो स्थितियाँ होनी संभव हैं– या तो वह पाण्डुलिपि आद्यन्त निर्दोष होगी, अनवद्य होगी, सर्वशुद्ध होगी। या फिर यदि उसमें कही दोष भी होंगे तो वे या तो प्रमादजन्य होंगे अथवा अज्ञानजन्य इस प्रमाद अथवा अज्ञान का जिम्मेदार ग्रंथकार स्वयं माना जायेगा।

परन्तु पाण्डुलिपि में दोषों की संख्या भूयसी तब होनी संभव है जब वह किसी अन्य व्यक्ति (ग्रंथकारेतर) द्वारा बनाई जाय। संभव है कि महाभारत–लेखन को ही पद्धति पर स्वयं ग्रंथकार बोल रहा हो तथा उसका कोई सहायक, गणेश की तरह उसे लिख रहा हो। इस प्रक्रिया में, चूँकि ग्रंथकार और लिपिकार का भाषाज्ञान समान होना असंभव है, दोषों की संभावना बढ़ जाती है। कभी–कभी अपश्रुति के कारण भी लिपिकार गल्ती कर सकता है। ग्रंथकार ने बोला 'रसेन' और लिपिकार ने लिखा वशेन। ग्रंथकार ने बोला 'भाषितम्' और ग्रंथकार ने लिख लिया शासितम्

पाण्डुलिपि–निर्माता का ज्ञान भी मूलग्रंथकार जैसा नहीं हो सकता है अतः व्याकरणज्ञान के अभाव से भी वह गल्तियाँ कर सकता है। इसी व्याकरण को लक्ष्य कर किसी सुभाषितकार ने एक व्यङ्ग्योक्ति लिखी है–

यद्यपि बहु नाधीषे पठ पुत्र तथापि व्याकरणम् ।

स्वजनः श्वजनो मा भूत्सकलः शकलः सकृच्छकृत् ॥

मैं जानता हूँ बेटे तुम बहुत नहीं पढ़ोगे। फिर भी (कम से कम) व्याकरण तो पढ़ लो। ताकि स्वजन (भाई–बन्धु) को श्वजन (कुत्ता) सकल (पूर्ण) को शकल (खण्ड, टुकड़ा) तथा सकृत् (एक बार) को शकृत् (विष्ठा, मल) तो न कह सको।

अद्भुत सुभाषित है यह जिसे व्याकरण का ज्ञान नहीं, वह ये सारे प्रज्ञापराध सरलता से कर सकता है। परन्तु यही सारी गल्तियाँ एक पाण्डुलिपि–निर्माता भी कर सकता है यदि दूसरे ग्रंथकार द्वारा बोले गये स्वजन, सकल तथा सकृत् को उसने या तो जाना नहीं, या फिर उसे गलत सुना। दन्त्य स एवं तालव्य श का भेद कितना बड़ा भाषिक अमंगल पैदा कर सकता है, यह उपर्युक्त सुभाषित से सुस्पष्ट है।

पाण्डुलिपि–निर्माण के सन्दर्भ में अभी मात्र ग्रंथकार (स्वयं) अथवा ग्रंथकार एवं उसके सहायक (लिपिकार) की चर्चा की गई। अब अगला चरण है उन पाण्डुलिपियों का जो किसी पाण्डुलिपि को देखकर बनाई जाती हैं। यहाँ बोलने वाला ग्रंथकार स्वयं नहीं होता, होती है मात्र उसकी स्वयं की निर्मित की गई अथवा बोलकर उसके द्वारा लिखवाई गई पाण्डुलिपि और अब इसी एक

पाण्डुलिपि से अन्य लिपिकार अपनी–अपनी पाण्डुलिपियाँ बना रहे हैं।

कल्पना करें कि ऐसी किसी एक पाण्डुलिपि को सामने रखकर तीन लिपिकार तीन पृथक पाण्डुलिपियाँ बना रहे हैं तो क्या होगा? तीनों लिपिकारों का भाषाज्ञान, अवधान, निष्ठा, प्रतिभा, त्रुटिविषयक सतर्कता–सब पृथक कोटि की है। कोई त्रुटि हो जाने को कुछ भी महत्त्व नहीं देता, परन्तु कोई एक भी त्रुटि होने पर पश्चाताप में डूब जाता है अथवा मरणान्तक कष्ट का अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि एक ही पाण्डुलिपि की तीन प्रतिकृतियाँ, तीन प्रकार की बनेंगी। नाना प्रकार की भिन्नतायें इन तीनों प्रतिकूल पाण्डुलिपियों में आनी संभव है। उनमें शब्द–पद दोष होगा, मात्रा दोष होगा, विरामादि चिन्हों को लगाने या न लगाने का दोष होगा, संख्याविषयक दोष होगा, कालनिर्धारण–सम्बन्धी दोष होगा।

वस्तुतः पाण्डुलिपि का दोष लिपिकार–मूलक होता है। यदि लिपिकार भाषापारंगत है, पण्डित एवं विद्वान् है, पाण्डुलिपिलेखन का अनुभवी है तो उसकी पाण्डुलिपि भी निर्दोष एवं सर्वशुद्ध होगी। अन्यथा पाण्डुलिपि का अशुद्ध, भ्रामक अथवा भ्रष्ट होना स्वाभाविक है।

पाण्डुलिपियों में विद्यमान यही विविधप्रकार के दोष, जिनकी विस्तृत पर समीक्षा अभी आगे की जायेगी, पाठालोचन की अपेक्षा, आवश्यकता एवं औचित्य को सिद्ध करते हैं। यदि आप किसी प्राचीन किञ्च, अप्रकाशित पाण्डुलिपि को प्रकाशित कर रहे हैं तो उसका सम्पादन करने से पूर्व पाठालोचन

करना ही पड़ेगा। पाठालोचन का अर्थ ही है सन्दर्भित पाण्डुलिपि की एकमात्र अथवा अनेक पाण्डुलिपियों के पाठों की प्रतिपद समीक्षा कर शुद्धपाठ का निर्धारण करना जो ग्रंथकार की मूलभावना को पुष्ट करता हो।

पाठालोचन की प्रक्रिया भारतवर्ष में संभवतः विश्व के अन्यान्य राष्ट्रों की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन है। यह तो सभी विद्वानों को ज्ञात है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि (ई.पू. दूसरी शती) के जीवनकाल में भी वेदों की अनेकशाखायें उपलब्ध थीं। स्वयं महर्षि पतञ्जलि ने ऋग्वेद की इक्कीस, यजुर्वेद की सौ सामवेद की एकहजार तथा अथर्ववेद की नौ शाखाओं (अर्थात् कुल 1130 अथवा 1131) का उल्लेख किया है।[1] इनमें प्रत्येक शाखा का अपना–अपना पृथक आरण्यक, उपनिषद, सूत्रग्रंथ, शिक्षाग्रंथ (प्रतिशाख्य) होता था। परन्तु यह सुव्यवस्थित सागरविस्तीर्ण वैदिक ज्ञानराशि धीरे–धीरे कालकवलित हो गई। हृदयहीन विदेशी आक्रमणों ने इस विपुल ज्ञानराशि को जला कर खाक कर दिया। आज किसी वेदशाखा का आरण्यक नहीं मिलता। किसी वेदशाखा का श्रौतसूत्र मिलता है तो किसी का धर्मसूत्र तो किसी का गृह्यसूत्र। किसी शाखा का प्रातिशाख्य मिलता है तो उसी का और कुछ भी नहीं मिलता।

उपर्युल्लिखित विपुल एवं पुष्कल वैदिक–वाङ्मय अब मात्र कल्पना का विषय रह गया है। पतञ्जलियुग के अनन्तर, पिछले दो हजार वर्षों में हम सचमुच, ज्ञान वैपुल्य की दृष्टि से दरिद्र एवं अकिञ्चन हो गये हैं।

---

[1] एकविंशतिर्बहवृचम् । एकशतमर्ध्वर्यवः। सहस्रवर्त्मा सामवेदः। नवधाऽथर्वणः।
कुछ लोग ‘एकशतम्’ का अर्थ एक सौ एक भी करते हैं। तब यजुर्वेद की 101 शाखायें मान्य होंगी।

प्रस्तुत स्थल पर मैं विद्वानों का ध्यान प्रातिशाख्यों की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ क्योंकि प्रातिशाख्य ही आधुनिक पाठालोचन के जनक माने जा सकते हैं। वस्तुतः जो त्रुटियाँ पाण्डुलिपियों के निर्माण में लिपिकारों से होनी संभव थीं, वहीं त्रुटियाँ गुरुमुख से वेदों के प्रवचन सुनने तथा ग्रहण करने में शिष्यों से होती थीं। कभी–कभी यह त्रुटि नहीं भी होती थी तो प्रवचन सुनने वाले शिष्य का स्वेच्छया किया गया परिवर्तन होता था। यह परिवर्तन अथवा मूलप्रवचन से शिष्य द्वारा गृहीत (तथा अपने शिष्यों को प्रोक्त) प्रवचन का भेद ही वेद की नई शाखा के जन्म लेने का कारण बन जाता था। भगवान् वेदव्यास ने अपने शिष्यों में महर्षि पैल को ऋग्वेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद, जैमिनि को सामवेद तथा सुमन्तु को अथर्ववेद का ज्ञान प्रदान किया।

महर्षि पैल ने ऋग्वेद का प्रवचन अपने पाँच शिष्यों–शाकल, बाष्कल, शिशिर आदि को किया। अब इन पाँचों शिष्यों ने गुरु से गृहीत ऋग्वेद में मनोऽनुकूल परिवर्तन किया। ये परिवर्तन अनेक प्रकार के थे। कहीं ऋचाओं की आनुपूर्वी का परिवर्तन तो कहीं वर्तनी का तो कहीं विनियोग का इन अनेकविध परिवर्तनों के कारण ही ऋग्वेद की एक शाखा पाँच शाखाओं में विभक्त हो गई। जब इन पाँच शिष्यों ने भी अपनी शाखाओं का प्रवचन अवान्तर शिष्यों को किया तो उनके भी मतभेदों के कारण शाखायें बढ़ीं और अन्ततः पतञ्जलि–युग तक इक्कीस हो गई।

शाखाओं के भेद क्यों और कैसे होते थे? इसका भी अत्यन्त रोचक विवरण प्रातिशाख्यों में उपलब्ध होता है। शाखाभेद का प्रथम कारण तो होता

था शब्दों की वर्तनी इसका एक उदाहरण है 'सरिट्ह' शब्द जो वेद की कई शाखाओं में भिन्न रूप में स्वीकृत है– सरिट्ह। सरिट्ड्ह। सरिट्ड्ढ्ह।

शाखाभेद का दूसरा कारण होता था एक ही मंत्र का पृथक विनियोग। एक ही मंत्र एक शाखा में राजन्य के सन्दर्भ में विनियुक्त है तो दूसरी शाखा में भ्रातृव्य के अर्थ में। उदाहरणार्थ–

राजन्यस्य वधाय।

भ्रातृव्यस्य वधाय।

शाखाभेद का तीसरा कारण होता था सूक्तों अथवा मंत्रों के पौर्वापर्य में परिवर्तन, जिसके उदाहरण वेदशाखाओं में प्रभूतमात्रा में मिलते हैं। इसी प्रकार विकृतियाँ (धनपाठ, जटापाठ, क्रमपाठ, मालापाठ आदि) सन्धियाँ तथा स्वरांकन पद्धति भी शाखाभेद का कारण बनती थी।

प्रातिशाख्य का अर्थ ही है–**शाखायां शाखायाम् इति प्रतिशाखम्-प्रतिशाखमस्यास्तीति प्रातिशाख्यम् ।** अर्थात् शाखा–शाखा में (वेद की प्रत्येक शाखा में) जो व्याप्त हो उसे प्रतिशाख तथा प्रतिशाख से सम्बद्ध शास्त्र (विद्याधिष्ठान) को प्रातिशाख्य कहा जायेगा। इस प्रकार, प्रातिशाख्य शब्द की व्युत्पत्तिपरक मीमांसा ही सिद्ध करती है कि यह मूलतः पागलोचन का शास्त्र था। अन्तर मात्र यह है कि पाण्डुलिपि का पाठालोचन लिखित–वाङ्मय से सम्बद्ध है जबकि प्रातिशाख्य मौखिक–वाङ्मय से सम्बद्ध थे। परन्तु प्रातिशाख्यों द्वारा पाठालोचन के ही विविध उद्देश्यों की पूर्ति की जाती थी।

उपर्युक्त व्याख्यान से यह स्पष्ट है कि भारत में पाठालोचन की प्रक्रिया गौतमबुद्ध के अवतरण से पूर्व ही अस्तित्त्व में आ चुकी थी। वही परम्परा आगे चल कर भाष्य, वार्तिक, टीका, पञ्जिका, फक्किका, टिप्पणी तथा क्रोडपत्रादि के माध्यम से परिपुष्ट हुई। इन सबकी विस्तृत समीक्षा 'ग्रंथसम्पादन' शीर्षक तृतीय अध्याय में की जा चुकी है।

आधुनिक पाठालोचन के विद्वानों ने तीन प्रमुख सिद्धान्त स्वीकार किये हैं जो इस प्रकार हैं– 1. स्वैच्छिक पाठनिर्धारण–सिद्धान्त 2. तुलनात्मक पाठनिर्धारण–सिद्धान्त 3. शास्त्रीय पाठनिर्धारण–सिद्धान्त।

स्वैच्छिक पाठनिर्धारण–सिद्धान्त–

स्वैच्छिक पाठनिर्धारण का सिद्धान्त अत्यन्त भयावह, विषय तथा कदाचित् मूलग्रंथकार का भी अपलापक (झूठा सिद्ध कर देने वाला) हो सकता है क्योंकि यह सिद्धान्त पूर्वाग्रहस्तता की भूमि पर प्रतिष्ठित है। यह पाठालोचक के तानाशाही रवैये का भी समर्थन करता है। स्वेच्छा से पाठनिर्धारण करने का अर्थ है मूलग्रंथकार के स्थान पर स्वयं को प्रतिष्ठित (स्थानापन्न) कर पाण्डुलिपि में मनोऽनुकूल परिवर्तन करना, जो सर्वथा अनुचित एवं अभद्र कृत्य माना जायेगा। वस्तुतः स्वैच्छिक पाठनिर्धारण का अवसर दो स्थिति में प्राप्त होता है–

पाण्डुलिपि की एक ही प्रति उपलब्ध हो तथा पाठालोचकनकार उसका स्वेच्छया पाठालोचन कर रहा हो। ऐसी स्थिति में, अर्थात् पाण्डुलिपि की दूसरी किसी प्रति के अभाव में वह पाण्डुलिपि की व्याकरणात्मक अशुद्धियों को तो ठीक

करेगा ही, वह कोई शब्द, शब्दांश अथवा वाक्य, पसन्द न आने की स्थिति में, परिवर्तित भी कर सकता है और ठीक इसका उल्टा भी हो सकता है।

जहाँ तक व्याकरणात्मक दोषों को दूर करने का प्रश्न है अथवा पाण्डुलिपि की अन्यान्य कमियों (पृष्ठसंख्या, विरामचिन्ह तथा पुष्पिकादि–विषयक) को दूर करने का प्रश्न है– इसे कोई भी सहृदयपाठक बुरा नहीं मानेगा। परन्तु यदि पाठालोचक मूल ग्रंथकार द्वारा प्रयुक्त किसी शब्द को ही परिवर्तित कर देता है तो वह एक विवादास्पद प्रमेय बन सकता है। यदि वह परिवर्तन विध्यात्मक हुआ, सौन्दर्यशास्त्रीय अथवा साहित्यिक समालोचना की दृष्टि से पूर्वापेक्षया परतर हुआ तो उसे भी अच्छा ही माना जायेगा। परन्तु यदि वह परिवर्तन ही न गुण हुआ अथवा साम्प्रदायिक प्रतिबद्धता–जन्य हुआ तो निश्चय ही उसे पाठक स्वीकार नहीं करेंगे।

स्वैच्छिक परिवर्तन शास्त्रसम्मत तथा सर्वविधऔचित्य–सम्मत ही होना चाहिये, तभी वह प्रशंसनीय तथा ग्राह्य होगा। इसका एक रमणीय उदाहरण आचार्य कुन्तक प्रणीत वक्रोक्तिजीवितम् (ई.10वीं शती) में उपलब्ध होता है। महाकवि कालिदास–प्रणीत कुमारसम्भवम् के पंचम सर्ग का 71 वाँ श्लोक है–

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।

कला च सा चान्द्रमसी कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।।

यह प्रसंग वटुवेषधारी शिव द्वारा तपस्यारत उमा की प्रीति–परीक्षा का है। वटुवेषी शिव पार्वती से कहते हैं कि कपालमुण्ड–माला धारण करने वाले (अथवा भिक्षा–कपाल लेकर भीख माँगने वाले) शिव को प्राप्त करने की इच्छा वाली

दोनों ही सम्प्रति शोचनीयता को प्राप्त हो गई हैं (सहानुभूति का पात्र बन गई हैं) कौन दो? एक तो कलाधर चन्द्रमा की वह (द्वितीया की चन्द्र) कला और दूसरी तुम, जो इस लोक के नेत्रों की चन्द्रिका के समान हो।

यहाँ मूलश्लोक में कपालिनः का पाठान्तर मिलता है पिनाकिनः जिसका अर्थ होगा–पिनाक नामक धनुष को धारण करने वाला।

इस पाठान्तर में आचार्य कुन्तक कपालिनः पाठ को उत्तम एवं ग्राह्य मानते हैं क्योंकि चन्द्रकला तथा पार्वती की शोचनीयता का औचित्य शिव के कपालित्व से ही संगत होता है न कि पिनाकित्व से। वह औचित्य क्या हो सकता है? अब इसकी व्याख्या की जा रही है।

चन्द्रकला शैतल्य, सौभाग्य, सौन्दर्य एवं शुचिता का प्रतीक है। ऐसी चन्द्रकला यदि नरमुण्डों की माला धारण करने वाले शिव को मिली तो भला उसकी स्थिति अभिनन्द्य होगी? कहाँ चन्द्रकला और कहाँ नरमुण्ड–अमंगल, अपवित्रता तथा उद्वेग के जनक! इसलिये मुण्डों के बीच चन्द्रकला शोचनीय हुई।

पार्वती शोचनीय इसलिये हैं कि जो कपाली है अर्थात् भीख माँगने वाला है, वह तो अपना ही पेट नहीं भर पाता। पत्नी को भला क्या खिलायेगा? ऐसे याचक से विवाह करने वाली कन्या शोचनीय तो होगी ही।

यदि कपालिनः का अर्थ मुण्डमाल्यधारी भी किया जाय, तो भी पार्वती शोचनीय ही सिद्ध होती हैं। नववधू तो रूप–सौन्दर्य–सम्पन्न, छविधाम तथा वस्त्राभूषणालंकृत कान्त की कामना करती है। यदि ऐसी लावण्यप्रतिमा को पति नरमुण्डमाला पहनने वाला मिल गया तो भला वह शोचनीय नहीं होगी?

इस प्रकार, प्रत्येक सन्दर्भ में औचित्य मात्र कपालिनः पाठ का ही है। यदि पिनाकिनः पाठ स्वीकार किया जाय तो यह लोकोत्तराभिव्यक्ति अथवा चमत्कार नष्ट हो जाता है। क्योंकि पिनाकिनः कहने से शिव के महायोद्धा एवं रणविजयी स्वरूप का संकेत मिलता है। भला ऐसे शूरवीर, धनुर्धर पति को पाकर कोई पत्नी 'शोचनीय' क्यों होगी? शिव के पिनाकी होने से चन्द्रकला के भी शोचनीय होने का प्रश्न नहीं उठता।

निश्चय ही यह पाठान्तर स्वैच्छिक परिवर्तन का उदाहरण है। परन्तु यह परिवर्तन अत्यन्त संगत, सौन्दर्यशास्त्रीय मीमांसा के अनुकूल तथा सर्वविध औचित्य से मण्डित है। यदि यही कालिदास का मूलपाठ है तो क्या कहना? परन्तु यदि नहीं भी है तो यह मूलपाठ (पिनाकिनः) की तुलना में अधिक संगत है।

स्वैच्छिक पाठालोचन के सन्दर्भ में एक रोचक उदाहरण यूनानी समीक्षक जेनोडोटस (सिकन्दर महान् का परवर्ती) का है जिसे डॉ. सत्येन्द्र ने उद्धृत किया है। जेनोडोटस ने पाठालोचन के सिद्धान्त स्थिर किये थे–

(क) सम्पूर्णग्रंथ के सन्दर्भ में जो सामग्री विरूद्ध एवं अनावश्यक प्रतीत हो उसे निकाल दिया जाना चाहिये।

(ख) जो सामग्री कवि की प्रतिभा की तुलना में अवर (अयोग्य) प्रतीत हो उसे भी अस्वीकार कर देना चाहिये।

आत्मस्थापित इन पाठालोचन–सिद्धान्तों के आधार पर ही उसने होमर के काव्य में उपलब्ध लम्बे प्रघट्टकों को काट फेंका, अन्यों को स्वेच्छया परिवर्तित कर

दिया तथा इधर–उधर रख दिया। यह सब उसने इस स्वतंत्रता एवं स्वेच्छाचारिता से किया मानो उसकी अपनी ही कृति हो।

गम्भीर आलोचकों को जेनोडोटस् की इस प्रणाली से बड़ा धक्का लगा। वस्तुतः भारतीय वेद–संहिताओं की ही तरह होमर के ग्रंथ (ईलियड तथा ओडेसी) भी चिरकाल तथा मौखिक परम्परा से ही सुरक्षित रहे। पीजीस्ट्रेटस के समय में ही इन्हें प्रथमबार लिपिबद्ध किया गया। परन्तु इनके पाठालोचन का श्रीगणेश जेनोडोटस के युग में ही प्रारंभ हुआ।

जैसे काश्मीर–नरेश मातृगुप्त ने महाकवि भर्तृमेण्ठ की कृति हयग्रीववधम् के नीचे सुवर्णस्थाली स्थापित कर दी थी (कि कहीं इस महाकाव्य का रस निथर कर भूमिस्थ न हो जाय। उसी प्रकार सिकन्दर महान् होमर के ग्रंथ को एक राजसी सुन्दर पेटिका में स्थापित कर, सदैव अपने पास रखता था। इस राजकीय सम्मान के ही कारण होमर–काव्य की कितनी ही प्रतिलिपियाँ तैयार की गईं।

स्वैच्छिक पाठालोचन में विध्यात्मक परिवर्तन का एक रमणीय उदाहरण आचार्यभरत के नाट्यशास्त्र का है। षट्त्रिंशकम् के नाम से विख्यात आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र (ई.पू. चौथीशती) के छठें अध्याय में रस–प्रकरण आया है जिसके दो पाठ मिलाते हैं। एक पाठ में रसों की संख्या आठ मानी गई है जिसका समर्थन परवर्ती युग में आचार्य धनिक एवं धनञ्जय (11वीं शती ई.) ने किया। यह पाठ इस प्रकार है–

शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः।

बीभत्साद्भुतसंज्ञौचेत्यष्टौनाट्येरसाः स्मृताः।।–नाट्य. 6/16

इसी कारिका का पाठान्तर भी मिलता है जिसमें रस, आठ की बजाय नौ माने गये–शान्त को भी परिगणित करके–

सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः।–ना.अ.6

मम्मट ने कहा–

शृङ्गारहास्यकरूणरौद्रवीरभयानकाः।

बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नाट्ये नवरसाः स्मृताः।।

मात्र इसी एक कारिका के पाठान्तर ने संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में हलचल पैदा कर दी। प्रो. वी. राघवन् ने 'रसों की संख्या' नामक अपने प्रख्यात ग्रन्थ में सप्रमाण विवेचित किया है कि यह पाठान्तर आचार्य भरत के टीकाकार आचार्य उद्भट का हो सकता है। आचार्य उद्भट एवं वामन–दोनों ही काश्मीर–नरेश चिप्पट जयापीड़ की राजसभा में थे जिनका समय नवीं शती ई. है।

शार्ङ्गदेव ने अपने संगीतरत्नाकर में उद्भट को भरत के नाट्यशास्त्र के एक प्राचीन टीकाकार के रूप में स्मरण किया है। आचार्य उद्भट स्वयं काव्यालंकारसार संग्रह के लेखक हैं। जिस पर राजानक तिलक (आचार्य रूय्यक के पिता) प्रणीत उद्भटविवेक तथा प्रतिहारेन्दुराज–प्रणीत टीकायें उपलब्ध हैं।

इस सन्दर्भ में यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि उद्भटोत्तर–युग में संस्कृत समीक्षाशास्त्र में शान्तरस की सर्वोपरि प्रतिष्ठा हुई। स्वयं नाट्यशास्त्र के कालजयी टीकाकार (अभिनवभारती) आचार्य अभिनवगुप्त शान्तरस के प्रतिष्ठापकों में अग्रगण्य हैं। कालान्तर में वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने तो काव्यप्रकाश में

निर्वेदस्थायिभोवऽसौ शान्तोऽपि नवमो रसः कह कर शान्त रस को रसमीमांसा में सदा–सदा के लिये सु–स्थापित कर दिया। आचार्य अभिनव ने तो रामयण एवं महाभरत का भी अंगीरस शान्त ही माना, जिसका समर्थन बारहवीं शती में अभिनव के साहित्यान्तेवासी आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी किया–अपनी कृतियों रामायणमञ्जरी में।

इस प्रकार, नाट्यशास्त्र की रससंख्याविषयक कारिका में आचार्य उद्भट द्वारा किया गया परिवर्तन यद्यपि स्वैच्छिक ही था, तथापि यह परिवर्तन पूर्वापेक्षया अधिक लोकप्रिय, मान्य तथा हृदयंगम हुआ 'शान्तरस' की निर्विरोध स्वीकृति तथा अनुभवसिद्ध अस्तित्त्व के कारण।

इकाई–7

तुलनात्मक पाठनिर्धारण–सिद्धान्त

यह द्धिान्त उन सन्दर्भों में चरितार्थ होता है जब एक ही पाडुलिपि की कई प्रतियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। उस स्थिति में विद्वान् पाठालोचक सभी प्रतियों के **परिवर्तनीय अंश** की तुलनात्मक समीक्षा करता है तथा समस्त विकल्पों की गुणदोष–समीक्षा भी करता है। इसके अनन्तर उसे जो पाठान्तर सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है, उसे ग्रहण करता है।

यद्यपि तुलनात्मक पाठनिर्धारण में भी स्वेच्छा का ही प्राबल्य होता है। इसमें भी स्वतः प्रामाण्य ही बलवत्तर होता है। फिर भी एकल पाठनिर्धारण से तुलनात्मक पाठनिर्धारण में पाठालोचक की आत्मरक्षा (बचाव) का आधार बना रहता है। वह अन्यान्य विकल्पों की त्रुटियों, विसंगतियों तथा अन्य कमियों का निर्देश कर, स्वयं द्वारा स्वीकृत पाठान्तर का प्रशस्त पक्ष आलोचकों के सामने रख सकता है।

फिर भी हम इसे अन्तिम समाधान नहीं मान सकते। क्योंकि स्वेच्छा तो बस 'स्वेच्छा' है। पाठान्तरकार को जो विकल्प रूचेगा, वही उसे सर्वशुद्ध, स्तरीय तथा उपादेय प्रतीत होगा। हाँ, यदि पाठान्तरकार एक व्यक्ति न होकर, विद्वनों का एक दल हो तो निश्चय ही स्वीकृत पाठान्तर निर्विवाद रूप से सर्वोत्तम माना जा सकता है। क्योंकि वह पाठान्तर किसी एक व्यक्ति की इच्छा का पोषक न होकर सर्वसम्मत होगी।

भण्डारकर ओरियेण्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट पूना द्वारा तैयार किया गया महाभारत का संसकरण ऐसे ही विद्वन्मण्डल द्वारा अनुमोदित है। इसी प्रकार रामायण का भी सर्वसम्मत संस्करण तैयार कराया गया है बड़ौदा विश्वविद्यालय द्वारा।

तुलनात्मक पाठनिर्धरण के लिये पाण्डुलिपि की कम से कम दो प्रतियाँ होनी आवश्यक हैं, अन्यथा तुलनात्मक पाठ–निर्धारण असम्भव होगा। यदि प्रतियाँ दो नहीं, कई हैं तो भी पाठान्तरकार महत्त्व तो देता है अपनी रुचि (स्वेछा) को ही, परन्तु।

1. द्रष्टव्य–

भोगा है नवयौवनेऽपि विपिले चीराम्बरो राघवः स्तत्राऽप्यस्य परेग दारहरणं क्लेशस्तदन्वेषणे। सम्प्राप्ताऽपि जनापवादरजसा व्यक्ता पुनर्जान की सर्व दुःखमयं तदस्तु भवतां श्लाहयो विवेकोदयः।। रामायणमञ्जरी

रत्नोदारचतुस्सम्रदरशनां भुक्तत्वा भ्रवं कौरवों

भग्नोरूः पतितस्य निष्परिजनो जीवन् वृकैर्मक्षितः।

गोपैर्विश्वजयी जितस्स विजयः कक्षैः क्षिता वृष्णाय

स्तस्मातसर्वप्रिंद विचार्य सुचिरं शान्त्यै मनोदीयताय,।।भारतञरी

उसी अपनी रुचि को नाना उपायों द्वारा हृद्य–अनवद्य सिद्ध करने का

प्रयत्न करता है। ऐसे सन्दर्भ में पाठान्तरकार की मनोवैज्ञानिक की तात्त्विक समीक्षा करते हुए डॉ. सत्येन्द्र ने लिखा है–

'ऐसे विद्वान् को कई ग्रंथ मिल गये तब भी पाठ–निर्धारण का उसका सिद्धान्त तो वही रहता है कि स्वेच्छया जिस पाठ को ठीक समझता है, उसे मूल में दे देता है। इस स्वेच्छया पाठनिर्धारण में उसकी नगरिमा का योगदान तो अवश्य रहता है– एक पाठ स्वेच्छया स्वीकार कर वह उसे ही प्रामाणिक घोषित करता है। इसकी प्रामणिकता सिद्ध करने के लिये वह कविविषयक अपने पाण्डित्य का सहारा लेता है और कवि की भाषा–सम्बन्धी विशेषताओं की भी दुहाई देता है। किन्तु यथार्थतः इस सम्पादन में, पाठ के निर्धारण में, वस्तुतः अपनी रुचि को ही महत्त्व देता है, फिर उसे ही कवि का वर्तृत्वमान कर, वह उसे सिद्ध करने के लिये, कवि के तत्सम्बन्धी वशिष्टय को सिद्ध करता है। अपनी इस प्रणाली की चर्चा वह भूमिका में कर देता है।

हाँ, ज उसे दो प्रतियों के पाठों में यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि किसमें ऐसा श्रेष्ठतम भाव है जो कवि को अपेक्षित रहा होगा, अथवा जब वह समझता है कि दोनों ही अथवा दोनों में से कोई भी पाठ कवि–सम्मत हो सकता है, क्योंकि उत्कृष्टता में उसे दोनों एक–दूसरे से कम नहीं लगते, तब वह एक पाठ के साथ दूसरा पाठ विकल्प में देता है। इसे वह पाठान्तर की तरह पाद–टिप्पणी के रूप में भी दे सकता है। पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ.2/45

पाठान्तर–समालोचक की मानसिक रूझान का यह अद्भुत मूल्यांकन है। मैं इसी सन्दर्भ में थोड़ा और जोड़ना चाहूँगा जो संस्कृत पाठालोचन के सन्दर्भ

में अधिक प्रासंगिक (relevant) है। संस्कृत पाठालोचक के मनोवैज्ञानिक धरातल में कहीं न कहीं यह भाव भी प्रबल रहता है कि मैं ऐसा कोई पाठविकल्प स्वीकार करूँ जो टीकाकारों ने भी विवेचित न किया हो, जो अज्ञातप्राय, कष्टसाध्य तथा वैदुषी के आटोप को स्थापित करने वाला हो।

और कभी–कभी इसी मिथ्या–अहंकार एवं प्रदर्शन–कातरता के लोभ में वह एक 'घटिया' किस्म के पाठान्तर को स्वीकार कर बैठता है।

शास्त्रीयपाठनिर्धारण–सिद्धान्त- 'शास्त्र' शब्द स्वयमेव आद्यन्त परिशुद्धि तथा निरवद्यता का पर्याय है क्योंकि शास्त्र का प्रतिपाद्य अनुभाव–सिद्ध तथा सर्वग्राह्य होता है। इसलिये सर्वशुद्ध अथवा सर्वसम्मत पाठनिधोरण–सिद्धान्त को मैं शास्त्रीय पाठनिर्धारण सिद्धान्त कह रहा मण्डित है, जैसा मत्स्यपुराण एवं गरूडपुराण में बताया गया है, तो निश्चित है कि पाण्डुलिपि में या तो अशुद्धियाँ, त्रुटियाँ या दोष आयेंगे ही नहीं, और यदि आये भी तो वे इक्के–दुक्के होंगे, मात्र प्रमादजन्य होंगे।

यदि प्रतिलिपिकार लेखन–परम्परा के मानकों का (मिलित पदावली, पंक्तिबद्धता, विरामचिन्ह–प्रयोग, पृष्ठंकन आदि) सावधानी से पालन करता है तो भी पाण्डुपिपि में पाठदोष नहीं के बराबर होंगे।

उपर्युक्त दोनो ही तथ्यों को हम प्रागवरोधोपाय (Precautionary measures) के रूप में ग्रहण कर सकते हैं जिसकी भावना यह है कि यदि कोई पाण्डुलिपि प्रतिलिपिकार इन–इन उपायों को अपनाता है तो भी पाठदोष नहीं होंगे।

परन्तु इसी के साथ समस्या का दूसरा पक्ष भी जुड़ा हुआ है जिसे हम **ग्राह्योपाय अथवा आश्रयणीयोपाय** measures कह सकते हैं। इसकी भावना यह है कि वे कौन–कौन उपाय हैं जिन्हें अपनाने से पाण्डुलिपि में पाठशुद्धि बनी रह सकती है अथवा अशुद्ध पाण्डुलिपियों से शुद्धपाठ का निर्धारण किया जा सकता है? मेरी दृष्टि में ऐसे ग्राह्य उपाय निम्न हो सकते हैं–

(क) तत्त्वपरक तुलनात्मक समीक्षा।

(ख) साङ्गोपाङ्ग (अखण्डात्मक) दृष्टि।

(ग) पूर्वाग्रहमुक्त निर्णयात्मक स्त्रोतों का उपयोग।

(घ) अनुवर्ती निर्णयात्मक स्त्रोतों का उपयोग।

(ङ) ग्रंथकार की मूलभावना का आकलन।

(क) तत्त्वपरक तुलनात्मक समीक्षा का तात्पर्य है किसी पाण्डुलिपि की उपलब्ध अनेक प्रतिलिपियों के पृथक् पाठों की ऐसी तुलना जो विश्वसीनय (Convincing) तथा प्रमाणसम्मत (Authentic) हो उदाहरणार्थ–आचार्य भारत प्रणीत नाट्यशास्त्र के पंचम अध्याय का 108वाँ श्लोक है–

जितं सोमेन वै राज्ञा शिवं गोब्राह्मणाय च।

नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो द्विजातिभ्यः शुभं तथा।।

नट्यशास्त्र की दो अन्य पाण्डुलिपियों में **सोमेन** के स्थान पर सामेन

पाठ मिलता है। सम्पादक पं. केदारनाथ साहित्यभूषण (आत्मज म.म. पाण्डित दुर्गाप्रसाद) ने निर्णयसागर संस्करण में **सोमेन** पाठ लिया है जो तात्त्विक तुल्नातमक समीक्षा का परिणाम है। इस तुलना में तत्त्व की बातें दो हैं–

एक तो यह कि सामन् शब्द व्यञ्जनान्त तथा क्लीब है। अतः इसक तृतीयान्त रूप **साम्रा** ही बनेगा, **सामेन** नहीं नहीं। इसलिये पाठ अशुद्ध है।

(2) दूसरी बात यह कि जितं सोमेन वै राज्ञा अंश में सोम के विशेषण रूप में जो राजन् शब्द प्रयुक्त है जिसमें कहा गया है– **सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।** यदि हम सोमेन राज्ञा जितम् न कह कर सामेन राज्ञा जितम् कहते हैं तो भी दोनों के बीच कोई संगति नहीं बैठती है।

इसलिये शुद्ध पाठ 'सोतेन' ही स्वीकरणीय है।

एक अन्य उदाहरण लें। निर्णयसागर संस्करण में ही उन्नीसवें अध्याय के दो श्लोक द्रष्टव्य हैं–

भविष्यति युगे प्रायो भविष्यन्त्यबुधा नराः।

ये चाऽपि हि भविष्यन्ति तेऽप्यल्पश्रुतबुद्धयः।

बुद्धयः कर्मशिल्पनि वैचक्षण्यं कलासु च।

सर्वाण्येतानि नश्यन्ति यदा लोकः प्रणश्यति।।

यह पाठ सम्पादक साहित्यभूष्ण के दारनाथ द्वारा स्वीकृत है। परन्तु काशीसंस्करण (पं. बलदेव उपाध्याय उपाध्याय एवं पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित, 1121 ई.) में इसका पाठान्तर इस प्रकार मिलता

है–

श्लोके (लोके) प्रणश्यति प्रायो भवन्त्यविबुधा नराः।

ये चापि हि भविष्यन्ति तेऽत्यल्पश्रुतबुद्धयः।।

बुद्धयः कर्म शल्यानि (शास्त्राणि) वैचक्षण्यं बलानि च।

सर्वाणि पुंसां यदा लोकः विना नाट्यं प्राणश्यति।।

मेरी दृष्टि में निर्णयसागर संस्करण द्वारा स्वीकृत पाठ सदोष है क्यों कि यह शीघ्रता में, अविवेक–पुरस्सर ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। यदि दोनों श्लोकों के कथ्य तथ्य की तात्त्विक तुलनात्मक समीक्षा की गई होती तो शायद ऐसा प्रमाद न होता। अब इसकी व्याख्या देखें।

निर्णय. पाठ में कहा जा रहा है– आगे आने वाले युग में प्रायः लोग मूर्ख होंगें। जो लोग भी होंगे वे अत्यल्प ज्ञान एवं बुद्धिवाले होंगे।

बुद्धि, कर्म कारीगरी तथा कलाचातुर्य–ये सब (स्वयं) नष्ट हो जाते हैं जब लोक (समाज) नष्ट हो जाता है।

काशीमुद्रित पाठ में कहा जा रहा है– जब लोक अर्थात् समाज नष्ट हो जाता है (अव्यवस्थित, अशान्त, अराजक हो जाता है) तो प्रायः लोग मूर्ख बनने लगते हैं। जो होते भी हैं वे अत्यल्प ज्ञान एवं बुद्धि वाले होते हैं।

बुद्धियाँ (प्रतिभायें) कर्म, शास्त्र, चातुर्य तथा बल–ये सब मुनष्यों के तभी तक सुरक्षित हैं जब तक समाज सुरक्षित है। नाट्य के अभाव में लोक (स्वयं) नष्ट हो जाता है।

इन दोनों पाठान्तरों में भाव–संगति के अनुसार काशीमुद्रीत पाठ उत्तम तथा गाह्य है क्योंकि यहाँ दोनों श्लोकों अन्योऽन्यारित तथ्य प्रस्तुत किया गया है। वह इस प्रकार कि–

(क) लोक के प्रणाष्ट होने पर जनता भी प्रायः मूढताग्रस्त हो जाती है (प्रथम श्लोक का तथ्य)।

(ख) बुद्धि, कर्म, शिल्पादि लोक के बिना और लोक नाट्य के बिना नाष्ट हो जाता है। द्वितीय श्लोक का तथ्य)।

परन्तु भावों की यह अन्तःसंगति निर्णयसागर पाठ में नहीं है क्योंकि यहाँ दोनों श्लोकों में दो पृथक् तथ्य प्रतिपादि है जिनमें कोई अन्तस्सम्बन्ध नहीं।

(क) आने वाले युग में लोग बुद्धिहीन होंगे, अत्यल्प ज्ञन एवं मेधा वाले होंगे।

(ख) बुद्धि, कर्म, शिल्पादि–ये सब नष्ट हो जाते हैं, जब लोक (स्वयं) नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार लोक की अन्विति (Continuity) के कारण काशीपाठ पाठनिर्धारणदृष्टया अधिक ग्राह्य है।

निष्कर्ष यह है कि पाठसुधार अथवा शुद्धपाठ–निर्धारण के लिये तुलनात्मक समीक्षा औपचारिक मात्र नहीं अपितु ततित्त्वक (Not formal but substantial) होनी चाहिये।

(ख) सांगोपांग (अखण्डात्मक) दृष्टि का तात्पर्य यह है कि पाठ–निर्धारण करते समय पाठालोचक की खण्डदृष्टि नहीं अपितु अखण्ड दृष्टि होने चाहिये। उसे किसी पाठ को स्वीकार करते समय यह देखना चाहिये कि पाण्डुलिपि/ग्रन्थ के अन्यान्य अंशों में भी उसका प्रयोग हुआ है या नहीं। यदि कोई पाठ (शब्दविशेष) उस पाडुलिपि में अनेकशः उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तो मानी बात है कि वह ग्रंथकार का अभीष्ट शब्द है। फिर तो तदितर पाठ हमें ग्रहण ही नहीं करना चाहिये। यदिहम सम्पूर्णता (Totality) की दृष्टि से विचार नहीं करेंगे तो एक ही समान सन्दर्भ के लिये भिन्न–भिन्न पाठ (शब्द) स्वीकार करते जायेंगें।

1. क्योंकि नाट्य लोक के ही पूर्ववृत्त का तो अनुचरित होत–

देवतानामृषीणाञ्च राज्ञां लोकस्य चैवहि।

पुर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद्भवेत्।। नाट्य.11/124

185 इसका सर्वोत्तम उदाहरण कालिदास–प्रणीत कुमारसम्मवम् का पिनाकिनः/कपालिनः पाठ ही है।

महाकवि ने पिनाकिनः का प्रयोग दो सन्दर्भों में किया है जो इस प्रकार है–

इयं महेन्द्रप्रभृतीन्यधिश्रिय श्चतुर्दिगीशनवमत्य मानिनी।

अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति।

–कुमार.5/53

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः।

कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।।

–कुमार.5/71

यदि मान लिया जाया कि श्लोक संख्या 5/71 में भी मूल पाठ पिनाकिनः ही है तो बड़ी असंगति उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि दोनों सन्दर्भ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न तथा विरोधी हैं। प्रथम श्लोक में पार्वती द्वारा **पिनाकपणि** (अर्थात् महाधनुर्धर, वीर) शिव को वररूप में प्राप्त करने का सन्दर्भ है। यहाँ पिनाकपाणि (पिनाकी) पाठ एकदम सन्दर्भानुकूल तथा औचित्यमणि है।

परन्तु दूसरा प्रसंग शिव की निन्दा का है और वह निन्दा 'पिनाकी' नहीं, अपितु **कपाली** (अमंगलमय, उद्वेजक, अपवित्र नरमुण्डमाल्य धारण करने वाला) शब्द के प्रयोग से ही संभव हो सकती है।

इस प्रकार, कपाली पाठ निर्धारित करने के लिये पूर्ववर्ती पिनाकीसन्र्भ को भी देखना आवश्यक है तभी अखण्ड दृष्टि का पोषण हो सकेगा।

(ग) **पूर्वाग्रहमुक्त विनिर्णय–**पाठ–निर्धारण करते समय हमारा निर्णय पूर्वाग्रह से मुक्त होनो चाहिये चाकिये अन्यथा हम 'स्वैच्छिकता' के दोषी बन जायेंगें। हमें एक तटस्थ द्रष्टा की तरह वैकल्पिक पाठों (Choices) के गुण–दोष,ग्राह्यता–आग्राह्यता का

विचार करना चाहिये। हमें यह भी सोचना चाहिये कि जिस पाठ को हम छोड़ रहे हैं अथवा जिस पाठ को हम ले रहे हैं–उन दोनों का शास्त्रीय, साहित्यिक, सौन्दर्यशास्त्रीय अथवा भाषाशास्त्रीय महत्त्व क्या है? कहीं ऐसा तो नहीं कि परित्यक्त पाठान्तर अधिक प्रभाविष्णु, सम्प्रेषणीयतासम्पन्न, अर्थप्रकाशनक्षम तथा व्यञ्जक है? हमें ध्यान रखना चाहिए कि–

(1). कोई पाठ हम मात्र इसलिये नहीं ले रहे हैं कि वह मेरी अपनी अभिरुचि का है।

(2). हम वह पाठ इसलिये नहीं ले रे हैं कि वह हमारी धार्मिक, साम्प्रदायिक अथवा कौटुम्बिक आस्था के अनुकूल है।

(3). हम वह पाठ मात्र इसलिये हनीं ले रहे हैं कि वह अन्यान्य पाठालोचकों द्वारा उपेक्षित अथवा त्यक्त है तथा उसे अपना कर हम औरों पर अपनी धौंस (आरोप) जमा सकेगे।

(4) हम वह पाठ मात्र इसलिये नहीं ले रहे हैं कि वह मेरे लिये 'बोधगम्य' है तथा वैकल्पिक पाठान्तर हमारी समझ के बाहर का है। और हम किसी अन्य विद्वान् से उस पाठ का अभिप्राय पूछ कर अपनी हेठी नहीं कराना चाहते। इस झूठी शान के कारण हम बोधगम्य (किन्तु अवरकोटिक) पाठ को ही लिये ले रहे हैं।

उदाहरणार्थ अभिज्ञानशाकुन्तलम् के नान्दीश्लोक में सर्वाभीष्ट पाठ है– **प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः (चतुर्थ चरण)**।

प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी ने भी यद्यपि प्रपन्नः पाठ ही स्वीकार किया है तथापि उन्होंने उसका पाठान्तर दिया है– प्रसन्नः, जो सर्वथा विचारणीय है। पूर्वगणित आठ रूपों (जल, अग्नि, यजमान, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी तथा वायु) अथवा मूर्तियों से प्रपन्न (संवलित) अथवा प्रसन्न (?) शिव आपकी रक्षा करें।

यह प्रसन्न का जो भी अर्थ लिया जाय (निर्मल अथवा आनन्दित) कोई भी उपयुक्त नहीं प्रतीत होता जितना कि प्रपन्न पाठ।

फिर भी यदि कोई 'प्रसन्न' पाठ ग्रहण करता है तो उसे पूर्वाग्रह ही माना जायेगा। (अनुवर्ती निर्णयात्मक स्रोतों का उपयोग–कई पाठान्तरों के बीच जब हम कोई पाठ चुनने को विव होते हैं तो हमें अनुवर्ती–स्रोतों का भी अवलम्बन लेना चाहिये। संस्कृत में अनुवर्ती स्रोतों की एक विलक्षण परम्परा प्राप्त होती है– भाष्य एवं टीका के रूप में। यदि एक ही ग्रंथ के दस टीकाकार हैं तो हमें देखना चाहिये कि उन दसों ने पाठविशेष का कौन विकल्प स्वीकार किया है? जो पाठ अधिसंख्य टीकाकारों ने हण किया हो 'आदर्शपाठनिर्धारण' में उसी को ग्रहण करना चाहिये।

इस सन्दर्भ में एक रोचक प्रसंग संस्कृत के शीर्षस्थ काव्यशास्त्रीय ग्रंथ ध्वन्यालोक का है जो आचार्य आनन्दवर्धन की कालजयी कृति है। ध्वन्यालोक ध्वनिप्रस्थान का आदिग्रंथ है जो प्रतीयमानार्थ को काव्यात्मा मानता है। इसके तीन भाग हैं– कारिका, वृत्ति (गद्यात्मक) तथा उदाहरण श्लोक। ग्रंथ का प्रारंभिक पद्य है–

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व–

स्तस्याऽभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।

केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयें

तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥

'काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा विद्वानों द्वारा जो पहले ही घोषित किया जा चुका है, कुछ लोगों ने उस (ध्वनि)' का अभाव बताया है, कुछ और लोगों ने उसे लक्षणा में अन्तर्भूत माना है, उनसे भी पृथक कुछ लोगों ने उस ध्वनि के तत्त्व को 'अनिर्वचनीय' कहा है। ऐसी स्थिति में मैं सहृदयों की मनः प्रीति के लिये उस (ध्वनि) का स्वरूप बता रहा हूँ।

'सहृदयमनः प्रीतये' के व्याख्यानार्थ आनन्दवर्धन वृत्ति में लिखते हैं– रामायण महाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दोमनसि लभतां प्रतिष्ठामिति।

यहाँ मूलपद्य एवं वृत्ति में सहृदय शब्द का प्रयोग देखकर कुछेक परवर्ती आचार्यों ने एक कल्पना कर डाली कि–

(1) मूलकारिकाओं की रचना किसी सहृदय नामक व्यक्ति ने की है।

(2) गद्यात्मक वृत्ति तथा उदाहरण श्लोकों का कर्त्ता–संकलयिता आनन्दवर्धन है।

'सहृदय' नामक किसी (काल्पनिक) व्यक्ति को कारिकाकार मानने वाले हैं– आचार्य मुकुलभट्ट (अभिधावृत्तिमातृका के लेखक) तथा उनके शिष्य प्रतीहारेन्दुराज (उद्भट के टीकाकार)।

परन्तु ये सारी कल्पनायें उपहासास्पद हैं क्योंकि परवर्ती अलंकारशास्त्री इसका समर्थन नहीं करते। कुछ महत्त्वपूर्ण विन्दु विचारणीय हैं–

(क) ध्वन्यालोक पर लोचनटीका लिखने वाले आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन के मंगलाचरणपद्य में लिखा–सरस्वत्यास्तत्वं कविसहृदयाख्यं विजयते। परन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि सहृदय का अर्थ कारिकाकार है।

इसका सीधा सा अर्थ यही है कि काव्य–सर्जना करने वाला कवि और काव्य का रसयिता सहृदय (जिसे सचेतस् , पाठक, बोद्धा अथवा दृश्यकाव्य में सामाजिक भी कहते हैं) ये सारस्वत–तत्त्व के दो समवेत रूप हैं।

यदि 'सहृदय' का अर्थ हम आनन्दवर्धनेतर मूलग्रंथकार (कारिकाकार) से लेते हैं तो क्या होगा? तब हमें–

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।

इस कारिका में भी सहृदयश्लाध्य अर्थ का अभिप्राय करना पड़ेगा–वह अर्थ जो कारिकाकार सहृदयद्वारा प्रशंसित है (वही काव्य की आत्मा है) भला यह भी कोई बात हुई? यह तो उपहासास्पद युक्ति होगी।

सहृदय–श्लाघ्य अर्थ का तात्पर्य है सहृदयों (सचेतस् पाठकों) द्वारा प्रंशसित अर्थ। वे सहृदय कौन हैं? कैसे है? अभिनवगुप्त बताते हैं–

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजस्सहृदयाः।

यदि सहदय का अर्थ किसी व्यक्ति–विशेष से होता तो लोचनकार भला 'सहृदय' पद की इस रूप में व्याख्या क्यों करते?

अन्तिम बात यह कि आनन्दवर्धन के बाद भी सहृदय शब्द विविध ग्रंथों में सैकड़ों बार प्रयुक्त हुआ है परन्तु किसी भी टीकाकार/व्याख्याकार ने उसकी व्याख्या ध्वन्यालोक के कारिकाकर के रूप में नहीं की है।

इस प्रकार अनुवर्ती निर्णयात्मक स्त्रोतों से मुकुल एवं प्रतीहारेन्दुराज की असत्कल्पना का समर्थन नहीं हो पाता है।

(ङ) ग्रंथकार की मूलभावना का आकलन– शुद्धपाठ का निर्धारण करते समय हमें ग्रंथकार की मूलभावना का भी आकलन करना चाहिये। इसका सर्वोत्तम उदाहरण है आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र का रस–प्रकरण। यह सभी को ज्ञात है कि रससंख्या के सन्दर्भ में नाट्यशास्त्र में दो पाठ मिलते हैं। एक पाठ आठ रसों और दूसरा नौ रसों की स्थापना करता है। आचार्य धनिक और धनज्जय आठ ही रसों को मानते हैं। नवें रस 'शान्त' को वे अस्वीकार करते हैं– **पुष्टिर्नैतस्य नाट्येषु कहकर।** परन्तु आचार्य अभिनवगुप्त एवं मम्मटादि समस्त परवर्ती आचार्य शान्त को नवाँ रस स्वीकार करते हैं– –'निर्वेदस्थायिभावोऽसौ शान्तोऽपि नवमो रसः।' कहकर।

प्रश्न यह है कि क्या शान्त रस को भी मान्यता देना समुचित है? एक ही आचार्य दो प्रकार के विरूद्ध तथ्य क्यों और कैसे प्रतिपादित कर सकता

है? यदि भरत आठ ही रस मानते है तो आचार्य अभिनव उन्हें नवाँ 'शान्त' मानने वाला किस आधार पर कहते हैं?

क्या भरत द्वारा शान्त रस की स्वीकृति उनकी मूलभावना के अनुकूल है? यदि आचार्य भरत भी शान्तरस की मान्यता के प्रति आस्थावान् हों तो माना जा सकता है कि नौ रसों वाली कारिका उनकी अपनी ही हो सकती है।

आचार्य अभिनव यही कहते हैं अपनी टीका अभिनवभारती में। उनका कहना है कि आचार्य भरत स्वयमेव शान्तरस को स्वीकार करते है। कैसे?

(ख) एवं नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः।

यह स्वयं 'निर्वेद' को प्रथम व्यभिचारी भाव के रूप में मान्यता प्रदान करते है तथा पूर्ण विस्तार एवं स्वास्थ्य के साथ उनकी व्याख्या करते हैं–

तत्र निर्वेदो नाम द्रारिद्र्यव्याध्यवमानाधिक्षेपाक्रुष्टक्रोधताडनेष्टजनवियोग–तत्त्वज्ञानादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। स्त्रीनीचकुसत्त्वानां रुदितनिः श्वसितोच्छ्व–

सितसंप्रधारणदिभिरनुभावैस्तमभिनयेत्।

अन्नानुवंश्ये आर्ये भवतः

इष्टजनस्य वियोगाद् द्रारिद्र्याद्व्यधितस्था दुःखात्।

ऋृद्धिं परस्य दृष्ट्वा निर्वेदो नाम सम्भवति।।

बाष्पपरिप्लुतनयनः पुनश्च निःश्वासदीनमुखनेत्रः।

योगीव ध्यानपरो भवति हि निर्वेदवान् पुरुषः।।–नाट्य. अ.7

आचार्य अभिनवगुप्त निर्वेदविषयक आचार्य भरत के इन्हीं गुरु–गम्भीर भावों को दृष्टि में रखते हुए शान्त को नवाँ रस मानते हैं जिनका स्थायीभाव 'निर्वेद' ही है। इस प्रकार शान्तरस आचार्य भरत की मूलभावना के अनुकूल ही है, प्रतिकूल नहीं।

इसी प्रकार 'काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्' को आचार्य भट्टनायक की मूलभावना मानते हुए, अभिनवगुप्त उन्हें 'रसध्वनि' का समर्थक सिद्ध करते हैं (भले ही हृदयदर्पणकार भट्टनायक स्वयं स्पष्ट शब्दों में रस की काव्यात्मा न मानते हो)।

वंशवृक्ष–निर्माण

वंशवृक्ष–निर्माण का सम्बन्ध पाठालोचन के दोनों पक्षों अर्थात् पाठदोष एवं शुद्ध पाठ–निर्धारण दोनों से है। जैसा कि पहले व्याख्यात किया जा चुका है पाण्डुलिपियों में अशुद्धि का क्रम उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इसलिए पाठ–दोषो की सांगोपांग समीक्षा करने के लिए उनका वंशवृक्ष बनाना आवश्यक हो जाता है ताकि उन पाण्डुलिपियों की आनुपूर्वी (एलिहम) निश्चित की जा सके।

जब एक ही पाण्डुलिपि की अनेक प्रतियाँ देश के विभिन्न भागों में उपलब्ध हों तब सब की साकल्येन समीक्षा कर उनका वंशवृक्ष 'क,ख,ग,घ' क्रम से तैयार करना चाहिये। यदि कई प्रतियों में अनेक त्रुटियाँ सर्वथा समान हों तो उन्हें एक वर्ग में रखा जा सकता है। अब हमें इन अशुद्ध प्रतियों की पूर्ववर्ती प्रति का पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिये। और इसी प्रकार

अन्ततः उस मूल प्रति का, जिससे अवान्तर प्रतियाँ तैयार की गई हैं।

पाण्डुलिपियों का वंशवृक्ष बन जाने से सर्वशुद्ध पाठनिर्धारण में पाठालोचक की बड़ी सुविधा हो जाती है। निर्णयसागरीय नाट्यशास्त्र संस्करण की भूमिका में केदारनाथ साहित्यभूषण ने विशदविवेचन किया है कि उन्होनें किन पाण्डुलिपियों के आधार पर अपना संस्करण तैयार किया है।